

RIVANDRUM SANSKRIT SERIES.

No. LI.

• THE
NÂMALINGÂNUSÂSANA
• OF
•
AMARASIMHA

With the two commentaries, Amarakosodghatana of

KSHÎRASVÂMIN

and Tîkasarvasva of

VANDYAGHATÎYA-SARVÂNANDA

EDITED BY

T. GANAPATI SÂSTRÎ

*Curator of the Department for the publication
of Sanskrit Manuscripts Trivandrum.*

Part III - 2nd Kanda, 7 - 10 Vargas.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJAH OF TRAVANCORE

TRIVANDRUM

PRINTED BY THE SUPERINTENDENT GOVERNMENT PRESS

1917

अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ५१.

श्रीमदमरसिंहविरचितं नामलिङ्गानुशासनं

क्षीरस्वामिप्रणीतया अमरकोशोद्धाटनाख्यया व्याख्यया
बन्धषटीयसर्वानन्दप्रणीतया टीकासर्वस्वाख्यया व्याख्यया च
समेतं

संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्याध्यक्षेण

त. गणपतिशास्त्रिणा

संशोधितम् ।

तृतीयः सम्पुटः— द्वितीयकाण्डे ७—१० सर्गाः ।

तच्च

अनन्तशयने

महामहिमश्रीमूलकरामवर्मकुलशेखरमहाराजशासनेन

राजकीयमुद्रणयन्त्रालये तदध्यक्षेण

मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

संस्कृत-ग्रन्थकर्तारः

द्वितीयं काण्डम् ।

II. refers to the second part and III. to the third part of this work.

| | |
|--------------------|---|
| आचार्याः | II. ३९. |
| इन्दुः | II. ७९, ८४, ८५, ८७, ८९, १०१, १०४, १११, ११३, १२०, १३१, १३७, १३९, १४१, १४२, १४६, १७१, १७६, १९०, १९८, २०७. - |
| उपाध्यायः | II. ६२, ३०६. III. १४९, १५५, २८२. |
| कश्मीराः | III. ११०. |
| कान्यः | II. १०, १९, ३६, ४९, ६०, ६६, ६७, २४५, २७४, २७६, ३४१. III. १२, १५, २९, ४८, ६६, १७२, १९६, २१०. |
| कालिदासः | II. २९१. |
| गौडः | II. ९०, ९४, ९७, १६२, १७३, २१६, २५०, ३५७. III. ९६, २२४. |
| गौडाः | II. ३९, ११२, १८१. III. १००. |
| गौतमः | III. ८. |
| चन्द्रः | II. ८४, ८९, ९२, ११४. III. १२, २६२. |
| चन्द्रनन्दनः | II. ११७, १२१, १४७, १५६, १७२. |
| चाणक्यः (कौटिल्यः) | II. १९, २३, ३३, ४१. III. ७०, १३२, २७०, २७३. |
| तान्त्रिकाः | III. १७८. |
| दुर्गः | II. ११५. III. १४०. |
| द्रमिडाः | II. २६५. III. १९१, २७२. |
| धन्वन्तरिः | II. ७४, ९२, १०५, १३२, १७९, १९१, १९३, २००, २०२, ३८०, ३८५. III. १८६, १९६, २३८, २४०, २४१. |

| | |
|-----------------|---|
| भारतम् | II. ३८९. III. ११८. |
| भाष्यम् | II. २९४. III. २२३. . |
| प्राला | II. १९, १९, ३५, ११०, १२८, १६३, २००, २२०, २२९. २७६. III. १०६, १७५, १८९, १९९, २०३, २०९, २११, २१७. २२६, २८२, २८३. |
| मेखला | II. १५४. . |
| वेचकम् | III. ६३. |
| सुखार्जम् | III. १८७. |
| स्यति: | II. २९१. III. २३९, २४८, २७७ |
| हरमेखलानिषण्डुः | II. १५०. |

द्वितीयः स्मृता ग्रन्थकर्तारः ।

द्वितीयं काण्डम् ।

| | |
|------|---|
| कनकः | II. ४, २४, ३५, ४२, ४७, ६०, ८४, ८८, १०९, ११२, १५५, २४७, २७५. III. ५३, ९३, १०३, १०५, ११०, १६९, २११. |
| कनकः | II. २३, २११, ३३६, ३४४. III. २१३, २७७. |
| कनकः | II. २५, २६. |
| कनकः | II. २३९. |
| कनकः | II. ३२२. |
| कनकः | II. ३३६. |
| कनकः | II. १९९. |
| कनकः | II. ३०७. |

| | |
|-------------------|---------------------------------------|
| कामन्दकः | III. ११७. |
| कालिदासः | II. १५, ११०, २४६, २६८, २९३, ३९१. |
| काश्मीरवल्लभदेवः | II. १३०. |
| गङ्गादेवः | II. ८७. |
| गोपदत्तः | II. ३२८. |
| गोवर्धनः | II. २७७, ३६८. III. २०, १७५. |
| घटकर्परः | II. २५०. |
| चन्द्रगोमी | II. ४७, ६४, ३३९. III. ४०. |
| चाणक्यः | II. २३. |
| चाणक्यटीकाकृत | II. २१४. III. २२५, २३१. |
| चान्द्राः | II. ४७, २१५, २७७, ३३७. III. १५९. |
| जयादित्यः | II. २७८. III. १३. |
| जातरूपः | II. १३४. |
| टीकाकृत | III. १५४, २८२. |
| तारपालः | II. १५, १०८, २१२, २४३. III. २३७, २६५. |
| दण्डी | III. १३९. |
| दामोदरः | II. १९७. |
| दुर्गसिंहः | II. ३०३. |
| देवेश्वरः | III. २०४. |
| धनञ्जयः | II. ३४१. |
| धर्मः | II. १३०. |
| न्यासकारः | III. १२६, २०६. |
| परिभाषावृत्तिकारः | III. १०९. |
| पुरुषोत्तमदेवः | II. ११५, २१५, २२१, २७७. III. २०. |
| प्राणेश्वरः | II. १५. |
| बळशर्मा | II. ३५०. |

| | |
|--------|---|
| सप्तः | II. २२५, ३०१. III. १९२, १९८, २३४. |
| अष्टः | II. ५०, ५४, १४३, २८९, ३०३, ३६६. |
| नवः | II. ११५, २३९. |
| दशः | II. २२७, ३३४. III. ८४, २३०. |
| अधिकाः | II. ३२५, ३६७, III. १०. |
| अधिकाः | II. ३०५. |
| अधिकाः | II. ३३, १०१, १०६. |
| अधिकाः | II. ९, ६९, २९७, ३१३, ३६५ III. ७, २६, २९, २२७. |
| अधिकाः | II. ५, २३, ३४, ५६, ६०, ६१, ६६, ६८, ६९, १००, २२६, २४१, ३४८, ३५४, ३६७, ३७१. III. ६०, ८६, ८८, ९५, ११६, १३९, २००. |
| अधिकाः | II. ८१, ९१. III. २३९, २४५, २८२. |
| अधिकाः | II. ३११. |
| अधिकाः | II. ३२८. |
| अधिकाः | II. ८९. |
| अधिकाः | II. ३११. III. ४०, १६५, २६६. |
| अधिकाः | II. १६, १७, २१, ३९, ६६, ७९, ८०, ८६, ८९, ९१, १००, १०५, १०८, ११५, ११६, १२०, १२३, १२४, १२९, १४५, १५४, १५५, १६२, १७२, १७४, १९७, २०९, २१८, २२४, २२७, २३८, २३०, २४१, २७४, २८५, २९८, ३००, ३०३, ३०७, ३१६, ३२३, ३२५, ३२७, ३३६, ३३७, ३४५, ३५७, ३६०, ३६४, ३७३, ३७४, ३८२, ३८४, ३८५, ३९७, ४०१, ४१, ४६, ९३, १३९, १५०, १६१, १६६, १७०, १७७, १८१, १८६, २०८, २३९, २४३, २४८. |

| | |
|---------------|--|
| राजशेखरः | II. ६३, ३१८. |
| रामदासः | II. ३, ४, २७, ३५२. |
| रुद्रः | ८, ३७, ८१, ८३, ११०, १२९, १५४, १६८, २१०, २६०, २९८, ३४७, ३७६, ३८०, ३८२, ३८५. III. ५, ७०, ८३, ८८, ९९, १६५, २२७, २४२. |
| वररुचिः | II. ६९, २९४, ३५१, ३६१, ३९१. III. १२५, २५७. |
| वराहः | II. ३२, २९३, ३६४, ३६५. |
| बल्लभः | II. २३, ३५०. |
| वसन्तराजः | II. ५५, ३५२. |
| वात्स्यायनः | II. २६४. |
| वामनः | II. १७, ४०, ६९. |
| वार्त्तिः | III. १९०. |
| वाहटः | II. ९९. |
| विक्रमादित्यः | II. २१७. |
| विदग्धाः | III. १७८. |
| विनीतकीर्तिः | III. १०२. |
| विभाकरवर्मा | II. २४१. |
| विशाखदत्तः | III. ९३. |
| विश्वरूपः | II. ४१. |
| वृष्काः (?) | III. १६०. |
| योगजित् | II. ३६, ४३, २२६, २३०, २४९, २९६, ३२३, ३४८. III. ५२, ५३, ८७, १०६, १४१, १४२, १५३, १५९, १७६, १८१, २२२, २२५, २२७, ५०, ६६, १२७, २३०, २५२, ३८५. III. १६३, २३७, २४२. |

| | |
|------------|---|
| शबरस्वामी | II. ३५२. |
| शाकटायनः | II. ३०३. III. ३११. |
| शालिहोत्रः | II. २६६. |
| श्राववतः | II. ३३२, ३४७. |
| शुभाङ्गः | II. २६१, ३७६. |
| शूद्रकः | II. ६९. |
| श्रीकण्ठः | II. १५९. III. २२१. |
| सनातनः | III. २००, २४०. |
| सुश्रुतः | II. ३३३. |
| सोमनन्दी | II. २६५. |
| हडचन्द्रः | II. २६, ७२, २६१, ३३२, ३८०. III. ८८ १८२, २७३. |
| हल्युधः | II. २२, ४१, ५५, २२८, २४०, ३०२ III. २३६. |

टीकासर्वस्वस्मृता ग्रन्थाः ।

द्वितीयं काण्डम् ।

| | |
|--------------------|---|
| अनुन्यासः | II. ३३६. |
| अनेकार्थः | II. २४. |
| अन्यतन्त्रम् | III. १८४. |
| अभिज्ञानशाकुन्तलम् | II. ३६६. |
| अभिधानमाला | III. ५. |
| अमरमाला | II. ८, १२, २८, ३०, ३१, ३४, ४२, ४३ ६४, ९८, ९९, १२२, १३३, २१०, २२१ २२३, २३३, २४२, ३१२, ३२७, ३३५, ३४१ ३४३, ३४४, ३४६, ३८२. III. ८, १०२, १३२ २२७, २३६, २४२, २५०, २६४, २८३. |

| | |
|------------------------|---|
| अर्थशास्त्रम् | II. २४. III. ५९. |
| अश्वचरितम् | II. ५५. |
| आर्याकोशः | II. ६३. |
| आश्चर्यमञ्जरी | III. ८३, १७७. |
| उणादिः | II. ३३६, ३३७, ३५४, ३६८, ३७९. III. ५०, ८३, १२१, १३४, १४२. |
| उणादिवृत्तिः | II. २०७, ३३०. III. १५३, १६४, २६४. |
| उत्पलिनी | II. ६३, १०३, २२८. III. १३४. |
| उपाध्यायसर्वस्वम् | II. १९७. III. २७७. |
| कण्ठभूषणालङ्कारः | II. ३५३. |
| कप्तिष्णाभ्युदयः | II. ३९, २५१, ३८१. III. १७७. |
| कातन्त्रटीका | II. ३०३, ३०४. |
| कादम्बरी | II. २४०, २४१. |
| कामशास्त्रम् | II. २६६. |
| काव्यालङ्कारः | II. ४०. |
| किरातम् | II. ७२, ३७१. |
| कीचकवधः | II. ५८, १५३, २८४. |
| कुमारचरितम् | II. २१८. |
| कुमारसम्भवः | II. ३५०, ३७०. |
| केसरमाला | II. २३२, २९३. |
| कोशान्तरम् | II. १०७, १४१, १६४, १७९. |
| कोष्ठाध्यक्षप्रधानटीका | II. २२४. |
| गणितम् | III. २२९. |
| गोवर्धनीयोगादिवृत्तिः | II. ३०५. III. २४१. |
| चान्द्रलिङ्गानुशासनम् | II. ३२२. |
| जातकमाला | III. ५०. |
| ज्योतिषम् | II. ३२३. |
| तन्त्रान्तरम् | II. ८३, ९०, १४३, १४८, १९४, २०२, २७७. III. २६२. |

| | |
|------------------|--|
| त्रिकाण्डः | II. ५६, २५५. III. १०२, १३९. |
| त्रिकाण्डशेषः | II. १७, ६४, ११७, २९८, ३१८, ३५३. III. २९, ४४, १२१, १२४, १२६, १६४, २५१. |
| दण्डियमकम् | II. ५६. |
| दुर्घटः | II. २७७. |
| देवीमाहात्म्यम् | III. १२०. |
| द्विचक्रकोशः | II. २१. III. १६४, १६६. |
| धराणि: | II. १०१, २१७, ३०२. III. ५३, ५६, ६४, १६२. |
| धातुसारायणम् | II. १९८. III. १६५. |
| धातुप्रदीपः | II. ३८, ४८, ५८, ६७, ११३, २१५, २१७, २३१, २७७, ३०५, ३८६. III. १२५, १६५, १६८, २२७, २३०. |
| धातुवृत्तिः | III. १३४. |
| नाट्योक्तिः | III. २५. |
| नाथीयधातुवृत्तिः | II. ३६०. |
| नाममाला | II. २१, २२, २६, ४८, ६९, २६८, २७९, ३३१, ३४४, ३९०. III. ५५, ८९, १२८, १५१, १६९, २०८, २३४, २३५, २५०, २७७, २८३. |
| नामानुशासनम् | II. ६. III. २०४. |
| नारकस्तुतिः | II. २२७. |
| निगमाख्यमभिधानम् | II. २७५. III. १५२, १६८. |
| न्यासः | II. २६६. III. १४९, २६२. |
| पुरुषोत्तमटीका | III. १२८. |
| प्राकृतशास्त्रम् | II. ३६१. |
| बालरामायणम् | III. ९४. |
| वृन्दावनयमकम् | II. १००, २२४, २४६, २६७. III. १३४. |
| वृहत्कथा | III. २४१. |
| वृहदुत्पलिनी | II. ३५०. |
| भट्टिभाषासमावेशः | II. ६९, २१४, २३१. |

| | |
|--------------------|---|
| परतीयम् | II. २६६. III. १२८. |
| भागवृत्तिः | II. ११, ३११. |
| भाषावृत्तिः | III. ६५. |
| भाषासमावेशः | II. ११५. |
| भाष्यम् | II. २२४, २२६, २७८, ३६२. |
| महान्यासः | II. ३७९. |
| महाभारतम् | II. २२४, ३०४, ३२१. |
| महिम्नःस्तोत्रम् | II. २२४. |
| माघयमकम् | II. ३२४. III. २३४. |
| योगयात्रा | II. ४६. |
| योगशतकम् | III. २४७. |
| योगशतकव्याख्यानम् | III. २४०. |
| रघुवंशम् | II. २६, २८, १२८, २६२, ३६३. III. ४५, ७३. |
| रत्नकोशः | II. ६, २२, २५, ७६, १९८, २०४, २३०, २९३, ३०२, ३३८. III. ६०, ९७, १५९, १७०, १७१, १७२, १९०, २२७, २४७, २५४, २७०, २८४. |
| रत्नमाला | II. ३३, ७८, ११०, १२८, १४८, १७३, ३३०. III. ३१, १८७, २४०, २५६. |
| रन्तिकोशः | II. ६८, ७४. |
| रभसकोशः | II. १८०. |
| रुद्रकोशः | II. ८७. |
| रूपरत्नाकरः | III. २४१. |
| लटकोशः | II. ११५. |
| लिङ्गकारिका | II. १५२. III. ४०. |
| लिङ्गानुशासनम् | II. १७. |
| वररुचिलिङ्गसूत्रम् | II. २९४. |
| वराहयमकम् | II. ४६. |

| | |
|--------------------|--|
| वर्णदेशना | II. ४६, ६६, ६८, २१७, २१८, २२६, २९८, ३६. III. ९६, १२६, १७१, १८०, १८३. |
| वर्णविधिः | I. १५२. |
| वात्स्यायनम् | III. ६१. |
| वातपुराणम् | III. २३४. |
| वासवदत्ता | II. २११, २१५, २३७, ३३१. |
| विदग्धमुखमण्डनम् | II. २११, ३४१. III. १९, १९२. |
| विश्वप्रकाशः | II. ३३, ३५, ९१, १५४, १५५. III. ८६, २६९. |
| विष्णुस्मरणम् | II. ७. |
| वृत्तिः | II. ३४, ५८. III. १०२, १५९, २७१. |
| वैयकम् | II. १०६, १०७, १४३, १४७, १५२, १६२, २०१, २४२, २४४, ३०९. III. १९३. |
| वैद्यकरत्नमाला | II. १०७. |
| शब्दार्णवः | II. १९, १२२, १३२, १८३, २२५, २३९, २८५, २८७, ३२६, ३२८, ३४१, ३८०. III. १९७, २३७, २७५. |
| शार्ङ्गटायनसूत्रम् | II. ३०४. |
| शुभाङ्गकोशः | II. २४८. |
| शृङ्गारप्रकाशः | II. ७८, ३७०. |
| संसारवर्तः | II. ३२८. III. १९१ |
| संहिता | II. ३२. |
| सुप्रसिद्धावलिः | II. १३०. |
| हरिवंशः | II. ७६. III. २१४. |
| हर्षचरितम् | II. ११७, २६५. III. २५४. |

॥ श्रीः ॥

श्रीमदमरसिंहविरचितं

नामलिङ्गानुशासनं

क्षीरस्वामिप्रणीतया अमरकोशोद्धाटनाख्यया व्याख्यया ,

वन्द्यवटीयश्रीसर्वानन्दप्रणीतया टीकासर्वस्वा

व्याख्यया च समेतम् ।

द्वितीयं काण्डम् ।

अथ ब्रह्मवर्गः ।

सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ ।

वंशोऽन्ववायः सन्तानः

क्षीर० — सन्तन्यतेऽनया सन्ततिः । गूयते, जन्यते, कुल्यते,
चानेन । अन्वीयतेऽन्वयः । वश्यते जन्यते वंशः । अन्ववैत्यन्ववायः ॥

टीका० — सन्ततिनवकं वंशे । तनोतेः क्तिच् । सन्ततिः । गोत्रा-
दयः प्रागुक्ताः । एतिरन्वपूर्वः । ततः 'एरच्' (३. ३ १६) । अन्ववायः ।
कल्पवृक्षे सन्तान उक्तः ॥

वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः ॥ १ ॥

क्षीर० — त्रियन्ते वर्ण्यन्ते वा वर्णाः ॥

टीका० — ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा वर्णाः । 'वृ वरणे' । 'कृपृजृ—'(उ० २. १०) इत्यादिना नः ॥

विप्रक्षत्रियविदशूद्राश्चातुर्वर्ण्यमिति स्मृताः ।

क्षीर० — चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम् । स्वार्थे घ्यञ् ॥

राजबीजी राजवंश्यः

क्षीर० — राजबीजमस्यास्ति राजबीजी । राजवंशे साधुर्भवो वा राजवंश्यः ॥

टीका० — राजबीजिद्वयं राजवंशे । मत्वर्थे इनिः । राजबीजी । भवार्थे दिगादियति राजवंश्यः ॥

बीज्यस्तु कुलसम्भवः ॥ २ ॥

क्षीर० — बीजे साधुर्भवो वा । यथा सूर्यबीज्यो रामः । य(त्प्र ? ण्)करणे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (५. २. १२०) ॥

टीका० — यस्यकस्यचित् कुले भूतो बीज्यः । 'यत्प्रकरणे अन्यत्रापि दृश्यते' इति यत् (?) ॥

महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः ।

क्षीर० — कुलस्यापत्यं कुलीनः । आरात् पापकेभ्यः कर्मभ्यो वात आर्यः । अरणीयो गम्यो वा । सभायां साधुः सभ्यः । संश्रासौ जनः सज्जं नयते वा सज्जनः । साध्नोति परकार्यं साधुः । आमुष्यायणो-
ऽमुष्यपुत्रश्च ॥

टीका० — महाकुलषट्कं कुलीने । महाकुलस्यापत्यं महाकुलः ।
‘महाकुलादञ्खजौ’ (४. १. १४१) । एवं वृद्धः । महत् कुलमस्येति बहुव्रीहौ
अवृद्धोऽपि । अपत्यार्थे ‘कुलात् खः’ (३. १. १३९) । कुलीनः । आर्यो दीर्घा-
दिः । अर्तेः ‘ऋहलोर्ण्यत्’ (४. १. १२४) । सभायां साधुरपयुक्तः सभ्यः ।
‘सभाया यः’ (४. ४. १०९) इति यः । साधेः ‘कृवापाजि’—(उ० १. १) इत्या-
दिना उणि साधुः ॥

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुः

क्षीर० —

“ब्रह्म वेदो ब्रह्म तपो ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम्” ।

तच्चरत्यर्जयत्यवश्यं ब्रह्मचारी । ‘व्रते’ (३. २. ८०) णिनिः । वर्णी । गृह ।
गृहस्थो गृहमेधी ज्येष्ठाश्रमी । प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् प्रस्थः । वनप्रस्थे भवो
वानप्रस्थो वैखानसाख्यः । भिक्षते तच्छीलो भिक्षुर्यतिः । ‘सनाशंसभिक्ष
उः’ (३. २. १६८) ॥

टीका० — ब्रह्मचारिचतुष्कं प्रत्येकं स्वनामप्रसिद्धे । वेदाध्ययनार्थं ब्रह्म
व्रतं चरतीति ब्रह्मचारी । गृहं भार्या, तद्योगाद् गृही । द्वौ नान्तौ । वनप्रस्थे
वनैकदेशे भवोऽवस्थाता वा वानप्रस्थः । शेषेऽण् । गृहीतकाषायदण्डो भिक्षुः ।
‘भिक्ष याच्ञायाम्’ । ‘सनाशंसभिक्ष उः’ (३. २. १६८) ॥

चतुष्टये ॥ ३ ॥

आश्रमोऽस्त्री

क्षीर० — अस्मिंश्चतुष्के आश्राम्यन्ति तपस्यन्त्यस्मिन्नित्याश्रमं
प्रत्येकं वर्तते ॥

टीका० — ब्रह्मचार्यादिचतुष्टये आश्रमः । ‘श्रमु तपसि खेदे च’ ।
‘हलश्च’ (३. ३. १२१) इति घञ् । ‘नोदात्तोपदेश—’ (७. ३. ३४) इत्या-
दिना वृद्धभावः ॥

द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः ।

विप्रश्च ब्राह्मणः

क्षीर० —

“मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौञ्जिवन्धनात्”

इति द्विजातिः । अग्रे आदौ अग्रान्मुखाद् वा जन्मास्याग्रजन्मा । यच्छ्रुतिः—
‘ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्’ । वाडव इवातुप्तः । विशेषेण पूरयति विप्रो
विपाति विपति वा । ‘विप क्षेपे’ । ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः ॥

टीका० — द्विजातिषट्कं ब्राह्मणे । देहोत्पत्तिसंस्कारोत्पत्तिलक्षणे द्वे
जार्ता जन्मणी अस्येति द्विजातिः । जातिपरत्वाच्छब्दस्य ‘जात्यन्ताच्छ बन्धुनि’
(५. ४. ९) इति छे न भवति । ब्रह्मणो मुखे अग्रे जन्मास्येत्यग्रजन्मा ।
नान्तः । वडवा ब्राह्मणी । तथा च—

“वडवा कुम्भदास्यश्च स्त्रीविशेषो द्विजाङ्गना”

इति रभसः । तत्र भवा वाडवाः । शेषेऽण् । ‘प्रा पूरणे’ । ‘आतश्चोपसर्गे’ (३. १.
१३६) । कः । विप्रः । ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः । ‘तस्यापत्यम्’ (४. १. ९२) इत्यण् ॥

असौ षट्कर्मा यागादिभिर्युतः ॥ ४ ॥

क्षीर० — षट् कर्माणि ब्राह्मणस्य । अध्ययनमध्यापनं यजनं
याजनं दानं प्रतिग्रहश्च ॥

टीका० —

“यजनं याजनं दानं विशिष्टाच्च प्रतिग्रहः ।

अध्यापनमध्ययनं विप्रकर्म प्रकीर्तितम् ॥”

इत्येतैः षड्भिर्युक्ते विप्रे षट्कर्मा ॥

विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदो बुधः ।

धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः ॥ ५ ॥

धीमान् सूरिः कृती कृष्टिलब्धवर्णो विचक्षणः ।

क्षीर० — वेत्ति विद्वान् । ‘विदेः शतुर्वसुः’ (७. १. ३६) ।
विपश्यन्नेतयते विपश्चित् । दोषाञ् जानाति ज्ञात्वा जह्यादिति दोषज्ञः ।

सन् विद्यमानः, उत्तम इत्यर्थः । अन्ये त्वसत्कल्पाः । सुध्यायति सुधीः ।
'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३. २. १७८) इति क्तिप् सम्प्रसारणं च ।
ओकः स्थानं वेत्ति कोविदः, 'कुङ्क' शब्दे' अस्माद् वा । धियमीरयति
धीरः । मनस ईष्टे मनीषास्त्यस्य वा मनीषी । जानातीति ज्ञः । 'इगुपध—'
(३. १. १३५) इति कः । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५. ४. ३८)
इत्यण् । प्रज्ञास्त्यस्य वा । 'प्रज्ञाश्रद्धा—' (५. २. १०१) इति णः । सम्यक्
ख्यानं ज्ञानमस्य सङ्ख्यावान् । सङ्ख्या विचारणा वा । पण्डिते विजानाति
पण्डितः । 'पडि गतौ' । सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति पण्डा धीः सञ्जातास्य
वा । कवते वर्णयति कविः । कवितापि । सुवति सूरिः । कृतमस्यास्ति
कृती कृतकृत्यः । कर्षति विविक्ते कृष्टिः । लब्धं वर्णनं प्रसिद्धिर्येन लब्ध-
वर्णः । विचष्टे विचक्षणः ॥

दूरदर्शी दीर्घदर्शी

क्षीर० — अप्रत्यक्षमूहत इत्यर्थः ॥

टीका० — विद्वदादिद्वार्विशंकं पण्डिते । 'विदेः शतुर्वसुः' (७. १.
३६) इति शत्रन्ताद् वस्वादेशविकल्पे विद्वान् । विप्रकृष्टं चिनोतीति विपश्चित् ।
पृषोदरादिः । शोभनं ध्यायतीति सुधीः । किन्नाम वेत्तीति कोविदः । पृषोदरादिः ।
बुधज्ञयोरिगुपधलक्षणः कः । बुधो ज्ञश्च । व्रीह्यादित्वादिनिः । मनीषी । प्रज्ञायोगात्
प्राज्ञः । 'प्रज्ञाश्रद्धार्चवृत्तिभ्यो णः' (५. २. १०१) इति मत्वर्थे णः । सङ्ख्या
विचारणा, तद्वान् सङ्ख्यावान् । पण्डा बुद्धिर्जातास्मिन्निति पण्डितः । तारकादित्वा-
दितच् । 'पूज् प्राणिप्रसवे' । 'पूजः क्तिप्' (उ० ४. ६९) । सूरिः, दन्त्यादिः ।
अभिधानमालायामिन्नन्तोऽपि सूरि । कृतं ज्ञातमनेनेति कृती । 'इष्टादिभ्यश्च'
(५. २. ८८) इतीनिः । कर्षति निष्कर्षतीति कृष्टिः । बाहुलकः क्तिन् । 'अन्ये-
भ्योऽपि दृश्यते' इति वा क्तिन् । 'स्य्याकर्षे ना बुधे कृष्टिः' इति रुद्रः । लब्धो
वर्णः स्तुतिर्येन स लब्धवर्णः । विचक्षण इति 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (३. २.
१४९) इति कर्तरि युच् । 'असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा० २. ४. ९४)
इति चक्षिङ् । ख्याजादेशप्रतिषेधः । देशकालविप्रकृष्टानर्थान् यो बुद्ध्या पश्यति,
तत्र दूरदर्शिद्वयमिति केचित् ॥

श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ ॥ ६ ॥

क्षीर० — ‘श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते’ (५. २. ८४) । श्रोत्राभ्यां कृत-
कर्मेति । छन्दोऽधीते छान्दसः ।

“मीमांसको जैमिनीयो वेदान्ती ब्रह्मवादिनि ।

वैशेषिकः स्यादौलूक्यः सौगतः शून्यवादिनि ।

नैयायिकस्त्वाक्षपादः स्यात् स्याद्वादिक आर्हतः ।

चार्वाकलोकायतिकौ सत्कार्यौ साङ्ख्यकापिलौ” ॥

टीका० — छन्दोध्येतरि श्रोत्रियद्वयम् । छन्दोऽधीत इति श्रोत्रियः ।
‘श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते’ (५. २. ८४) इति श्रोत्रियन्निपात्यते छन्दोऽधीत इत्ये-
तस्मिन्नर्थे । नकारः स्वरार्थः । छन्दश्शब्दस्य वा श्रोत्रभावो घनप्रत्ययश्च ।
‘तदधीते तद् वेद’ (४. २. ५९) इत्यणि छान्दसः ॥

उपाध्यायोऽध्यापकः

क्षीर० — उपेत्याधीयतेऽस्मादुपाध्यायः । ‘इङश्च’ (३. ३. २१)
इति घञ् ॥

टीका० — वेदादिपाठयितर्युपाध्यायद्वयम् । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्यु-
पाध्यायः । ‘इङश्च’ (३. ३. २१) इति घञ् ॥

अथ स्यान्निषेकादिकृद् गुरुः ।

क्षीर० — गृणात्युपदिशति गुरुः । यन्मनुः —

“निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते” ॥

निषेको गर्भाधानविधिः । आदिशब्दात् पुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनाम-
करणान्नप्राशनचौडोपनयनादीनि ॥

टीका० — निषेको गर्भाधानं, तत्कारिणि पितरि गुरुः । गिरतेः ‘कृमो-
रुच’ (उ० १. २४) इति कुप्रत्ययः उकारश्चान्तादेशः । ‘उरण् रपरः’ (१. १.
५१) । आदिना सीमन्तोन्नयनादि ॥

मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः

क्षीर० — आचरणीयः सेव्य आचार्यः । आचारं ग्राहयतीति नैरुक्ताः । मन्त्रकृद् वेदाध्यापनात् । विशिष्टाख्याकृदुपनीय द्विजत्वापादनात् । यदाह—

“उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते” ॥

टीका० — मन्त्रो वेदः, तस्योपनयनपूर्वकं प्रतिपादयिता आचार्यः ।

“उपनीय तु यः पूर्वं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं विदुर्बुधाः ॥”

इति मनुः । अन्यत्रोपचारात् ॥

आदेष्टा त्वध्वरे व्रती ॥ ७ ॥

यष्टा च यजमानश्च

क्षीर० — स्वाम्येनादिशत्यादेष्टा । आदिष्टीति पाठे आदिष्टमनेनेति इष्टादित्वादिनिः । क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्गचानात् सप्तमी । व्रती सनियमः । यजते यजमानः । ‘पूङ्गयजोः शानन्’ (३. २. १२८) ॥

टीका० — अध्वरे अध्वरविषये आदेष्टा अध्वरस्वामी, तत्र व्रतित्रिकम् । यजमानश्चेति चकारान्तः पाठः साधुः । तथा च रभसः—

“मन्त्रव्याख्याकृदाचार्य आदेष्टा त्वध्वरे व्रती ।
यष्टा च यजमानश्च याजको देवचारकः ॥
दीक्षितः सोमपीती”

इति । कचित् त्वन्तः पाठः । तदा च सोमयागयष्टरि यजमानदीक्षिताविति योजना ।

“सोमवत्यध्वरे यष्टा यजमानोऽपि दीक्षितः”

१. ‘नयनेन द्वि’ ख. पाठः. २. ‘हुः’ ख. पाठः. ३. ‘न्नरः ।’ ग. पाठः. ४. ‘नोऽथ स्वा’ ख. ग. पाठः. ५. ‘थ’ क. ज. पाठः.

इत्यमरमालापि । व्रतयोगाद् व्रती नान्तः । यजेः तृच् । यष्टा । 'पूङ्यजोः शानन्' (३. २. १२८) । यजमानः ॥

स सोमवति दीक्षितः ।

क्षीर० — स व्रती सोमवत्यध्वरे दीक्षिताख्यः दीक्षा सञ्जाता-
स्येति । सोमवानग्निष्टोमादिः क्रतुः । यद् गौतमः — 'अग्निष्टोमोऽत्य-
ग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽसौर्याम इति सप्त सो-
मसंस्थाः' ॥

टीका० — स यजमानः सोमवत्यध्वरे दीक्षिताख्यः । 'दीक्ष मौण्ड्ये-
ज्योपनयनादौ' । क्तः ॥

इज्याशीलो यायजूकः

क्षीर० — यजनमिज्या । 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' (३. ३. ९८) ।
अत्यर्थं यजते तच्छीलो यायजूकः । 'यजजपदशां यङ्' (३. २. १६६)
इत्यूकः ॥

टीका० — पुनः पुनर्यागकरणशीलो यायजूकः । 'यजजपदशां
यङ्' (३. २. १६६) इति यङन्तादूकप्रत्ययः ॥

यज्वा तु विधिनेष्टवान् ॥ ८ ॥

क्षीर० — 'सुयजोर्ङ्निप्' (३. २. १०३) ॥

टीका० — विधिना यथाशास्त्रं निर्वर्तितयागो यज्वा ॥

स गीष्पन्तीं स्थपतिः

क्षीर० — स यज्वा बृहस्पतिमेधेन हेतुना । स्थापयतीति
पतिः ॥

टीका० — स यज्वा बृहस्पतिसवनान्ना यागेनेष्टवान् स्थपतिः ॥

सोमपीथी तु सोमपः ।

क्षीर० — पानं पीथः । 'पानृतुदि —' (उ० २. ७) इति थक् ।
'घुमास्था —' (६. ४. ६६) इतीच्वम् । सोमपीतीति प्राच्याः पेटुः ।
सर्वदाऽयं, दीक्षितस्तु तत्कालम् ॥

टीका० — सोमपीतिद्वयं सोमलतारसपायिनि । सोमः पीतोऽनेनेति
'इष्टादिभ्यश्च' (१. २. ८८) इतीनिः ॥

सर्ववेदाः स येनेष्टो यागः सर्वस्वदक्षिणः ॥ ९ ॥

क्षीर० — सर्वं विन्दत्यस्मात् सर्ववेदाः, असुन् ॥

टीका० — विश्वजिदादियागः सर्वस्वदक्षिणः, तद्याजी सर्ववेदाः, सर्वं
सर्वस्वं वेदयति लभ्यति ऋत्विज इति । 'विद्ल लभे' । ण्यन्तादसुन् ॥

अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती

क्षीर० — अनूक्तवान् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (३. २. १०९)
इति कानचि साधुः । प्रोच्यते प्रवचनं वेदः । अधीतमनेनाधीती । इष्टा-
दित्वादिनिः । 'क्तस्येन्विषयस्य —' (वा० २. ३. ३६) इति सप्तमी ॥

टीका० — प्रवचने वेदे सशिक्षाद्यङ्गषट्के कृताध्ययने अनूचानः । 'उपे-
यिवाननाश्वाननूचानश्च' (३. २. १०९) इति निपातितः । प्रवचन इति 'क्तस्ये-
न्विषयस्य कर्मण्युपसङ्गचानम्' (वा० २. ३. ३६) इति सप्तमी ॥

गुरोस्तु यः ।

लब्धानुज्ञः समावृत्तः

क्षीर० — अधीत्य गुर्वाग्नया गुरुगृहाद् यः समावर्तते स समावृत्तः
स्नातकार्यः ।

“गुरुगृहादनावृत्तः स्नातको हि न कथ्यते ” ॥

टीका०—अधीतवेदो गृहभावस्तुं गुरोः सकाशाद् गृहीतानुज्ञः समावृत्तः ।
वृत्ते क्तः ॥

सुत्वा त्वभिषवे कृते ॥ १० ॥

क्षीर०—सुनोति सुत्वा । 'सुयजोर्द्विनिप्' (३. २. १०३) ।
अभिषवः सोमकुट्टनसन्धानम् ॥

टीका०—अभिषवः स्नानमात्रं प्रस्तावाद् यागसम्बन्धिस्नानं यः कृतवान्,
स सुत्वा । नान्तः । 'सुयजोर्द्विनिप्' (३. २. १०३) ॥

छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये

क्षीर०—छात्रमिव शीलमस्य छात्रः । 'छात्रादिभ्यो णः' (४. ४. ६२) । छात्रेण गुरुसेवा लक्ष्यते । गुरोरन्ते वसत्यवश्यमन्तेवासी । 'शयवासवासिषु—' (६. ३. १८) इति सप्तम्या अलुक् । शासनीयः शिष्यः ॥

टीका०—छात्रद्वयं शिष्ये । गुरुच्छिद्रावरणशीलश्छात्रः । 'छात्रादिभ्यो णः' (४. ४. ६२) । अन्ते समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी । ताच्छीलिको णिनिः । 'शयवासवासिष्वकालाद्' (६. ३. १८) इति सप्तम्यलुग्विकल्पे अन्ते-
वासी च । प्रत्ययान्तरविषयश्चायं धातुः । तथा च भारविः—'वसन्नित्वान्ते विन-
येन जिष्णुः' (स० ३. श्लो० २४) इति । वसिसमानार्थधातुप्रयोगोऽप्यास्मिन् दृश्यते ।
तथा च—'मृगास्तमुपासते गुरुमिवान्तसदः' इति । 'शासु अनुशिष्टौ' ।
'एतिस्तुशास्वृहजुषः क्यप्' (३. १. १०९) । 'शास इदङ्ङ्हलोः' (६. ४. ४४)
इतीत्वम् । 'शासिवासिषसीनां च' (८. ३. ६०) इति षत्वम् । शिष्यः ॥

शैक्षाः प्राथमकल्पिकाः ।

क्षीर०—शिक्षायां भवाः शैक्षाः । प्रथमकल्प आद्यारम्भः प्रयो-
जनमेषां प्राथमकल्पिकाः ॥

टीका० — प्रथमवेदपाठके शैक्षद्वयम् । शिक्षासाहचर्याद् ग्रन्थोऽपि शिक्षा । ‘तदधीते —’ (४. २. ९९) इत्यण् । प्रथमकल्पं प्रथमशिक्षणीयमधीयत इति प्राथमकल्पिकाः । उक्थादित्वाट्टक् ॥

एकब्रह्मव्रताचारा मिथः सब्रह्मचारिणः ॥ ११ ॥

क्षीर० — तुल्यवेदास्तुल्यव्रतास्तुल्याचाराश्चान्योन्यं समानं ब्रह्म चरन्ति सब्रह्मचारिणः ।

“ब्रह्म वेदो ब्रह्म तपो ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम्”

इति । एकस्मिन् वेदे व्रतमाचरन्ति वा । ‘व्रते’ (३. २. ८०) इति णिनिः । ‘चरणे ब्रह्मचारिणि’ (६. ३. ८६) इति समानस्य सभावः ॥

टीका० — एकस्माद् गुरोरेकं वेदमध्येतुमेकं ब्रह्म व्रतमाचरन्तोऽन्योन्यं सब्रह्मचारिण इत्युच्यन्ते । ब्रह्म वेदस्तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म । समानं ब्रह्म चरन्तीति सब्रह्मचारिणः । ‘व्रते’ (३. २. ८०) इति णिनिः । ‘चरणे ब्रह्मचारिणि’ (६. ३. ८६) इति सभावः ॥

सतीर्थ्यास्त्वेकगुरवः

क्षीर० — ‘समानतीर्थे वासी’ (४. ४. १०७) इति यत् । ‘तीर्थे ये’ (६. ३. ८७) इति सत्वम् । तरन्त्यनेन विद्यां तीर्थं गुरुः ॥

टीका० — एकगुरुका वेदविषयेऽन्यविषये च सतीर्थ्याः । पावनहेतुत्वात् तीर्थमिव तीर्थं गुरुः । ‘समानतीर्थे वासी’ (४. ४. १०७) इति यः । ‘तीर्थे ये’ (६. ३. ८७) इति सभावः ॥

चित्तवानग्निमग्निचित् ।

क्षीर० — आहिताग्निः । ‘अग्नौ चे’ (३. २. ९१) । क्तिप् ॥

टीका० — चिताग्निर्द्विजोऽग्निचित् । ‘अग्नौ चे’ (३. २. ९१) इति क्तिप् ॥

पारम्पर्योपदेशः स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम् ॥ १२ ॥

क्षीर० — इत्येवं किलेति मुखपारम्पर्यमितिह । ततः स्वार्थे पक्षे
'अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ज्यः' (५. ४. २३) ॥

टीका० — उपदेशपरम्परायामैतिह्यद्वयम् । अस्मिन् वृक्षे यक्षोऽस्तीत्यु-
दाहरणम् । इतिह्यब्दोऽव्ययसमुदायः । ततः स्वार्थे 'अनन्तावसथेतिहभेष-
जाञ्ज्यः' (५. ४. २३) ॥

उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्याद्

क्षीर० — उपज्ञायते इत्युपज्ञा, इदं प्रथमतया ज्ञानम् । चन्द्रस्यो-
पज्ञा चन्द्रोपज्ञं व्याकरणम् ॥

टीका० — विनोपदेशेन ज्ञानमुपज्ञा । यथा वाल्मीकेः श्लोकज्ञानम् ॥

ज्ञात्वारम्भ उपक्रमः ।

क्षीर० — उपज्ञाय आरम्भणमुपक्रमः । यत् कात्यः — 'यस्मात्
प्रवृत्त आरम्भः स 'उपक्रमः' । नन्दस्योपक्रमः । नन्दोपक्रमाणि
मानानि । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' (२. ४. २१) इति
नपुंसकत्वम् ॥

टीका० — एतदित्थं सिध्यतीत्युपायज्ञानपूर्वक आरम्भ उपक्रमः ॥

यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः ॥ १३ ॥

क्षीर० — इज्यते यज्ञः । 'यजयाच —' (३. ३. ९०) इति नङ् ।
मूयते सोमोऽस्मिन् सवः । अध्वानं रात्यध्वरः । न ध्वरति वा । 'ध्वृ
हूर्छने' । सप्तभिश्छन्दोभिस्तन्यत इति सप्ततन्तुः । मखति धर्मं मखः ।
क्रियते क्रतुः ॥

१. 'ज्ञसंज्ञकं व्या' ड. पाठः २. 'मा', ३. 'ने' । सप्ततन्तुः । 'सप्तभि',
४. 'ति । म' ख. पाठः.

टीका० — यज्ञसप्तकं यागे । ‘यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्’
(३. ३. ९०) । यज्ञः । सुनोते: ‘ऋदोरप्’ (३. ३. ५७) । सवः । स्वस्स-
म्बन्धिनमध्वानं रातीत्यध्वरः । मखिर्गत्यर्थः । दण्डकम् । अच् । मखः । ‘सोमयागे-
ष्वेव क्रतुशब्दोऽन्यत्रोपचारादि’ति जयादित्यः ॥

पाठो होमश्चातिथीनां सपर्यां तर्पणं बलिः ।

एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञादिनामकाः ॥ १४ ॥

क्षीर० — स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः, होमो देवयज्ञः, नृयज्ञोऽति-
थिपूजनं, तर्पणं श्राद्धाख्यं पितृयज्ञः, बलिर्भूतयज्ञः । यन्मनुः —

“स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः स्यात् पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्” ॥

टीका० — एतैः पाठादिभिः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिनामकैः पञ्च महायज्ञाः
स्युः । सपर्यां पूजा ।

“स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः स्यात् पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥”

इति स्मृतिः ॥

समज्या परिषद् गोष्ठी सभासमितिसंसदः ।

आस्थानी क्लीब आस्थानं स्त्रीनिपुसंकयोः सदः ॥ १५ ॥

क्षीर० — समर्जन्ति मिलन्त्यस्यां समज्या । ‘संज्ञायां समज —’
(३. ३. ९९) इति क्यप् । परिसीदन्त्यस्यां परिषत् । पर्षच्च । गावो
नानोक्तयस्तिष्ठन्त्यस्यां गोष्ठी । सह भान्त्यस्यां सभा । संयन्त्यस्यां
समितिः । संसीदन्त्यस्यां संसत् । अतिष्ठन्त्यस्यामास्थानी । सीदन्त्य-
स्मिन् सदः । असुन् ॥

१. ‘व’ ग. पाठः. २. ‘यः स्यात् । अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पि’ ख. पाठः. ३.
‘अध्ययनं ब्रह्मयज्ञः पि’ ख. ड. छ. झ. ट. पाठः. ४. ‘ज’, ५. ‘तु । गा’, ६.
‘अभिति’ ख. पाठः.

टीका० — समज्यानवकं सभासामान्ये । कीर्त्तौ समज्योक्ता । परि-
तः सीदन्त्यस्यामिति परिषत् । सम्पदादिः । ‘सदिरप्रतेः’ (८. ३. ६६) इति
षत्वम् ।

“आस्थानं संसदास्थानी परिषत्पर्षदौ समे”

इति रभसः । गावः कथास्तिष्ठन्त्यस्यामिति गोष्ठी । गोष्ठवत् सर्वम् । सद्भिर्भातीति
सभा । भया दीप्त्या सह वर्तत इति वा । संयन्ति मिलन्त्यस्यामिति समितिः ।
बाहुलकः क्तिन् । अकर्तरि च कारके वा । सम्पदादिकिपि संसद् दान्ता । आग-
त्य तिष्ठन्त्यस्यामित्यास्थानी । आस्थानं च । अधिकरणे ल्युट् । सीदन्त्यस्यामिति
सदः । असुन् । स्त्रियां सदाः सदसौ सदसः ॥

प्राग्वंशः प्राग्घविर्गेहात्

क्षीर० — वंशः कुलं स्थूणा वा । प्राग् वंशोऽत्र प्राग्वंशः पत्नी-
शास्त्राख्यः । प्राग्घविर्गेहाद् अग्निशालाया आद्यो भागः ॥

टीका० — यत्र गृहे हव्यादिकं स्थाप्यते ततः पूर्वं सदस्यादीनां गृहं
प्राग्वंशः ॥

सदस्या विधिदर्शिनः ।

क्षीर० — सदसि साधव उनाधिकजागरूका ऋत्विग्भेदाः
सदस्याः ॥

टीका० — विधेर्न्यूनातिरिक्ततानिरीक्षणतत्परे सदस्यद्वयम् । सदसि
साधुरूपकारकः सदस्यः । ‘तत्र साधुः’ (४. ४. ९८) इति यत् ॥

सभासदः सभास्ताराः सभ्याः सामाजिकाश्च ते ॥ १६ ॥

क्षीर० — सभायां सीदन्ति सभासदः । सभां स्तृण्वन्ति सभा-
स्ताराः । समाजं समवयन्ति सामाजिकाः । ‘समवायान् समवैति’ (४. ४.

१. ‘त्ति’ घ. पाठः. २. ‘त पत्नीशालाख्यात् । अ’ ख. घ. ङ. पाठः.

४३) इति ठक् । पारिषद्याः पारिषदाः सभाशूराश्च ॥

टीका० — सभासदादिचतुष्कं सभाया आरम्भके । सम्पदादिकिपि सभासत् । सभां स्तृणन्ति छादयन्तीति सभास्ताराः । 'कर्मण्यण्' (३. २. १) । सदस्यवत् सभ्यः । 'समवायान् समवैति (४. ४. ४३) इति समजशब्दाद्वकि सामाजिकः ॥

अध्वर्युद्गातृहोतारो यजुःसामर्ग्विदः क्रमात् ।

क्षीर० — ऋत्विज इत्येव । अध्वरं याति न ध्वरति वा अध्व-
र्युर्नाम ऋत्विक् । स यजुर्वित् कठः स्यात् । उद्गायक उद्गाता छन्दोगः
स्यात् । होता बह्वचः स्यात् ॥

टीका० — अध्वर्युत्रयं यथाक्रमं यजुर्वेदादिवेदिषु । अध्वरमि-
च्छतीत्यध्वर्युः । 'क्याच्छन्दसि' (३. २. १७०) इत्युः । 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि
लोपः' (७. ४. ३९) इति 'अलौन्त्यस्य' (१. १. ५२) इति नियमेन रेफात्
परस्याकारस्य लोपः । तृचि उद्गाता । होतेति 'तृन्विधावृत्विक्षु चानुपसर्गस्येति
वक्तव्यम्' (वा० ३. २. १३९) इति तृन् ॥

आग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च ते ॥ १७ ॥

क्षीर० — अग्नीनिधेऽग्नीत् । तस्य शरणमाग्नीध्रः । 'अग्नीधः
शरणे रण भष्ट्वं च' (वा० ४. ३. १२०) इति रण् । आद्यशब्दात् पोतृप्रशास्तु-
ब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकप्रावस्तुद्ब्रह्ममैत्रावरुणप्रतिप्रस्थातृप्रतिहर्तृनेष्टृनेतृसु-
ब्रह्मण्याः । इत्थं सप्तदश्याः सप्तदश ऋत्विजः । 'एतिस्तुशास्वृ—' (३.
१. १०९) इति वृजो ग्रहणाद् वृडो त्रियन्त इति वार्याः । 'कुहलोर्ण्यत्'
(३. १. १२४) । 'वृताः कुर्वन्ति ये यज्ञमृत्विजस्त' इति कात्यः । ऋतौ
यजति । 'ऋत्विगदधृग्—' (३. २. ५९) इति साधुः ॥

टीका० — आग्नीध्राद्याः षोडश यज्ञस्वामिना धनैर्वरणिया याज-
कादिद्वयवाच्याः । ते च ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्युः, ब्राह्मणा-
च्छंसी, प्रस्तोता, मैत्रावरुणः, प्रतिप्रस्थाता, पोता, प्रतिहर्ता, अच्छा-

वाकः, नेष्टा, आग्नीध्रः, सुब्रह्मण्यः, प्रावस्तुद्, उन्नेता चेति षोडश प्र-
काशः । अग्निमिन्धयतीति रक् । आग्नीध्रः । वृणातेः प्यति बार्याः । ऋत्विगादि-
सूत्रेण ऋत्विग् जान्तो निपातितः । ण्वुलि याजकाः ॥

वेदिः परिष्कृता भूमिः

क्षीर० — विदन्त्येनां वेदिः । परिष्कृता चातुरश्रयेण भूषिता ।
यागार्थं परिष्कृतां त्वाह ॥

टीका० — यागार्थं संस्कृता भूमिर्वेदिः । ङीषि वेदी च ॥

समे स्थण्डिलचत्वरे ।

क्षीर० — तिष्ठन्त्यास्मिन् स्थण्डिलम् । चत्यते चत्वरम् । यागार्थं
संस्कृता भूः ॥

टीका० — यागार्थं संस्कृतभूमौ स्थण्डिलद्वयम् । प्राङ्गणे चत्वर-
मुक्तम् ॥

चपालो यूपकटकः

क्षीर० — तक्षणा कारितो यूपग्रे कटकाकृतिः । चप्यत उत्कीर्यत
इति चपालः ॥

टीका० — स्वादिरादिकं पशुबन्धनकाष्ठं यूपः । तन्मूर्ध्नि काष्ठमयो
डमरुकाकृतिश्चपालः । 'चष भक्षणे' । मूर्धन्यषः । 'सानसिर्वर्णसितण्डुलाङ्कुश-
चषालेखलपल्लव—' (उ० ४. १०९) इत्यादिना आलः । अर्धचर्गणपठित-
त्वात् क्लीबेऽपि ॥

कुम्वा सुगहना वृत्तिः ॥ १८ ॥

क्षीर० — 'कुवि आच्छादने' । 'चिन्तिपूजि—' (३. ३. १०५)
इत्यङ् । त्रियतेऽनया वृत्तिः । यज्ञवाटे वेणिका ॥

१. 'चतुरश्रेण', २. 'चा' ग. पाठः. ३. 'धर्णासिपर्ण' अ. पाठः. ४. 'व'

टीका० — यागभूमौ वृतिर्वेष्टनिका या सा कुम्वा । 'कुविच्छादने' चुरादिणिच् । 'चिन्तिपूजिकथिकुविचर्चश्च' (३. ३. १०५) इत्यङ् ॥

यूपाग्रे तर्म

क्षीर० — तरत्यनेन यूपं तर्म ॥

टीका० — यूपाग्रे तर्म । तरतेः मनिन् । वेदविदां तर्मेति पाठात् तर्मेति पाठो लिपिदोषजः । 'उतृदिर् हिंसानादरयोः' । मनिन् ॥

निर्मन्थ्यदारुणि त्वरणिर्द्रयोः ।

क्षीर० — निर्मथनीयं दारु, यतोऽग्निर्जन्यते । इयत्यग्निर्यतः सोऽरणिः ॥

टीका० — यत् काष्ठं काष्ठान्तरेणान्युत्पादनार्थं घृष्यते सा अरणिः । अर्तेः अशनिवद् अनिः ॥

दक्षिणाग्निर्गार्हपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नयः ॥ १९ ॥

क्षीर० — दक्षिणेऽग्निर्दक्षिणाग्निः । गृहपतिना संयुक्तो गार्हपत्यः । 'गृहपतिना संयुक्ते ज्यः' (४. ४. ९०) । आहोतव्य आहवनीयः ॥

टीका० — दक्षिणाग्नित्रयं पृथक् पृथक् स्वनामप्रसिद्धेऽग्नित्रये । दक्षिणोऽग्निर्दक्षिणाग्निः । 'गृहपतिना संयुक्ते ज्यः' (४. ४. ९०) इति ज्यः । गार्हपत्यः । अनीयारि आहवनीयः ॥

अग्नित्रयमिदं त्रेता

क्षीर० — त्रीणि इतो प्राप्ता त्रेता । पृषोदरादित्वादेत्वम् ॥

टीका० — इदं श्रौताग्नित्रयमेकोक्त्या त्रेतोच्यते । त्राणं त्राः सदा सन्धुक्षणम् । त्राम् इता प्राप्ता त्रेता स्त्रियाम् ॥

१. 'तदेमसीति' ख. ग. पाठः. २. 'दानयोः' ख. पाठः. ३. 'तो निर्मन्थ्य जन्य' ख. घ. पाठः. ४. 'हु' ख. पाठः. ५. 'ता त्रे' ख. पाठः.

प्रणीतः संस्कृतोऽनलः ।

क्षीर० — प्रणयनं मन्त्रादिना संस्कारैः प्रादुष्करणम् ॥

टीका० — मन्त्रेण संस्कृतोऽग्निः प्रणीतः ॥

समूहपरिचार्योपचार्या अग्नौ प्रयोगिणः ॥ २० ॥

क्षीर० — ‘अग्नौ परिचार्योपचार्यसमूहाः’ (३. १. १३१) इति निपात्यन्ते । समूहो ढौक्यत इत्यग्निः समूहः । परिचीयते परिचार्यः । उपचीयते उपचार्यः । इत्यग्निनामधेयानि प्रयोगविषयाणि ॥

टीका० — समूहादयस्त्रयो यागवह्नौ । प्रयोगिणः, प्रयोक्तव्या इत्यर्थः । नान्यत्र, यज्ञादिविषये निपातनाद् ‘अग्नौ परिचार्योपचार्यसमूहाः’ (३. १. १३१) इत्यनेन । ‘ऊह वितर्के’ । ण्यत् । समूहो दीर्घमध्यः । एवं परिपूर्वाचिनोतेर्ष्यदायदेशौ । परिचार्यः । उपपूर्वादुपचार्यः ॥

यो गार्हपत्यादानीय दक्षिणाग्निः प्रणीयते ।

तस्मिन्नानायः

क्षीर० — ‘आनाय्योऽनित्ये’ (३. १. १२७) इति साधुः । आनीयते आनायः । प्रणीयते दक्षिणाग्नित्वेन संस्क्रियते ॥

टीका० — उत्तरस्थाद् गार्हपत्याद् योऽग्निः प्रणीयते आरोप्यते स आनायः । ‘आनाय्योऽनित्ये’ (३. १. १२७) इत्यनेनाङ्पूर्वाच्यतेः पूर्ववदप्यदायदेशौ । एतद(रुच्याऽनित्यम्) ॥

अथाग्रायी स्वाहा च हुतभुक्तिप्रया ॥ २१ ॥

क्षीर० — ‘वृषाकप्यग्निकुसित —’ (४. १. ३७) इति ङीप्प्रसङ्गेणैत्वम् । सुग्राह्यते स्वाहा, स्वाहास्त्यस्या वा ॥

टीका० — अग्रायीत्रयमग्निभार्यायाम् । अग्निशब्दाद् ‘वृषाकप्यग्नि-

१. ‘रुन्तन्यत’ ग. घ. ड. पाठः. प्रणयः ॥’ ग. पाठः.

२. ‘यो व’ ख. पाठः.

३. ‘ते

कुसितकुसिदानामुदात्तः' (४. १. ३७) इति ङीप् ऐकारश्चान्तादेशः । अमा-
यी । सुष्ठु आहूयन्ते देवा अनयेति स्वाहा । पृषोदरादिः ॥

ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धनी ।

क्षीर० — समिधामाधानी सामिधेनी । 'समिधामाधाने (पे)ण्यण्'
(वा० ४. ३. १२०) । धीयतेऽनया धाय्या । 'पाय्यसान्नाय्य—'(३. १.
१२९) इति साधुः ॥

टीका० — अग्निसमिन्धनेऽग्निज्वलने या ऋक् पठ्यते तत्र सामि-
धेनीद्वयम् । 'समिधामाधाने पेण्यण् वक्तव्यः' (वा० ४. ३. १२०) इति तस्ये-
दमर्थे पेण्यण् । पित्वाद् ङीप् । 'हलस्तद्धितस्य' (६. ४. १५०) इति यलोपः ।
सामिधेनी । 'पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु' (३. १.
१२९) इत्यनेन धाञो ण्यदायादेशाभ्यां धाय्या निपातिता ॥

गायत्रीप्रमुखं छन्दः

क्षीर० — गायन्तं त्रायते गायत्री । गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्हहतीपङ्क्ति-
त्रिष्टुब्जगत्यतिजगतिश्कर्त्यतीशक्यष्ट्यत्यष्टिष्ट्यतिष्टुतिकृतिप्रकृत्याकृतिवि-
कृतिसङ्कृत्यभिकृत्युत्कृत्याख्यं षडक्षरादारभ्य पञ्चविंशत्यक्षरं यावत् ।
छन्दति छन्दोऽक्षरनियमात्मकं, गुरुलघुनियमात्मकं तु वृत्तं तनुमध्यादि ॥

टीका० — गायत्रीप्रमुखं गायत्र्याद्यं छन्दश्शब्दवाच्यम् । आदिनो-
ष्णिगनुष्टुब्हहतीपङ्क्त्यादीनां ग्रहणम् ।

“कात् का हरेर्नृता कस्य मूर्ध्ववर्गग्रहः कथम् ।

ऋक्षत्रिक्ष + चाष्टौ(?) स्युर्वर्णाः पादेष्वनुष्टुभि ॥”

इति विदग्धे द्विरुकारवाननुष्टुब् भान्ता च । तत्र षडक्षरा गायत्री, ततो यथाक्रम-
मेकैकाक्षरवृद्ध्या क्रमादुष्णिगादीनां पादाः । गायन्तं त्रायत इति गायत्री ।
गौरादिः । 'चदि आह्लादने' । 'चदेरादेश्च छः' (उ० ४. २२०) इत्यसुन्
आदेश्च छः । छन्दः ॥

श्रुवन्तु विशेषविधिनैव पुमानुक्तः । श्रुव उक्तः, ततश्चाप् । उपपूर्वाद् भृजः
 क्तिप्, उपभृन् । 'हुवः श्रुवच्च' (उ० २. ६३) इति क्तिप्, दीर्घत्वं श्लुवच्च ।
 'श्रौ' (३. १. १०) इति द्विवचनम्, 'कुहोः—' (७. ४. ६२) इति लुत्वादि,
 जुहः । 'श्रु गतौ' । 'श्रुवः क्तिप्' (उ० २. ६४) इति क्तिप् । उवङ्, श्रुवः ।
 'चिक् च' (उ० २. ६५) इति क्तिप्प्रत्ययः इकारककारावनुबन्धौ । 'चोः
 कुः' (८. २. ३०) कुत्वम् । श्रुक् । स्त्रिविधातोः क्तिप् । 'ज्वरत्वम्—' (६. ४. २०)
 इत्युठि नृरित्यपि श्रुशब्दसमाना बोद्धव्या ॥

उपाकृतः पशुरसौ योऽभिसम्पन्नः ऋतौ हतः ॥ २५ ॥

क्षीर० — उपामन्य क्रियते हन्यते स्मोपाकृतः ॥

टीका० — मन्त्रेण पवित्रीकृत्य शस्त्रहतमात्रे पशुमुपाकृतः । 'कृन् हिं-
 सायाम्' । स्वादिः । क्तः । 'यद्युपाकृतः पशुः पलायेदि'ति जीवत्यपि ताडितमात्रेऽपि ॥

परम्पराकं शमनं प्रोक्षणं तत्र यो वधः ।

क्षीर० — परं परमकति परम्पराकम् । शसनमिति तु युक्तः
 पाठः । 'शसु हिंसायाम्' । प्रोक्षणं लक्षणया वधः, प्रोक्ष्य हि यज्ञे पशु-
 र्हन्यते ॥

टीका० — परम्पराकत्रयं यागार्थपशुहन्तने । शर्मैल्युद् । शमनम् ।
 'उक्ष मेचने' । ल्युद् । प्रोक्षणम् ॥

वाच्यलिङ्गाः प्रसीतोपसम्पन्नप्रोक्षिता हन्ते ॥ २६ ॥

क्षीर० — यज्ञ इति शेषः । 'मीङ् हिंसायाम्' । उपसम्पन्नत उप-
 सम्पन्नः । प्रोक्ष्यतेऽम्भसेति प्रोक्षितः । प्रसीतादयोऽर्थवलिङ्गास्त्रयः शब्दा
 हन्ते वर्तन्ते ॥

१. 'ति चिक्' ज. पाठः. २. 'रस्पर' क. ग. घ. पाठः.

† 'कः' इति मुद्रितोणादिपाठः ।

श्रीका० — यागार्थं वारितं पश्वद्वौ प्रसीतत्रयम् । 'मीड् हिंसायाम्' ।
 क्तः । प्रसीतः । पदेः क्तः । उपसम्पन्नः ॥

गारायां त्रिः

श्री० — सतीश्वरी । 'पाठ्यसामान्य' (३. १. १२९) इति
साधुः । हृषते त्विः ॥

टीका० — हविरित्यनेन दधिप्योरूपं हविर्ग्राह्यम् । तत्र सान्नाय्यम् ।
 'पाय्यसान्नाय्य —' (३. १. १२९) इत्यादिना संपूर्वाचन्यतेर्ष्यदायादेशौ दीर्घत्वं
 च निपात्यते, ततः स्वार्थे(वा)ण् । हविरिति इस्मिप्रत्ययान्तं क्लीबे च ॥

अस्मिन्नेति चेत् तत्राह ।

क्षीर० — वषट्पुनःत्रिंशत्वेन हुतं वषट्कृतम् । अर्थबलिङ्गम् ॥

टीका० — अग्नौ हुते इव्ये वषट्कृतम् ॥

श्रीगणेशाय नमः

क्षीर० — कवचिन्मो मुनिर्लोकात्मजः ॥

श्रीका० — दीक्षान्तद्वयं प्रधानयागसमापको न्यूनाधिकदोषनिरासाय
(यत्? यः) क्रियते तत्र । 'दीक्षान्तावसृष्टौ समौ' इति रभसः । प्रधानयागो
दीक्षा, तस्यान्तो दीक्षान्तः । 'अवे सृजः' (उ० २. ३) इति वक्षन् । अवसृजः ॥

तत्कर्मार्हं तु यज्ञियम् ॥ २७ ॥

۱۵۴

क्षीर० — यज्ञकर्माहति यज्ञियम् । 'यज्ञातिगभ्यां वखनौ' (५.
१. ७१) । 'तत्कर्माहती'त्युपसङ्गानात् ॥

टीका० — यज्ञकर्माहं वस्तुनि यज्ञियम् । 'यज्ञत्विग्भ्यां घस्वजौ'
(५. १. ७१) इति घः । तच्छब्देन यज्ञः परामृश्यते । द्वियां यज्ञिया
भूमिः ॥

अथ क्रतुकर्मैष्टं

क्षीर० — इज्यते स्मेष्टं यागादि । यदाह —

“एकाधिकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद् दानमिष्टं तदभिधीयते” ॥

टीका० — क्रतुकर्म यत् तदिष्टम् । यजेः क्तः । वच्यादिसम्प्रसारणम् ॥

पूर्तं स्वातादिकर्मणि ।

क्षीर० — पिपतिं पूर्तम् । ‘न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम्’ (८. २. ५७) इति निष्ठानत्वाभावः । स्वातं वाप्यादि । यदाह —

“वापीकूपतटाकानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तं मर्त्याः प्रचक्षते ॥”

टीका० — स्वातं पुष्करिणी । आदिना देवकुलादि । एतत् पूर्ताख्यम् ।
तदुक्तं —

“पुष्करिण्यः सभा वापी देवस्यायतनानि च ।
आरामश्च विशेषेण पूर्तं कर्म विनिर्दिशेत् ॥”

इति । ‘पृ पालनपूरणयोः’ । क्तः । ‘उदोष्ठ्यपूर्वस्य’ (७. १. १०२) इत्युत्वम् ।
‘हलि च’ (८. २. ७७) इति दीर्घः । ‘न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम्’ (८. २. ५७)
इति निष्ठानत्वप्रतिषेधः ॥

अमृतं विघसो यज्ञशेषभोजनशेषयोः ॥ २८ ॥

क्षीर० — न म्रियते न नश्यत्यमृतम् । यज्ञशिष्टमदनम् । विशि-
ष्टमदनं विघसः । भुक्तशिष्टम् । ‘उपसर्गेऽदः’ (३. ३. ५९) इत्यप ।
‘घञपोश्च’ (२. ४. ३८) इति घस्लादेशः । यन्मनुः —

“विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशिष्टं स्याद् यज्ञशिष्टमथामृतम्” ॥

टीका० — यथाक्रमं यज्ञशेषे दधिघृतादावमृतं, देवतातिथ्यादीनां भुक्तशेषे विधसः । दन्त्यसः । अमृतमुक्तम् । विपूर्वाददेः 'उपसर्गेऽदः' (३. ३. ५९) इत्यप् । 'घञपोश्च' (२. ४. ३८) इति घस्लादेशः ॥

त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने ।

विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम् ॥ २९ ॥

प्रदेशनं निर्वपणमपवर्जनमंहतिः ।

क्षीर० — स्वत उपसर्गवशाच्चैते दानार्थाः । स्पर्शनं तूपचाराद् दानं, पुच्छादौ गवादिकं स्पृष्टा हि दीयते । 'ओहाक् त्यागे' । 'श्रण दाने' । अंहतेऽहतिः । उपसर्गाद्यपि ॥

टीका० — त्यागत्रयोदशकं दाने । त्यजतेर्घञ् । त्यागः । विपूर्वाज्ज-
हातेः स्वार्थे हेतुमणिच् । 'अर्तिह्वी—' (७. ३. ३६) इत्यादिना पुगागमः ।
'नपुंसके भावे क्तः' (३. ३. ११४) । 'निष्ठायां सेटि' (६. ४. ५२) इति णि-
लोपः । विहापितम् । दानादयस्तु 'डुदाञ् दाने' । 'सृज विसर्गे' । 'श्रण
दाने' । तालव्यादिः । चुरादिः । 'तृ प्लवनतरणयोः' । 'स्पृश संस्पर्शे' । 'पद
गतौ' । णिच् । 'दिश अतिसर्जने' । 'डुवप् बीजतन्तुसन्ताने' । 'वृजी वर्जने' ।
एभ्यो ल्युट् । हन्ति दुर्निमित्तमंहतिः । 'हन्तेरंह च' (उ० ४. ६३) इत्यतिरंहा-
देशश्च ॥

मृतार्थं तदहे दानं त्रिषु स्यादौर्ध्वदैहिकम् ॥ ३० ॥

क्षीर० — तदहे प्रेतदिने मृतमुद्दिश्य दानं पिण्डोदकादि । ऊर्ध्वं
देहाद् भवमौर्ध्वदैहिकम् । 'ऊर्ध्वं दमाद् देहाच्च' (वा० ४. ३. ६०) इति
ठञ् । अनुश्रुतिकादित्वादुभयपदद्वयमाहुः ॥

टीका० — मृतार्थं यदहर्दानं मृताहःप्रभृति पिण्डादिदानं, तदौर्ध्वदै-
हिकम् । ऊर्ध्वदेहे भवमित्यर्थे 'ऊर्ध्वदेहाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ४. ३. ६०)
इति ठञ् । 'वकारवत्त्वादिकं नात्र्योक्तावुक्तम् (?) ॥

द्वयम् । 'षण्णु दाने' । 'धात्वादेः षः सः' (६. १. ६४) । *'सनिकषि —' (३०. ४. १४१) इत्यादिना इः । अन्वेषणावदध्येषणा ॥

याच्ञाभिषस्तिर्याचनार्थनां ॥ ३२ ॥

क्षीर० — याचनं याच्ञा । 'यजयाच —' (३. ३. ९०) इति नङ् । 'ण्यासश्रन्थ —' (३. ३. १०७) इति बाहुलकाद् युच् । अभिपसनमभिपस्तिः । 'षस स्वप्ने' ॥

टीका० — प्रार्थनामात्रे याच्ञाचतुष्कम् । 'यजयाच —' (३. ३. ९०) इत्यादिना नङ् । याच्ञा । 'शंसु स्तुतौ याचने च' । बाहुलकः क्तिन् । अभिशस्तिः । 'टुयाचृ याच्ञायाम्' । ल्युट् । याचना । 'अर्थ उपयाच्ञायाम्' । चुरादिः । 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३. ३. १०७) । अर्थना ॥

षट् तु त्रिषु

क्षीर० — आगन्त्वन्ताः षट् त्रिलिङ्गाः स्युरिति ॥

टीका० — आगन्तुपर्यन्ताः परे त्रिषु ॥

अर्घ्यमर्घार्थे

क्षीर० — वारिणीत्येव । 'पादार्धाभ्यां च' (५. ४. २५) इति यत् ॥

टीका० — अर्घः पूजाविधिः । तदर्थे पुष्पदूर्वादावर्घ्यम् । 'पादार्धाभ्यां च' (५. ४. २५) इति यत् ॥

पाद्यं पादाय वारिणि ।

टीका० — अभ्यागतादेः पादप्रक्षालनाय दीयमानजले पाद्यम् । अर्घ्यवद् यत् ॥

क्रमादातिथ्यातिथेये अवतिथ्यर्थेऽत्र साधुनि ॥ ३३ ॥

'सनिकषि —' इति मुद्रितोणादिपाठः.

क्षीर० — अतिथये इदमातिथ्यम् । §‘अतिथेर्ण्यः’ (५. ४. २६) ।
अतिथौ साध्वातिथेयम् । ‘पथ्यतिथि —’ (४. ४. १०४) इति ढञ् ।
कात्यस्त्वाह—

“आवेशिकं विपश्चिद्धिरातिथ्यमभिधीयते ” ॥

टीका०— अतिथ्यर्थे भक्तादौ अतिथौ साधुनि कर्मादौ यथाक्रममे-
कैकमातिथ्यद्वयम् । §‘अतिथेर्ण्यः’ (५. ४. २६) इति ण्यः । आतिथ्यम् । ‘पथ्य-
तिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्’ (४. ४. १०४) । आतिथेयम् । स्त्रियामातिथेयी ॥

स्युरावेशिक आगन्तुरतिथिर्ना गृहागते ।

क्षीर० — अवेशे अप्रतिवेशे भव आवेशिकः ।

“नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा”

इति स्मृतेः । नास्ति तिथिरस्यातिथिः । ‘अत सातत्यगमने’ । अतति स-
ततं गच्छति वा । यत् स्मृतिः—

“अध्वनीनोऽतिथिः प्राधूर्णिकः प्राहुणिकः स्मृतः ।

आगते स्वगृहं तस्मिन्नभ्युत्थानं तु गौरवम्” ॥

टीका० — गृहादागते मानुषविशेषे आवेशिकत्रयम् । आवेशाद्
गृहादागत इति ‘तत आगत’ (४. ३. ७४) इति ढञ् । सेतुवदागन्तुः ।

“अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते”

इति मनुः । ‘अत सातत्यगमने’ । ‘ऋतन्यञ्जि—’ (उ० ४. २) इत्यादिना इतिन् ।
अतिथिः । ‘अतिथिर्द्वयोरिति’ त्रिकाण्डशेषः । स्त्रियामतिथी ॥

पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चाहणाः समाः ॥ ३४ ॥

रि० — ‘नमोवरिवश्चित्रडः क्यच्’ (३. १. १९) इति नमसः

१. ‘थिः । अतति’, २. ‘कोऽपि च ।’ ख. पाठः.

§ ‘अतिथेर्ण्यः’ इति मुद्रिताष्टाध्यायीपाठः ।

पूजायां क्यच् । 'अ प्रत्ययात्' (३. ३. १०२) । अपचयनमपचितिः । 'अ-
पचितश्च' (७. २. ३०) इत्यत्रे 'क्तिनि नित्यं चिभावोऽनित्यत्वं (च) वक्त-
व्यम्' इति । सपरं साधुः सपर्या, सह पर्यायेण क्रमेण वर्तते वा ॥

टीका० — पूजाषट्कं पूजायाम् । पूजयते: 'चिन्तिपूजि —' (३.
३. १०५) इत्यादिना अङ् । पूजा । नमःशब्दाद् 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्'
(३. १. १९), 'नमसः पूजायाम्' (वा० ३. १. १९) इति वचनात् । 'अ
प्रत्ययात्' (३. ३. १०२) इत्यकारप्रत्ययः । नमस्या । 'चायु पूजानिशामनयोः'
'क्तिनि नित्यं चिभावो वक्तव्यः' (वा० ७. २. ३०) । अपचितिः । सपरशब्दस्य
कण्ठादिपाठाद् यक् । सपर्या दन्त्यादिः । 'अर्च पूजायाम्' । 'गुरोश्च हलः' (३. ३.
१०३) इत्यः । अर्चा । 'अर्ह पूजायाम्' । युच् । अर्हणा ॥

वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासनम् ।

क्षीर० — 'वरिवसः परिचर्यायां' (वा० ३. १. १९) । क्यच् ।
शुश्रूषा गुरुसेवा लक्षणया वृत्त्या । परिचरणं परिचर्या । 'परिच-
र्यापरिसर्यामृगयाटाद्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' (वा० ३. ३. १०१) । 'प-
रिचर्या तु पर्येष्टिरिति भागुरिः । परिव्रज्या तपस्या रुद्राङ्कुशो
विशाखिका ॥

टीका० — वरिवस्याचतुष्कमुपासने । वरिवश्शब्दादव्ययाद् नमस्या-
वत् क्यजादिः । 'परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाद्यानामुपसङ्ख्यानम्' (३. ३. १०१)
इत्यतः शप्रत्ययान्ता(त्?) परिचर्या निपात्यते । शृणोते: सनन्तादप्रत्यये शुश्रूषा ।
आस्तेर्युट् । उपासनम् ॥

व्रज्याटाद्या पर्यटनं

१. 'चा', २. 'त्र चाये: क्ति', ३. 'या।प' ख. पाठः. ४. 'स' ख. ड.
छ. ट. पाठः. ५. 'तिता।शृ' ज. पाठः.

क्षीर० — व्रजनं व्रज्या । 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' । (३. ३. ९८) ।
कुटिलप्रटनमद्राख्या । सूचिसूत्रिमूयव्यत्यर्थशूर्णोतीनामुपसङ्ख्यानान् यङ-
न्तादप्रत्ययः । यन्मनुः —

“तौर्यत्रिकमटाख्या च कामजो दशको गुणः” ।

स्त्रीत्वं च नीवारवेन्येतिवत्(?) । एवं 'गदमदचर —' (३. १. १००)
इति चर्या ॥

टीका० — भिक्षाद्यर्थं सदाटने व्रज्यात्रयम् । 'व्रजयजोर्भावे क्यप्'
(३. ३. ९८) । व्रज्या । परिचर्यावदटाख्या निपातिता । 'अटाख्या पर्यटनं
भ्रमः' इति रत्नमाला ॥

चर्या त्वीर्यापथस्थितिः ॥ ३५ ॥

क्षीर० — ईर्यापथे ध्यानमौनादिके सुबोधमार्गाख्ये भिक्षुवृत्ते
स्थितिरनुष्ठानम् । 'चर्या त्वीर्या विदुर्बुधाः' इति मुनिः ॥

टीका० — यतीनां गतिस्थितिनिषद्याशयनीयानीर्यासंज्ञानि । तस्मिन्नी-
र्यावर्त्मनि रियतिश्चर्या । 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' (३. १. १००) इति
भावे यत् ॥

उपस्पर्शस्त्वाचमनम्

क्षीर० — उपस्पृश्यन्तेऽद्भिः खान्यत्रोपस्पर्शः । आचम्यतेऽम्भो-
ऽत्राचमनम् ॥

टीका० — उपस्पर्शद्वयमाचमने । 'चमु अदने' । ल्युट् । आचमनम् ॥

अथ मौनमभाषणम् ।

१. 'कं वृथाटाख्या का' ग. घ. ड. पाठः. २. 'क' क. ग. घ. ड. पाठः. ३.
'थे' ख. पाठः. ४. 'सम्यग् बो' ग. घ. ड. पाठः.

क्षीर० — मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् । 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५. १. १३१) । अण् ॥*

टीका० — मौनद्वयं मौने । मुनेः कर्म मौनम् । 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५. १. १३१) इत्यण् ॥

आनुपूर्वी स्त्रियां आवृत्परिपाटी अनुक्रमः ॥ ३६ ॥

पर्यायश्च

क्षीर० — पूर्वानुक्रमेणानुपूर्व, तस्य भाव आनुपूर्वी । घञ् ।
॥ इ वा स्त्रीत्वम् । आवर्तनमावृत् । सम्पदादिक्विवन्तः । परिपाटनं
पारिपाटिः । इञ् । आवृत्परिपाट्योर्द्वन्द्वात् स्त्रीत्वम् । पर्यायणं पर्यायः ।
'परावनुपात्यय इणः' (३. ३. ३८) इति घञ् ॥

टीका० — आनुपूर्वीपञ्चक्रमनुक्रमे । अनुपूर्वस्य भाव आनुपूर्वी । घञ् ।
षित्त्वाद् ङीप् । 'हलस्तद्धितस्य' (६. ४. १५०) इति यलोपः । पक्षेऽभाषण-
साहचर्यादानुपूर्व्यं योषधम् । नीवृदिवावृद् दीर्घादिः । 'अट पट गतौ' । घञ् ।
ङीषि परिपाटी । 'परावनुपात्यय इणः' (३. ३. ३८) इति घञ् । पर्यायः ॥

अतिपातस्तु विपर्यय उपात्ययः ।

क्षीर० — विपर्ययः क्रमोलङ्घनम् । अतिक्रमश्च ॥

टीका० — अतिपातत्रयं व्यतिक्रमे । भावे घञ् । अतिपातः ।
एतेरेरचि पर्यायोपात्ययौ ॥

१. 'यामावृ' ख. घ. पाठः. २. 'मणमनु' ग. घ. ङ. पाठः. ३. 'दि । प' ख.
पाठः. ४. 'स्यात् प', ५. 'यः । क्र' ख. पाठः.

* इतः परं—

“प्राचेतसस्त्वादिकविः स्यान्मैत्रावरुणिश्च सः ।
वाल्मीकिश्चाथ गावेयो विश्वामित्रश्च कौशिकः ।
व्यासो द्वैपायनः पाराशर्यः सत्यवतीस्तुतः ॥”
इति व्याख्यास्पृष्टमर्थत्रयमाधिकं दृश्यते ।

नियमो व्रतमस्त्री तत्रोपवासादि पुण्यकम् ॥ ३७ ॥

क्षीर० — वर्ज्यतेऽन्नादि अत्रेति व्रतम् । उपवासादि कृच्छ्रचान्द्रायणादि पुण्यैकपर्यायम् । 'संज्ञायां कन्' (५. ३. ७५) ॥

टीका० — शास्त्रविहिते नियमे व्रतम् । तच्च व्रतमुपवासादिलक्षणं पुण्यकमुच्यते । आदिशब्दाद(क्षैः)क्षा)रादि ॥

औपवस्त्रं तूपवासः

क्षीर० — उपवस्ता प्राप्तोऽस्यौपवस्त्रम् । 'उपवस्त्रादिभ्यः' इत्यण् । उपवस्तस्येदमौपवस्तमित्येके । 'वसु स्तम्भे' । क्तः । उपवस्तुरिदमन्नाद्यमिति (वा) । यत् स्मृतिः —

“माषान् मधु मसूरांश्च वर्जयेदौपवस्त्रके” ॥

टीका० — उपवस्तद्वयमुपवासे । 'वसु स्तम्भे' । क्तः । उपवस्तम् ॥

विवेकः पृथगात्मता ।

क्षीर० — प्रकृतिपुरुषपृथग्ज्ञानं विवेकः । भावानां पृथक्स्वरूपत्वमित्येके । 'विचिर् पृथग्भावे' ॥

टीका० — प्रकृतिपुरुषयोर्विभागेन ज्ञानं विवेकः ॥

स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनार्द्धिः

क्षीर० — ब्रह्मणस्तपःस्वाध्यायादेर्वर्चस्तेजो ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' (५. ४. ७८) इत्यच् ॥

टीका० — वृत्तस्य वेदाध्ययनस्य या सम्पत्तिर्गुणोत्कर्षस्तद् ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' (५. ४. ७८) इत्यच् समासान्तः ॥

अथाञ्जलिः ॥ ३८ ॥

१. 'य' क. पाठः. २. 'ण्यप' ख. पाठः. ३. 'का' ज. पाठः. ४. 'वर्चभावस्त' ख. ज. पाठः.

पाठे ब्रह्माञ्जलिः

क्षीर० — ब्रह्मणे वेदायाञ्जलिः ।

“संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः” ॥

टीका० — सामवेदपाठे योऽञ्जलिः स्वरविभागार्थं क्रियते, स ब्रह्मा-
ञ्जलिः ॥

पाठे विप्रुषो ब्रह्मावेन्दवः ।

क्षीर० — वेदपाठे आस्यनिर्गता जलकणा ब्रह्मविन्दवः ॥

टीका० — वेदपाठे निस्सृताः श्लेष्मविन्दवो ब्रह्मविन्दव इत्यु-
च्यन्ते ॥

ध्यानयोगासने ब्रह्मासनं

क्षीर० — ध्यानयोगयोरस्यतेऽनेनासनम् । ध्यानमेकाग्रतया चि-
न्तनम् । यथाह —

“तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानं, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” ॥

टीका० — ध्यानयोगयोरसने ऊर्ध्वपादस्वस्तिकपद्मासनादौ ब्रह्मा-
सनम् । निराकारज्ञानभावनं ध्यानं, साकारज्ञानभावनं योगः ॥

कल्पे विधिक्रमौ ॥ ३९ ॥

क्षीर० — कल्प्यते, विधीयते, क्रम्यते चानेन विनियोगशा-
स्त्रेणेति ॥

टीका० — वादके विधाने कल्पत्रयम् । त्रयमपि प्रागेव सा-
धितम् ॥

मुख्यः स्यात् प्रथमः कल्पः

क्षीर० — आद्यो विधिरित्यर्थः ॥

टीका० — शास्त्रविहितः प्रथमः कल्पो मुख्यः, यो ब्रीह्यादियोगः ।
मुखमिव मुख्यः । 'शाखादिभ्यो (यत्, यः) (५. ३. १०३) ॥

अनुकल्पस्तु ततोऽधमः ।

क्षीर० — मुख्याभावे प्रतिनिधिसंज्ञः ॥

टीका० — तदभावे किञ्चिदधमे नीवारादौ यागेऽनुकल्पः ॥

संस्कारपूर्वं ग्रहणं स्यादुपाकरणं श्रुतेः ॥ ४० ॥

क्षीर० — उपाक्रियतेऽनेनेत्युपाकरणं, वेदपाठारम्भे विशिष्टो वि-
धिः । 'रोहिण्यां छन्दांस्युपाकुर्याद्' इति हि श्रुतिः ॥

टीका० — संस्कारो वदुकरणं, तत्पूर्वकं श्रुतेर्वेदस्य ग्रहणमुपा-
करणम् ॥

समे तु पादग्रहणमभिवादनमित्युभे ।

क्षीर० —

"वामेन वामः स्पष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः"

इति पादोपसङ्ग्रहणम् । अभिवादयते आशिषं कारयतेऽनेनौभिवादनम् ।
अत एवाभिवाद्य उपसङ्गाह्यः ॥

टीका० — पादग्रहणद्वयमभिवादाने ॥

भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी ॥ ४१ ॥

तपस्वी तापसः पारिकाङ्क्षी

क्षीर० — भिक्षते भिक्षुः । 'सनाशंसभिक्ष उः' (३. २. १६८)
परिवर्ज्यते सर्वं सन्न्यस्य व्रजति परिव्राट् । 'परौ व्रजे षः पदान्ते'
(उ० २. ६२) इति क्तिप् षत्वं च । कर्मन्देन पाराशर्येण च प्रोक्तं
भिक्षुसूत्रमधीते । 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' । (४. ३. १११) 'पाराशर्यशिला-
लिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४. ३. ११०) । णिनिः । माँ कृषत कर्माणि

१. 'यी' ख. पाठः. २. 'म् । अभिवादनम् अभि', ३. 'न । अत' ख. पाठः.
४. 'साकृतिक' ख. पाठः.

मुक्तिर्वः श्रेयसीति मस्करी । 'मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः' (६. १. १५४) इति साधुः । तपोऽस्यास्ति । 'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' (५. २. १०२) । 'अण् च' (५. २. १०३) । 'अन्येषामपि—' (६. ३. १३७) इति दीर्घात् पारिकाङ्क्षी ॥

टीका० — भिक्षुपञ्चकं न्वतुर्थाश्रमिणि भिक्षौ । 'सनाशंसभिक्ष उः' (३. २. १६८) इत्युः । 'परौ व्रजेः षश्च पदान्ते' (उ० २. ६२) इति किच् दीर्घश्च धातोः षश्चान्तादेशः पदान्ते । परिव्राड् जान्तः । कर्मन्दीर्घ-मोक्तसूत्रमधीत इति कर्मन्दी । 'कर्म-दकृशाश्चादिनिः' (४. ३. १११) इतीनिः । ततः 'तदर्धते—' (४. २. ९९) इत्यण् । तस्य 'प्रोक्ताल्लुक्' (४. २. ६४) । पारा-शर्यप्रोक्तसूत्रमधीते पाराशरी, तालव्यवान् । 'पाराशर्यशिलाढिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४. ३. ११०) इति णिनिः । पूर्ववदण्लुक् । 'मस्करमस्करिणौ वे-णुपरिव्राजकयोः' (६. १. १५४) इति निपातनान्मस्करी । तपस्वित्रयं तपोधने । 'तपस्सहस्राभ्यां विनीनी' (५. २. १०२) इति विनिः । तपस्वी । मत्वर्थे 'अण् च' (५. २. १०३) इत्यण् । तापसः । परं ब्रह्मज्ञानं काङ्क्षत इति पारिकाङ्क्षी । आवश्यको णिनिः । षष्ठोदरादित्वात् पूर्वपदाकारस्येत्वं पकाराकारस्य च दीर्घत्वम् ॥

वाचंयमो मुनिः ।

क्षीर० — वाचं यच्छति मौनेनास्ते वाचंयमः । 'वाचि यमो व्रते' (३. २. ४०) इति खच् । मन्यते मुनिः । भिक्षुपर्यायावेता-वित्येके ॥

टीका० — वाचंयमद्वयं मौनव्रतिनि । 'वाचि यमो व्रते' (३. २. ४०) इति खच् । 'मनेरुच्च' (उ० ४. १२४) इति किः । मुनिः ॥

तपःक्लेशसहो दान्तः

क्षीर० — तपःक्लेशादनुद्विग्नः । 'वा दान्तशान्त —' (७. २. २७) इति साधुः ॥

टीका० — सत्यपि तपःकेशेऽनुद्दिशो दान्तः । 'वा दान्तशान्त —'
(७. २. २७) इत्यादिना इङ्गविकल्पः ॥

वर्णिनो ब्रह्मचारिणः ॥ ४२ ॥

क्षीर० — वर्णोऽस्यास्ति वर्णी । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' (५. २. १३४)
इतीनिः । ब्रह्म चरति तच्छीलो ब्रह्मचारी ॥

टीका० — वर्णिद्वयं ब्रह्मचारिणि । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' (५. २. १३४)
इतीनिः । वर्णी ॥

ऋषयः सत्यवचसः

क्षीर० — दर्शनादृषिरविसंवादिवाक् ॥

टीका० — ऋषिद्वयमृषौ । ज्ञानस्य पारगमनादृषिः । 'ऋषी गतौ' ।
'इगुपधात् किः' (उ० ४. १२१) इति किः । स्त्रियामृषी च ॥

स्नातकस्त्वाप्लुतो व्रती ।

क्षीर० — 'स्नात वेदसमाप्तौ' (ग० ५. ४. २९) इति यावा-
दित्वात् कन् । यो व्रतवान् तीर्थेष्वप्लवते स्नातीत्याप्लुतः सः, स्नातकः ।
यत् स्मृतिः —

“गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायाद् वा तदनुज्ञया ।

वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वाप्युभयमेव वा” ॥

(याज्ञ० अध्या० १. श्लो० ५१)

टीका० — समाप्तवेदाध्ययनानन्तरं यः स्नानशील आश्रमान्तरं गच्छति
तत्र स्नातकद्वयं । 'पुण्यस्नातवेदसमाप्तौ' (ग० ५. ४. २९) इति यावा-
दिगणपाठात् कन् ॥

ये निर्जितेन्द्रियग्रामा यतिनो यतयश्च ते ॥ ४३ ॥

क्षीर० — यतं यमनमस्यास्ति यती । यच्छत्युपरमति यतिः ॥

टीका० — निर्जितेन्द्रियगणे वसिष्ठादौ यतिद्वयम् । यतम् इन्द्रियसंयमोऽस्यास्तीति यती, इन्नन्तः । 'यती प्रयत्ने' । 'इन्' (उ० ४. ११९) इति इन् । यतिः ॥

यः स्थण्डिले व्रतवशाच्छेते स्थण्डिलशाख्यसौ ।
स्थाण्डिलश्च

क्षीर० — आद्यस्य 'व्रते' (३. २. ८०) इति णिनिः । परस्य 'स्थण्डि-
लाच्छयितरि व्रते' (४. २. १५) इत्यण् ॥

टीका० — व्रतकाम्यया स्थण्डिले शयितरि स्थण्डिलशायिद्वयम् ।
'व्रते' (३. २. ८०) इति णिनिः । स्थण्डिलशायी । 'स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते' (४.
२. १५) इत्यणि स्थाण्डिलः ॥

अथ विरजस्तमसः स्युर्द्वयातिगाः ॥ ४४ ॥

क्षीर० — विगते रजस्तमसी येभ्यः, सात्त्विका इत्यर्थः । द्वय-
मतिगच्छन्ति अतिक्रामन्ति द्वयातिगाः ॥

टीका० — रजस्तमःशून्याः केवलसत्त्वस्था द्वयातिगा उच्यन्ते । 'अन्ये-
भ्योऽपि —' (वा० ३. २. १०१) इति डः ॥

पवित्रः प्रयतः पूतः

क्षीर० — पूयतेऽनेन पवित्रः । प्रयतते प्रयच्छत्युपरमति वा प्रयतः ।
शुचिः पुण्यः पावनश्च ॥

टीका० — शुचिपुरुषादौ पवित्रत्रयम् । 'अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ'
(उ० ४. १७४) इति इत्रः । पवित्रः । 'पूडश्च' (७. २. ३१) इतीड्विकल्पेन
पवित इत्यपि ॥

प पाण्डाः सर्वलिङ्गिनः ।

क्षीर० — पाषाणं नन्दन्ति पाषण्डाः । वेदबाह्यव्रताः । सर्वलि-

ज्ञिनः क्षपणकाद्याः, सर्वाणि लिङ्गानि सन्त्येषाम् । भयव्रता इत्येके ।
आहुश्च —

“नानाव्रतधरा नानावेषाः पाषण्डिनो मताः” ॥

टीका० — वेदव्यवहारबाह्ये कापालिकक्षपणकादौ पाषण्डद्वयम् । पाषण्डो मूर्धन्यषः । सर्वेषामाश्रमाणां लिङ्गं भजन्त इति सर्वलिङ्गिनः ॥

पालाशो दण्ड आषाढो व्रते

क्षीर० — आषाढासु जात आषाढः । ‘विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयोः’ (५. १. ११०) । यदाहुः — ‘आषाढो व्रतिनां दण्डः’ ॥

टीका० — व्रतिनां पालाशकृतो दण्ड आषाढः । ‘विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयोः’ (५. १. ११०) इत्यण् ॥

राम्भस्तु वैणवः ॥ ४५ ॥

क्षीर० — व्रते दण्ड इत्येव । राम्भा वेणुपर्यायः ॥

टीका० — वैणवे दण्डे राम्भः । राम्भशब्देन वंशो बोध्यते । ततोऽण् ॥

अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी

क्षीर० — कं जलमण्डे मध्ये लाति कमण्डलुः । कुण्डाद् ‘जानपदकुण्ड—’ (४. १. ४२) इत्यमत्रे ङीप् ॥

टीका० — मृण्मयादिजलाधारे कमण्डलुद्वयम् । कुण्डेरच् । कुण्डी । गौरादिः ॥

व्रतिनामासनं वृसी ।

क्षीर० — वृवन्तोऽस्यां सीदन्ति वृसी ॥

टीका० — व्रतिनां सलाङ्गूल आसने वृसी । ‘गण्डूषा मञ्जूषा

वृषी'ति मूर्धन्ये लिङ्गकारिका । 'वसा तसी वृसी मांसी'ति दन्त्यान्ते चन्द्रगोमी ॥

अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री

क्षीर० — अज्यते क्षिप्यतेऽजिनम् । चरति चर्म । कृत्यते कृत्तिः ॥

टीका० — अजिनत्रयं चर्मणि । 'अज गतिकेपणयोः' । 'अजेरज च' (उ० २. ५०) इतीनच् । वीभाववाधनार्थमजादेशः । चरतेर्मनिन् । चर्म, नान्तम् । 'कृती छेदने' । किन् । कृत्तिः ॥

भैक्षं भिक्षाकदम्बकम् ॥ ४६ ॥

क्षीर० — 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४. २. ३८) ॥

टीका० — भिक्षासमूहे भैक्षम् । 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४. २. ३८) ॥

स्वाध्यायः स्याज्जपः

क्षीर० — स्वस्य वेदस्याध्ययनं स्वाध्यायः । 'इडश्च' (३. ३. २१) इति घञ् । जपनं जपः । 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३. ३. ६१) इत्यप् ॥

टीका० — आवृत्त्या वेदाध्ययने स्वाध्यायद्वयम् । सुआङ्पूर्वाद् ध्यायतेर्घञ् । स्वाध्यायः । 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३. ३. ६१) इत्यप् । जपः । बाहुलकाद् घञि जाप इत्यपि रक्षितः ॥

सुत्याभिषवः सवनं च सा ।

क्षीर० — सोमं सुन्वन्त्यद्भिः परिवासयन्त्यस्यां सुत्या । 'संज्ञायां समञ्जः' इति क्यप् । अभिषवणमभिषवः । 'उपसर्गात् सुनोति —' (८. ३. ६५) इति षत्वम् ॥

टीका० — सुत्यात्रयं स्नाने सोमलतानिर्दलने च । 'संज्ञायां स-

मज—' (३. ३. ९९) इत्यादिना क्यप् । सुत्या । ऋदोरपि उपसर्गादिना षत्वे अभिषवो मूर्धन्यषः ॥

सर्वेनसामपध्वंसि जप्यं त्रिद्वघमर्षणम् ॥ ४७ ॥

क्षीर० — अघं मृष्यते शोध्यतेऽनेनाघमर्षणम् अब्देवत्यो वा मन्त्रस्तज्जपो वा । त्रिरात्रोपवासादिस्तूपचारात् ॥

टीका० — सर्वपापापनोदि यज्जपनीयं, तदघमर्षणम् । अघमर्षणो मन्त्रः, अघमर्षणी ऋक् ॥

दर्शश्च पौर्णमासश्च यागौ पक्षान्तयोः पृथक् ।

क्षीर० — अमावास्या दर्शः, दृश्यते चन्द्रोऽत्रेति । यागस्तूपचारात् । पूर्णिमायां पौर्णमासः, पूर्णो माश्चन्द्रस्तत्र भवः ॥

टीका० — अमावास्यायागो दर्शाख्यः । पौर्णमासीयागः पौर्णमासाख्यः । पृथगिति भिन्नौ न पर्यायौ ॥

शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत् कर्म तद् यमः ॥ ४८ ॥

क्षीर० — शरीरमात्रेणैव यत् क्रियते, तद् यम्यतेऽनेन चित्तं यमः । 'यमः समुपनिविषु च' (३. ३. ६३) इत्यप् । आह च —

“अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः” (पात०सू० २. ३०) ॥

टीका० — शरीरमात्रसाध्यं यद्, न बाह्यसाध्यं नित्यं यावज्जीवम् अहिंसासत्यादि तद् यमः ॥

नियमस्तु स यत् कर्मानित्यमागन्तुसाधनम् ।

क्षीर० — आगन्तु बाह्यं मृज्जलादि साधनं यत्र, तदेव कृत्रिमं

कर्म नियमः । यदाह —

“शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः” (पात० सू० २. ३२) ॥

“शैव और्ध्वस्रोतसिकः सिद्धान्ती शौचमार्गिकः ।
पञ्चार्थिकः पाशुपतो लौकिकोऽथ महाव्रती ॥
कपाली सोमसिद्धान्ती तान्त्रिकः स्याद् विशेषदृक् ।
यामलो द्वयमार्गी स्यात् त्रिकभेदी षडर्थिकः ॥
पूर्वाम्नायी महामार्गी भैरवी दक्षिणागमः ।
शाक्तो वामस्रोतसिकः कौल आन्वयिको मतः ॥
एकान्वयः सात्त्वतश्च वैष्णवः पाश्चरात्रिकः ।
रक्ताम्बरो भदन्तश्च शाक्यः श्रमणवन्दकौ ॥
भिक्षुः श्वेतः श्वेतपटः क्षपणर्षिर्दिगम्बरः ।
नग्राटः श्रावकाभ्रीकौ निर्ग्रन्थो जीवर्जीवकौ ॥
क्षौरं तु भद्राकरणं मुण्डनं वपनं त्रिषु ।
कक्ष्यापुटीच कौपीनं शाटी वस्त्रीति लक्ष्यतः” ॥

टीका० — आगन्तुकदेवोत्थापनादिनिमित्तमुपवासादिर्नियमः ॥

उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोद्धृते दक्षिणे करे ॥ ४९ ॥

क्षीर० — उपवीयते आत्रियते स्मोपवीतम् । दक्षिणपाणौ प्रोद्धृते यदुपवीयते तद् यज्ञार्थं सूत्रमुपवीतम् ॥

टीका० — दक्षिणकरे प्रोद्धृते वामस्कन्धनिक्षिप्तं यज्ञसूत्रमुपवीता-
ख्यम् ॥

प्राचीनावीतमन्यस्मिन्

क्षीर० — यज्ञसूत्रमित्येव । वामे करे प्रोद्धृते प्राचीनावीतम् । प्रा-

१. 'यप्र', २. 'नि' । उपवासादिकं यमः । दानादिकं नियमः । 'यमाः शैव'
ख. पाठः. ३. 'लो', ४. 'धि' घ. पाठः. ५. 'गो', ६. 'द्व' ग. घ. पाठः. ७. 'श्री',
८. 'भिक्षु' ग. घ. पाठः. ९. 'भाद्रक', १०. 'ली' ख. पाठः.

मेव प्राचीनम् । 'विभाषाश्चेरदिविख्याम्' (५. ४. ८) इति खः ।
आवीयते स्मावीतम् ॥

टीका० — श्राद्धकालेऽन्यस्मिन् वामे करे उद्धृते दक्षिणस्कन्धे नि-
क्षिप्ते प्राचीनावीतम् ॥

निवीतं कण्ठलम्बितम् ।

क्षीर० — यज्ञसूत्रमित्येव । अनुद्धृतयोरुभयोरपि कण्ठे यल्लम्बते,
तद् नियतं वीयतेऽस्मिन् निवीतम् । यन्मनुः—

“प्रोद्धृते दक्षिणे पाणानुपवीत्युच्यते द्विजः ।

सन्ध्यं प्राचीनमावीती निवीती कण्ठसज्जने” ॥

(अध्या० २. श्लो० ६३)

टीका० — यज्ञसूत्रं कण्ठादुल्लम्बितं तदेव निवीतम् ॥

अङ्गुल्यग्रे तीर्थं दैवं

क्षीर० — देवेभ्यस्तीर्यते दीयतेऽनेन तीर्थम् ॥

टीका० — अङ्गुलीनामग्रे दैवं तीर्थम् । देवस्येदं दैवम् । तेनैव तर्पण-
विधानात् ॥

स्वल्पाङ्गुल्योर्मूले कायम् ॥ ५० ॥

क्षीर० — स्वल्पा कनिष्ठाङ्गुलिः । द्वित्वम् अङ्गुलिमध्येन प्रजाप-
तिभ्यो जलदानाम्नानात् । कः प्रजापतिर्देवतास्य कायम् । 'कस्येत्'
(४. २. २५) इत्यण् इत्वं च ॥

टीका० — कनिष्ठानामिकयोर्मध्ये प्राजापत्यं तीर्थम् । को ब्रह्मा देव-
तास्येति कायम् । 'सास्य देवता' (४. २. २४) इत्यण् । 'कस्येत्' (४. २. २५)
इति इकारः । तस्य च वृद्ध्यायादेशौ ॥

मध्येऽङ्गुष्ठाङ्गुल्योः पित्र्यं

क्षीर० — अङ्गुलिस्तर्जन्यत्र । पितरो देवतास्य पित्र्यं तीर्थम् । 'वा-
यृतुपितृप्तो यत्' (४. २. ३१) ॥

टीका० — अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मूले पैत्रं, पितृदेवत्यम् ॥

• मूले त्वङ्गुष्ठस्य ब्राह्मम् ।

क्षीर० — ब्रह्मा देवतास्य ब्राह्मं तीर्थम् । 'ब्राह्मोऽजातौ' (६. ४. १७१) इति साधुः । यद् याज्ञवल्क्यः—

“कनिष्ठातर्जन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।

प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात् ॥”

(अध्या० १. श्लो० १९)

करमध्ये सौम्यं त्वाहुः ॥

टीका० — अङ्गुष्ठमूले ब्राह्मम् । ब्रह्मदेवत्यम् । विद्युन्माला नामेयं सर्व-
गुरुरनुष्टुप् ॥

स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं ब्रह्मसायुज्यमित्यपि ॥ ५१ ॥

क्षीर० — ब्रह्मणो ज्ञानस्य भवनं ब्रह्मभूयम् । ब्रह्मणैकार्थ्यं, मोक्ष
इत्यर्थः । 'भुवो भावे' (३. १. १०७) इति क्यप् । सह युनक्ति सयुक्,
तस्य भावः सायुज्यम् ॥

टीका० — ब्रह्मभूयत्रिकं ब्रह्मभवने । 'भुवो भावे' (३. १. १०७) ।
क्यप् । ब्रह्मभूयम् । 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५. १. ११९) । ब्रह्मत्वम् । 'सम्बन्धि-
गुणवान् सयुक्' इति त्रिकाण्डशेषः । अतो ब्रह्मसम्बन्धि ब्रह्मसायुज्यम् ।
प्यञ् ॥

देवभूयादिकं तद्वत्

क्षीर० — तद्वदिति देवत्वं देवसायुज्यं च । आदिशब्दान्मूर्ख-
भूयादिः ॥

टीका० — एवं देवभवने देवभूयं देवत्वं देवसायुज्यमित्यपि बोद्धव्यम् ॥

कृच्छ्रं सान्तपनादिकम् ।

क्षीर० — कृन्तति पापं कृच्छ्रं नाम तपः । सन्तपनं भवं सान्तपनम् । यत् स्मृतिः —

“अयं सायं अयं प्रातस्त्यहमद्यादयाचितम् ।

अयं परं च नाश्नीयात् कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम्” ॥

आदिना पराकादि ॥

टीका० — सान्तपनचान्द्रायणादि कृच्छ्राख्यम् । कष्टे कृच्छ्रमुक्तम् ॥

सन्न्यासवत्यनशने पुमान् प्रायः

क्षीर० — सन्न्यसनं सर्वत्यागो मरणाध्यवसायः । पुमानिति प्रायस्योसन्तत्वं मा विज्ञायीति । यल्लक्ष्यं — ‘प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्वभूव’ (रघु० स० ८. श्लो० ९४) ॥

टीका० — सन्न्यस्तोऽहमिति प्रतिज्ञां कृत्वा यदभोजनं स प्रायः । ‘प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्वभूव’ (स० ८. श्लो० ९४) इति रघावदन्तः ॥

अथ वीरहा ॥ ५२ ॥

नष्टाग्निः

क्षीर० — वीरयते वीरोऽग्निः । तमुपेक्षया हन्ति ॥

टीका० — उत्सन्नाग्नौ पुरुषे वीरहा नान्तः । वीरोऽग्निः । हन्तेः क्तिप् ॥

कुहना दम्भान्मिथ्येर्यापथकल्पना ।

क्षीर० — ईर्यापथाख्यस्य भिक्षुव्रतस्य दम्भेन परविस्मापनार्थं मिथ्याकल्पना कुहना । ‘कुह विस्मापने’ । अस्माद् युच् । अर्थलिप्सया विज्ञानदर्शनं वा कुहनौख्या । शाश्वतस्त्वाह —

“ईर्ष्यालुर्दम्भचर्या च कुहनः कुहना क्रमात्” ॥

टीका० — अन्नलिप्सया मिथ्यामार्गाश्रयणे कुहना । ‘कुह विस्मा-
पने’ । चुरादिः । युच् ॥

ब्रात्यः संस्कारहीनः स्याद्

क्षीर० — ब्रते साधुः कालोऽस्य ब्रात्यः । प्रायश्चित्ताईः । संस्का-
रोऽन्नोपनयनम् । यत् स्मृतिः —

“सावित्रीपतिता ब्रात्या ब्रात्यस्तोमादृते क्रतोः” ।

(याज्ञ० अध्या० १. श्लो० ३८)

ब्रते साधुरित्येके । पृथग्व्यपदेशो नेत्यर्थः ॥

टीका० — अष्टादशसंस्कारहीनो ब्रात्यः ॥

अस्वाध्यायो निराकृतिः ॥ ५३ ॥

क्षीर० — निराक्रियते वेदहीनत्वान्निराकृतिः । आकृतेर्जातेर्वा नि-
ष्क्रान्तः । यत् स्मृतिः —

“अनधीत्य तु यो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः” ॥

(मनु० अध्या० २. श्लो० १६८)

टीका० — वेदपाठशून्ये अस्वाध्यायद्वयम् । निराकृतिः पुमान् ।
बाहुल्यकः क्तिच् ॥

धर्मध्वजी लिङ्गवृत्तिः

क्षीर० — धर्मो ध्वजश्चिह्नमिवास्त्यस्य धर्मध्वजी । लिङ्गाज्जटा-
देर्दृत्तिर्जीविकास्य । भिक्षिष्य इत्यस्य जटा इति यावत् ॥

टीका० — वर्तनार्थमेव जटादिधारणं यस्य तत्र धर्मध्वजिद्वयम् ।
धर्मध्वजी नान्तः । लिङ्गेन जटादिना वृत्तिवर्तनं यस्य स लिङ्गवृत्तिः ॥

अवकीर्णी क्षतव्रतः ।

क्षीर० — अव अन्तरे कीर्णं रेतोऽस्त्यस्यावकीर्णी । यत् स्मृतिः —

“ब्रह्मचार्यवकीर्णी स्यात् कामतस्तु स्त्रियं व्रजन्” ॥

टीका० — स्यभिगमनादिना नष्टव्रतोऽवकीर्णी । ‘इष्टादिभ्यश्च’ (९. २. ८८) इतीति ॥

सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च ॥ ५४ ॥

अंशुमानभिनिर्मुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ।

क्षीर० — अभिभूय निर्मुक्तोऽस्तमितोऽर्कोऽस्याभिनिर्मुक्तः । अभिभूयोदितोऽर्कोऽस्याभ्युदितः ॥

टीका० — सुप्ते यस्मिन् द्विजे रविरस्तमेति सोऽभिनिर्मुक्तः, सुप्ते यस्मिन् रविरुदेति सोऽभ्युदितः ॥

परिवेत्तानुजोऽनृढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् ॥ ५५ ॥

क्षीर० — ज्येष्ठे भ्रातर्यकृतविवाहे कनिष्ठो विवाहाद्धेतोः परिवर्ज्य विन्दति परिवेत्ता । यत् स्मृतिः —

“येऽग्रजेष्वकलत्रेषु कुर्वते दारसङ्ग्रहम् ।

ज्ञेयास्ते परिवेत्तारः परिवित्तिस्तु पूर्वजः” ॥

उपलक्षणं चैतद्, यतोऽग्निहोत्रव्रतादावपि परिवेदनस्य व्यवहारोऽस्ति ॥

टीका० — अकृतविवाहे ज्येष्ठभ्रातरि कनीयान् भ्राता परिवेत्ता ॥

परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान्

क्षीर० — तस्य ज्यायानग्रजः । परिवर्ज्य यं विन्दति स परिवित्तिः ॥

टीका० — तस्य परिवेत्तुर्ज्यायान् भ्राता परिवित्तिः । बाहुल्यं क्तिच् ॥

विवाहोपयमौ समौ ।

तथा परिणयोद्वाहोपयामाः पाणिपीडनम् ॥ ५६ ॥

क्षीर० — विवहनं विवाहः । उपयमनमुपयमः । 'यमः समुपनि-
विषु च' (३. ३. ६३) इति पक्षेऽपि ॥

टीका० — विवाहषट्कं विवाहे । विवाहोद्वाहयोर्धञ् । 'यमः समु-
पनिविषु च' (३. ३. ६३) इति पक्षेऽपि । उपयमः । घञि उपयामः । नयतेः
एरचि परिणयः ॥

व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतम् ।

क्षीर० — व्यवयनं व्यवायः । मिथुनस्य स्त्रीपुंसयोरिदं मैथु-
नम् । निधूयन्तेऽङ्गान्यस्मिन् निधुवनम् । रमणं रतम् । रतिः सुरतं मोहनं
सम्प्रयोगो याभोऽपि ॥

टीका० — व्यवायचतुष्कं रतौ । इणः एरचि व्यवायः । ग्राम्या-
णां धर्म आचारो ग्राम्यधर्मः । 'धू विधूनने' । ल्युट् । निधुवनम् ॥

त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः

क्षीर० — धर्माद्यैस्त्रिभिस्त्रिसङ्ख्यो वर्गः ॥

टीका० — धर्मार्थकामास्त्रिवर्गाख्याः ॥

चतुर्वर्गः समोक्षकैः ॥ ५७ ॥

क्षीर० — धर्मार्थकामैरित्येव ॥

टीका० — धर्मार्थकाममोक्षाश्चतुर्वर्गाख्याः ॥

चतुर्वर्गस्तैश्चतुर्भद्रं

क्षीर० — चतुर्णां भद्राणां समाहारश्चतुर्भद्रम् । पात्रादि । तैर्धर्मका-
मार्थैः । यत् कात्यः —

“आहुश्चत्वारि भद्राणि बलं धर्मं सुखं धनम्” ॥

टीका० — धर्मादिभिश्चतुर्भिः सबलैर्बलवद्भिश्चतुर्भद्रमुच्यते ॥

जन्याः स्निग्धा वरस्य ये ॥ ५७३ ॥

क्षीर० — जनीं वधूं वहति । ‘संज्ञायां जन्याः’ (४. ४. ८२) इति साधुः । जामातुर्वयस्याः । जनीवोढारोऽपि । यल्लक्ष्यं — ‘यातेति जन्या-
नवदत् कुमारी’ (रघु० स० ६. श्लो० ३०) ॥

इति ब्रह्मवर्गः ।

टीका० — ये वरस्यं जामातुर्वयस्याः स्निग्धाः ते जन्या इत्युच्यन्ते । जनीं वधूं वहन्तीति ‘संज्ञायां जन्याः’ (४. ४. ८२) इति यत् ॥

इति ब्रह्मवर्गः ॥

अथ क्षत्रियवर्गः ।

मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट् ।

क्षीर० — मूर्धास्याभिषिच्यते मूर्धाभिषिक्तः । मूर्धावसिक्तोऽपि । राज्ञोऽपत्यं राजन्यः । ‘राजश्चशुराद् यत्’ (४. १. १३७) इत्यत्र ‘राज्ञो-
ऽपत्ये जातिग्रहणम्’ । हिरण्यगर्भवाहुभ्यां जातो बाहुजः । यच्छ्रुतिः —
‘बाहु राजन्यः कृतः’ । क्षत्रस्यापत्यं जातिः क्षत्रियः । ‘क्षत्राद् घः’
(४. १. १३८) । क्षत्रं च क्षतत्राणात् ॥

टीका० — मूर्धाभिषिक्तपञ्चकं क्षत्रिये । राज्यारोपणकाले मूर्ध्न्यभि-
षिक्तो मूर्धाभिषिक्तः । क्तः । प्रथमः क्षत्रियः । तत्प्रभवतया अनभिषिक्ता अपि
मूर्धाभिषिक्ताः । यथा ब्रह्मबाहुजस्य वंश्याश्च बाहुजाः । राजा क्षत्रियः, तस्या-
पत्यं राजन्यः । ‘राजश्चशुराद् यत्’ (४. १. १३७) । ‘ये चाभावकर्मणोः’

१. ‘घाभि’ ग. घ. ड. पाठः. २. ‘भाद् बा’ ग. घ. ड. पाठः. ३. ‘क्तः । प्र’ ख.
ग. घ. ड. ज. पाठः.

(३. ४. १६८) इति प्रकृतिभावः । 'राजेरन्यः' (उ० ३. १००) इत्युणादिः । तत्र 'राज् दीप्तावि'त्यतोऽन्यप्रत्ययः । ब्रह्मणो बाहोर्जातो बाहुजः । अपत्ये 'क्षत्रा-
द् घः' (४. १. १३८) । क्षत्रियः । तेन क्षत्रोऽप्यस्य नामेत्युक्तम् । अतितेज-
स्वितया विशेषेण राजते दीप्यत इति विराट् । 'सत्सूद्विष —' (३. २. ६१)
इत्यादिना किप् ॥

राज्ञि रादपार्थिवक्षमाभृन्नुपभूपमहीक्षितः ॥ १ ॥

क्षीर० — राजते राट् । ब्रश्वादिना षः । 'अलां जशोऽन्ते' (८. २. ३९) इति डत्वम् । 'वावसाने' (८. ४. ५६) । चर्त्वम् । पृथिव्या राजा पार्थिवः । 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणजौ' (५. १. ४१) । मह्यां क्षियत्यधिवसति महीक्षित् ॥

टीका० — जनपुरपरिपालनाधिकृते क्षत्रियेऽन्यस्मिन्नपि तत्कर्मका-
रिणि राजसत्तकम् । समृद्ध्या राजतीति राजा । नान्तः । 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्व-
द्युप्रतिदिवः' (उ० १. १६२) इति कनिन् । 'सत्सूद्विष —' (३. २. ६१) इत्या-
दिना किप् । राट् । जान्तः । पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः । 'तस्येश्वरः' (५. १. ४२)
इत्यण् । क्ष्मां भुनक्ति पालयतीति क्षमाभुक् । जान्तः । नृन् पातीति नृपः ।
आतोऽनुपसर्गे कः' (३. २. ३) 'क्षि निवासगत्योः' । धातूनामनेकार्थत्वान्म-
हीमधिगतवानिति महीक्षित् । किवन्तः ॥

राजा तु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वरः ।

क्षीर० — अध्युपरीष्टे तच्छीलोऽधीश्वरः ॥

टीका० — प्रणता अशेषाः सामन्ता यत्र सोऽधीश्वराख्यः । ससक्तः
संलग्नोऽन्तो यस्याः सा सामन्ता, स्वविषयानन्तरा भूमिः । संशब्द एवात्र संसक्तार्थः ।
सामन्ताया इमे सामन्ताः, अनन्तरा राजानः ।

“नयविक्रमसंस्कृतप्रतापैरपि सामन्तनृपैः प्रयाच्यमानः”
इति जातकमालायामनन्तरराजेषूक्तम् ॥

चक्रवर्ती सार्वभौमः

क्षीर० — नृपचक्रे राजचक्रे वर्तते, स्वाम्येन चक्रं राष्ट्रं वर्तयति वा चक्रवर्ती । सर्वस्या भूमेरीश्वरः सार्वभौमः । अनुशक्तिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । अत्राहुः —

“रामो दाशरथी रावणारिकाकुत्स्थराघवाः ।
सौमित्रिर्लक्ष्मणो लङ्कापतिपौलस्त्यरावणाः ॥
दशास्योऽथेन्द्रजिन्मेघनादो मण्डोदरीसुतः ।
आञ्जनेयस्तु हनुमान् मारुतिर्मास्तात्मजः ॥
किष्किन्धाधिपसुग्रीवौ द्वौ जटायुजटायुषौ ।
अजातशत्रुः शल्यारिर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
राधेयोऽङ्गाधिपः कर्णो भीमसेनो हिडिम्बभित् ।
मारुतिः कीचकारातिर्वकवैरी वृकोदरः ॥
धनञ्जयोऽर्जुनः पार्थो विजयः शक्रनन्दनः ।
गाण्डीवी फल्गुनः सव्यसाची मध्यमपाण्डवः ॥
जिष्णुः किरीटी बीभत्सुः श्वेतवार्जो कपिध्वजः ।
पृथा तु कुन्ती कृष्णा तु पाञ्चाली याज्ञसेन्यपि ॥
द्रौपदी विक्रमादित्यः साहसाङ्कः शकान्तकः ।
शूद्रकस्त्वग्निमित्राख्यो हालः स्यात् सालवाहनः ॥
वैरोचनो बलिः कार्तवीर्यार्जुनः सहस्रदोः” ॥

टीका० — समस्तभूम्यधिपतौ राजनि चक्रवर्तिद्वयम् । पुण्योपनतेन चक्रेण वर्तते चेष्टते असाधुदमनिकां राजवृत्तिमनुतिष्ठतीति चक्रवर्ती । गिन्यन्तः । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिववदण् । ‘अनुशक्तिकादीनां च’ (७. ३. २०) इत्युभयपदवृद्धिः ॥

नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः ॥ २ ॥

क्षीर० — अन्यो भूम्येकदेशेशो नृपः ॥

टीका० — अन्योऽसार्वभौमो मण्डलेश्वरः ॥

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः ।

शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्

क्षीर० — इज्यते स्मेष्टम् । मण्डलस्य द्वादशराजकस्य । समुदितं लक्षणं चैतत् । सम्यग् राजति सम्राट् । 'मो राजि समः कौ' (८. ३. २५) इति मस्य मः ॥

टीका० — राजसूयनाम्ना यागेन येनेष्टं स सम्राट् । राजसूयाधिकारश्चासार्वभौमस्य न भवति । सार्वभौमः सकलमण्डलपालनात् सकलराजमण्डलशासनाद् वा भवतीति सार्वभौमप्रकारद्वयं प्रदर्शयति — 'मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः' इति । एतेन राजसूयाधिकारिणि चाधिकारितामात्रेणापि सम्राट्छब्दो वर्तते इत्युक्तं भवति । वोपालितेन सार्वभौममनभिसन्धाय द्वयमेव सम्राट्त्वेन निबद्धम् । यो राजसूययाजी सर्वावनिराट् स सम्राट् । मण्डलेश्वरश्च य इति यो हिमवत्समुद्राभ्यन्तरे सहस्रयोजनपरिमाणस्य भूमण्डलस्येश्वरः पालयिता सोऽपि सम्राट् । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः इति यो हिमवत्समुद्राभ्यन्तरवर्तिनो राज्ञो विधेयीकरोति सोऽपि सम्राडित्युक्तम् । प्रेत्य देवेष्विह चातिविलक्षणतया राजसु मध्ये सम्यग् राजते इति सम्राट् । क्विप् । 'मो राजि समः कौ' (८. ३. २५) इति मकारस्य मकारोऽनुस्वारनिवृत्त्यर्थः ॥

अथ राजकम् ॥ ३ ॥

राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात् ।

क्षीर० — राज्ञां समूहो राजकम् । राजन्यानां समूहो राजन्यकम् । 'गोत्रोक्षोष्ट्र' (४. २. ३९) इति वुञ् ॥

टीका० — नृपतिसमूहे राजकं क्षत्रियसमूहे राजन्यकम् । 'गोत्रोक्षोष्ट्रोत्तराजराजन्य' (४. २. ३९) इत्यादिनोभयत्र समूहे वुञ् । 'प्रकृत्या के राजन्यमनुप्ययुवान इति वक्तव्यम्' (वा० ६. ४. १६३) इति प्रकृतिभावाद् 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (६. ४. १५१) इति राजन्यके यलोपो न भवति ॥

मन्त्री धीसचिवोऽमात्यः

क्षीर० — मन्त्रं कर्तव्यावधारणमस्त्यस्य मन्त्री । धिया सचिवि समन्वेति धीसचिवः । अमा सह समीपे वा भवोऽमात्यः । ‘अव्ययात् त्यप्’ (४. २. १०४) । सामवायिकोऽपि ॥

टीका० — मन्त्रित्रयं मन्त्रिणि । इतिकर्तव्यतावधारणं मन्त्रः, तद्योगादिनिः । मन्त्री । धीप्रधानः सचिवो धीसचिवः । ‘सचिवः सहायोऽमात्य’ इति दन्त्यादावजयः । अमाशब्दः सहार्थे निपातितः । मन्त्रेणामा सह भवतीत्यमात्यः । ‘अव्ययात् त्यप्’ (४. २. १०४) । अन्येष्वपि सचिवेष्वमात्यशब्दो वर्तते ॥

अन्ये कर्मसचिवास्ततः ॥ ४ ॥

क्षीर० — ततो मन्त्रिणोऽन्येऽमात्याः कर्मसहाया नियोग्याख्याः ॥

टीका० — धीसचिवादन्येऽक्षपटलादयः कर्मोपयुक्तत्वात् कर्मसचिवाख्याः ॥

महामात्राः प्रधानानि

क्षीर० — अमात्या इत्येद । महती मात्रा परिच्छेद एषां महामात्राः । प्रदधाति प्रधानम्, आविष्टलिङ्गम् ॥

टी० का० — नापकृष्टा न चोत्कृष्टा मध्यमाधिकरणव्यवस्थिता राजसहायाः सेनापतिगणस्थिरादयो महामात्राः ।

“महामात्रः प्रधाने स्यात् तथा हस्तिपकाधिपे”

इति धरणिः । महती मात्रा परिच्छेद एषामिति महामात्राः । अत एव प्रधानानि । रूपभेदात् क्लीबम् । ‘महामात्रः प्रधानः स्याद्’ इति पुंस्काण्डे वी-पालितः ॥

पुरोधास्तु पुरोहितः ।

क्षीर० — पुरो धीयते हिनोति वा पुरोहितः । सौवास्तिकोऽपि ॥

टीका० — पुरोधाद्वयं पुरोहिते । दृष्टादृष्टफलेषु कर्मसु पुरो धीयत इति पुरोधाः । पुरोहितश्च । 'पुरसि च' (उ० ४. २३२) इति धागोऽसुन् । एवं पुरोधाः सान्तः । धाजः क्तः । 'दधातेर्हिः' (७. ४. ४२) । पुरो-हितः ॥

द्रष्टरि व्यवहाराणां प्राड्विवाकाक्षदर्शकौ ॥ ५ ॥

क्षीर० — द्रष्टा निर्णेता । व्यवहारः ऋणादानादिन्यायः । यत् स्मृतिः —

“वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते ।

नानासन्देहहरणाद् व्यवहारः प्रकीर्तितः” ॥

पृच्छतीति प्राट् । 'किञ्चि—' (उ० २. ६०) इति दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । प्राट् चासौ विविधवाचकः प्राड्विवाकः । अक्षान्यायमुखानि रूपाण्यवपश्यत्यक्षदर्शकः । धर्माधिकरणिक आक्षपटलिकश्च ॥

टीका० — व्यवहाराणामृणादानदायादीनां द्रष्टरि धर्माधिकरणिकादौ प्राड्विवाकद्वयम् । तदुक्तं —

“विवादानुगतं पृष्ट्वा पूर्ववाक्यं प्रयत्नतः ।

विचारयति येनादौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः” ॥

पृच्छतीति प्राट् 'किञ्चिप्रच्छि—' (उ० २. ६०) इत्यादिना किञ् दीर्घश्च । विवक्षीति विवाकः । बहुलवचनात् कर्तरि घञ् । विवक्तिं तमिति वा विवाकः । कर्मणि घञ् । ततः कर्मधारयः । तुलादिपरीक्षायां यः कृतोपवासो व्याप्रियते, सोऽपि प्राड्विवाकः । अक्षान् व्यवहारान् पश्यतीत्यक्षदर्शकः । भुल ॥

१. 'नि द्रव्याणि वा प' ख. पाठः. २. 'अ' ग. घ. ड. पाठः. ३. 'ज' ख. पाठः. ४. 'दि' ख. पाठः. ५. 'स्मि' ड. छ. पाठः.

प्रतीहारे द्वारपालद्वाःस्थद्वाःस्थितदर्शकाः ।

क्षीर० — प्रतिहियते वार्यतेऽनेन प्रतीहारः । द्वारि तिष्ठति द्वाःस्थः । द्वारि स्थितं दर्शयत्यावेदयति । द्वे संज्ञे इत्येके । द्वाःस्थित एव हि दर्शयति । द्वाःस्थोपस्थितदर्शका इत्येके पेटुः । दण्डी दौवारिको वेत्री उत्सारकश्च ॥

टीका० — प्रतीहारपञ्चकं प्रतीहारे । प्रतिरामिमुख्ये । राज्ञोऽभिमुखं जनान् हरति नयति प्रापयतीति प्रतीहारः । 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' (३. १. १४०) । 'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७) इति दीर्घः । दीर्घत्वं न भवतीत्यपरे । तथा च नाममाला —

“बुधकुलजावभिजातौ प्रतिहारौ द्वारपालकद्वारौ”

इति । द्वारे पालयतीत्यण् । द्वारपालः । द्वारि तिष्ठतीति द्वाःस्थः । 'सुपि स्थः' (३. २. ४) इति कः । द्वारि स्थितो द्वाःस्थितः । दर्शयति जनानिति दर्शकः । समस्त एवेत्यन्यः । काचिद् द्वाःस्थोपदर्शक इति पाठः ॥

रक्षिवर्गस्त्वनीकस्थः

क्षीर० — अङ्गरक्षिवृन्दम् । अनीके तिष्ठत्यनीकस्थः । 'राजशिक्षाविचक्षणा'विति शाश्वतः ॥

टीका० — रक्षिवर्गद्वयमङ्गरक्षे । अनीकेन वृन्देन तिष्ठतीत्यनीकस्थः ॥

अथाध्यक्षाधिकृतौ समौ ॥ ६ ॥

क्षीर० — अधिकृतोऽक्षेष्वायमुखेष्वध्यक्षः, अध्यक्षोति वा । 'अक्षू व्याप्तौ' । अधिकान्यक्षानीन्द्रियाण्यस्य वा । अधिक्रियत उपरि नियुज्यते स्माधिकृतः ॥

टीका० — मामान्येन यो यत्राधिकृतस्तत्राध्यक्षद्वयम् । 'अक्षू व्यासौ' ।
पचादिः । अध्यक्षः । करोतेः क्तः । अधिकृतः ॥

स्थायुकोऽधिकृतो ग्रामे

क्षीर० — तिष्ठति तच्छीलः स्थायुकः । 'लषपतपद —' (३. २. १५४) इत्युक्त्वा ॥

टीका० — एकग्रामाधिकृतः स्थायुकः । 'लषपत —' (३. २. १५४) इत्यादिनोक्तम् । 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७. ३. ३३) इति युक् ।
स्थायुकः ॥

गोपो ग्रामेषु भूरिषु ।

क्षीर० — अधिकृत इत्येव । गां भुवं पाति, गोपायति वा गोपः ॥

टीका० — बहुषु ग्रामेष्वधिकृतो गोपः । गां पातीति 'आतश्चोप-
सर्गे' (३. १. १३६) इति कः ॥

भौरिकः कनकाध्यक्षः

क्षीर० — भूरिणि हेन्नि नियुक्तो भौरिकः । हैरिक इति पाठे
हिरण्ये नियुक्तः ॥

टीका० — सुवर्णाधिकृते भौरिकः । भूरि सुवर्णम् । तथा च धराणिः —
'भूरि प्राज्यसुवर्णयोः' इति । तत्राधिकृत इति ठक् ॥

रूप्याध्यक्षस्तु नैष्किकः ॥ ७ ॥

क्षीर० — रूपमाहतमस्य रूप्यं दीनारादिः । 'रूपादाहतप्रशं-
सयोर्यप्' (५. २. १२०) । निष्के दीनारादौ नियुक्तो नैष्किकः,
टङ्कपतिः ॥

टीका० — रूप्याधिकृते नैष्किकः । पूर्ववद्वक् ॥

अन्तःपुरेष्वाधिकृतः स्यादन्तर्वेशिको जनः ।

क्षीर० — 'अन्तःपूर्वपदाद्वक्' (४. ३. ६०) । जनः कुब्जवाम-
नादिसमुदायः ॥

टीका० — बृहदुपकारिकादावन्तःपुराधिकृते जनेऽन्तर्वेशिकः । 'अन्तः-
पूर्वपदाद्वक्' (४. ३. ६०) । संज्ञापूर्वकत्वात् वृद्धिः ॥

सौविदल्लाः कञ्चुकिनः स्थापत्याः सौविदाश्च ते ॥ ८ ॥

क्षीर० — सुविदन्तं विवाहं जानन्तं लान्ति सुविदल्ला ऊढाः
स्त्रियः, तत्र भवाः सौविदल्लाः । कञ्चुकं विनीतवेषार्थमस्त्येषाम् ।
स्त्रियो व्यवस्थायां स्थापयन्ति स्थापत्याः । यद्वा तिष्ठत्यस्मिन् वा
स्थः । घञर्थे कः । स्थश्चासौ पतिश्चेति स्थपतिः, तत्र भवा इति
'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः' (४. १. ८५) । सुविदस्योद्वहत इमे
सौविदाः ॥

टीका० — सौविदल्लचतुष्कं कञ्चुकिनि । सत्रयं दन्त्यम् । कञ्चु-
कं चोलेस्तद्योगादिनिः । कञ्चुकी । स्थपतिः कञ्चुकी । स एव स्थापत्यः ।
स्वार्थे ष्यञ् ॥

शण्डो वर्षवरंस्तुल्यौ

क्षीर० — शाम्यति शण्डः । अत एवान्तःपुरपालकः । वर्षं रेतःसे-
कं वृणोत्याच्छादयति वर्षवरः । 'वृष शक्तिप्रबन्धे' वाँ ॥

टीका० — मुष्कशून्योऽन्यो वा स्त्रीस्वभावो महल्लकस्तत्र शण्डद्वयम् ।
तदुक्तं —

१. 'म् । कुतश्चित् स्त्रीव्य' ग. पाठः. २. 'रः शा', ३. 'वा ॥ तुल्याः से
स्व. पाठः.

द्विद्विपक्षाहितामित्रदस्त्रशात्रवशात्रवः ।

अभिमातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः ॥ १० ॥

श्लोक० — रेपयति रिपुः । 'रिपु गतौ' । समानं पतत्येकार्थाभि-
निवेशित्वात् सपत्नः । इत्यर्त्यरिः । द्वेष्टि द्विषन् । 'द्विषोऽमित्रे' (३. २.
१३१) इति शता । द्वेष्टि तच्छीलो द्वेषणः । 'कुधमण्डार्थेभ्यश्च' (३. २.
१५१) । युच् । दुष्टं हृदयमस्य दुर्हत् । 'सुहृद्दुर्हदौ मित्रामित्रयोः' (५. ४.
१५०) इति साधुः । विरुद्धः पक्षो विपक्षः । अमत्यमित्रः । शातयति
शत्रुः । 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (५. ४. ३८) इति पक्षेऽण् । शात्रवः । अभिमन्य-
तेऽभिमातिः । प्रियते परः । 'पृङ् व्यायामे' । इत्यर्त्यरातिः । प्रतीपम-
र्थयते प्रत्यर्थी । परिपन्थयति परिपन्थी । 'छन्दासि परिपन्थिपरिपारिणौ
पर्यवस्थातरि' (५. २. ८९) इति साधुः । प्रत्यवस्थाता प्रत्यनीकः
परिपन्थकोऽपि ॥

टीका० — रिपूनविंशतिकं शत्रौ । रपत्यकीर्तिमिति रिपुः । 'रप लप
व्यक्तायां चाचि' । 'रपेरिञ्चोपधायाः' (उ० १. २६) इति कुः । वैरं विरोधः,
तद्योगाद् वैरी इन्नन्तः । सपत्नशब्दोऽव्युत्पन्न इति केचित् । सपत्नीवत् सप-
त्नोऽपि । दुःख हेतुत्वात् । सपत्नीशब्दाद् इवार्थे 'व्यन् सपत्ने' (४. १. १४९)
इति निपातनादकारप्रत्ययः । ईकारलोप इत्यपरः । अर्तेः 'अच इः' (उ० ४.
१४०) । अरिः । 'द्विषोऽमित्रे' (३. २. १३१) इति शतृप्रत्ययः । द्विषन् ।
द्वेषणो नन्द्यादिल्युडन्तः । दुष्टं हृदयमस्येति दुर्हत् । 'सुहृद्दुर्हदौ मित्रामि-
त्रयोः' (५. ४. १५०) इति निपातनाद् हृद्भावाः । द्विद् मूर्धन्यषान्तः ।
'सत्सुद्विष —' (३. २. ६१) इत्यादिना किप् । विरुद्धः पक्षोऽस्येति विपक्षः ।
न हितोऽहितः । 'अम गत्यादिषु' । 'अमेद्विषति चित्' (उ० ४. १७५) इति
इन्नः । अमित्रः । ना । एकतकारश्च ।

“स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि” (स० २. श्लो० ३६)

इति माघः । चौरै दस्युरुक्तः । शातयतीति शत्रुः । जन्वादिः । शत्रुरेव शात्रवः ।
प्रज्ञादिः । यातेः क्तिच् । अभियातिः । 'द्वेप्यभियातिरमित्रः' इति रत्नकोशोऽपि ।

अभिधा(ती)तिपाठे अभिमुखं हन्तीति आवश्यके णिनिः । 'पू पालनपूरणयोः' । 'ऋदोरप्' (३. ३. ५७) । परः । अर्तेर्बाहुलक आतिः, अरातिः । प्रतीपमर्थेन प्रत्यर्थः, तद्योगादिनिः, प्रत्यर्था । 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थात्तरि' (५. २. ८९) इति निपातनात् परिपन्थी नान्तः । छान्दसा अपि भाषायां प्रयुज्यन्ते ॥

स्निग्धो वयस्यः सवयाः

क्षीर० — स्निह्यति । वयसा तुल्यो वयस्यः । 'नौवयोधर्म —' (४. ४. ९१) इति यत् । समानं वयोऽस्य सवयाः ॥

टीका० — वयस्यत्रयं तुल्यवयसि । वयसा तुल्यो वयस्यः । 'नौवयोधर्म —' (४. ४. ९१) इत्यादिना यत् । स्निहेः क्तः । स्निग्धः । समानं वयोऽस्येति सवयाः । सान्तः । 'ज्योतिर्जनपद —' (१. ३. ८९) इत्यादिना सभावः ॥

अथ मित्रं सखा सुहृत् ।

क्षीर० — मेघति स्निह्यति मित्रम् । समानं ख्याति सखा । समाने ख्यश्च स चोदात्तः' (उ० ४. १३८) इतीन् डिञ् यलोपश्च ॥

टीका० — मित्रत्रयं मित्रे । सूर्ये मित्रं उक्तः । स पुमान् । 'अयमाविष्टलिङ्गः । 'इदं मित्रमयं मित्र' इति वात्स्यायने । स्त्रियां मित्रेति पाठः । समानः ख्यातः सखा । 'ख्या प्रकथने' । 'समाने ख्यः स चोदात्तः' (उ० ४. १३८) इति डः, टिलोपः, समानस्य च सभावः । 'अनङ् सौ' (७. १. ९३) इत्यनङ् । दुर्हृद्वत् सुहृत् ॥

सख्यं साप्तपदीनं स्याद्

क्षीर० — सख्युर्भावः सख्यम् । 'सख्युर्यः' (५. १. १२६) । सप्तपदानि क्रमात् सुप्तिङन्तानि व्याप्नोति साप्तपदीनम् । 'साप्तपदीनं सख्यम्'

(५. २. २२) इति साधुः । तद्योगात् सखापि साप्तपदीनः । सौहृदं सौहार्दं मैत्री सौहृदयमजर्गं च ॥

टीका० — सख्यद्वयं मैत्र्याम् । सख्युर्भावः सख्यम् । 'सख्युर्यः' (५. १. १२६) इति यः । 'साप्तपदीनं सख्यम्' (५. २. २२) इति निपातनात् साप्तपदीनम् ॥

अनुरोधोऽनुवर्तनम् ॥ १२ ॥

क्षीर० — इच्छानुवर्तनमित्यर्थः । 'अनौ रुध कामे' ॥

टीका० — अनुरोधद्वयमानुकूल्ये । 'रुधिर आवरणे' । 'वृत्तु वर्तने' । षञ्ज्युटौ ॥

यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः ।

चारश्च गूढपुरुषश्च

क्षीर० — देशकालोचितो वर्ण आकारो जातिवर्णनं वास्य यथार्हवर्णः । प्रकर्षेण गुप्तो निर्धीयते परेषु प्रणिधिः । अपच्छन्नः सर्पतपसर्पः । चरति चरः चारश्च । ज्वलादित्वाणो वा । स्पशति बाधते परान् स्पशः ॥

टीका० — यथार्हवर्णसत्तकं चरे । वणिक्कृषीवलभिक्षुकादिरूपस्थायिनि चरे आद्यं नामद्वयमिति केचित् । वर्णः प्रकारः । यथा येन वर्णेन प्रकारेण परचक्रं ज्ञातुं शक्नोति तत्प्रकारवानित्यर्थः । निधिवत् प्रणिधिः । अपकृष्टं सर्पतीत्यपसर्पः । चरति जानाति परवलमिति चरः । अच् । 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः' । पचाद्यच् । स्पशस्तालव्यान्तो रेफशून्यश्च । प्रज्ञाद्यणि चारः । गूढः पुरुषो गूढपुरुषः ॥

आप्तप्रत्ययितौ समौ ॥ १३ ॥

क्षीर० — आप्यते स्माप्तः अविसंवादिवाक् । प्रत्ययौ विश्वासः सञ्जातोऽत्र प्रत्ययितः ॥

टीका० — आसद्वयं सभ्ये । आसोतेः क्तः । आसः । तारकादित्वा-
दितच् । प्रत्ययितः ॥

सांवत्सरो ज्यौतिषिको दैवज्ञगणकावपि ।

स्युमौहूर्तिकमौहूर्तज्ञानिकार्तान्तिका अपि ॥ १४ ॥

क्षीर० — संवत्सरः कालोपलक्षणः, तद् वेद सांवत्सरः । 'तद-
धीते तद् वेद' (४. २. ५९) इत्यण् । ज्योतीषि ग्रहादीन् वेद ज्यौति-
षिकः । 'ऋतूक्थादिसूत्रान्तादृक्' (४. २. ६०) । दैवं पूर्वकृतं कर्म जानाति
दैवज्ञः । मुहूर्तं वेद मौहूर्तिकः । ऋतूक्थादित्वादृक् वा । कालादि-
ज्ञानमस्यास्ति इति ज्ञानी । कृतान्तं वेद कार्तान्तिकः ॥

टीका० — सांवत्सराष्टकं ज्यौतिषिके । 'तदधीते तद् वेद' (४. २.
५९) इत्यणि सांवत्सरः । ज्योतिरधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम् । 'अधिकृत्य
कृते ग्रन्थे' (४. ३. ८७) इत्यण् । संज्ञापूर्वकत्वाद् वृद्ध्यभावः । ततः 'ऋतूक्था-
दिसूत्रान्तादृक्' (४. २. ६०) इत्युक्थादित्वात् 'तदधीते तद् वेद' (४. २.
५९) इत्यर्थे ठक् । ज्यौतिषिकः । एवं मौहूर्तिकः । काचिदपूर्वादविषयेऽप्युत्स-
र्गोऽभिनिविशते इति मौहूर्तः । सर्वज्ञवद् दैवज्ञः । गणयतीति गणकः । शुभा-
शुभज्ञानयोगाज् ज्ञानी । अत इनिः । कृतान्तो दैवं, ततः पूर्ववदृक् । कार्तान्तिकः ॥

तान्त्रिको ज्ञातसिद्धान्तः

क्षीर० — तन्यते तन्व्यते वानेन तन्त्रं पारमेश्वरवैद्यकज्योतिषादि ।
तद् वेद तान्त्रिकः । सिद्धो निवारितविप्रतिपत्तिरन्तो निष्ठा अत्र सि-
द्धान्तः ॥

टीका० — यस्यकस्यचिच्छास्त्रज्ञे तान्त्रिकद्वयम् । 'तदधीते तद् वेद'
(४. २. ५९) इत्यर्थे ऋतूक्थादिठकि तान्त्रिकः ॥

सत्री गृहपतिः समौ ।

क्षीर० — सीदन्त्यस्मिन् सत्रं गृहं सदा दानं च ॥

टीका० — सत्रिद्वयं दानपतौ । सदेरौणादिकः घृन् । द्वितकारं दन्त्यादि च ।

“सत्रं यज्ञे सदा दाने छादनारण्ययोरपि”

इति धरणिः । तद्योगात् सत्री ॥

लिपिकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुञ्चुश्च लेखके ॥ १५ ॥

क्षीर० — लिपिं करोति । ‘दिवाविभा—’ (३. २. २१) इत्यादि-
ना टः । अक्षरैर्वित्तोऽक्षरचणः, अक्षरचुञ्चुश्च । ‘तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ’
(५. २. २६) ॥

टीका० — लिपिकरचतुष्कं लेखके । दिवाकरवलिपिकरः । ‘तेन वित्त-
श्चुञ्चुप्चणपौ’ (५. २. २६) इति चणप्चुञ्चुब्भ्यामक्षरचणाक्षरचुञ्चू । लि-
खतेः ण्वुल् । लेखकः ॥

लिखितारक्षविन्यासो लिपिलिविरुधे स्त्रियौ ।

क्षीर० — अक्षरविन्यासे त्रयं वर्तते । लिख्यते स्म लिखितम् ।
लिप्यतेऽनया पत्रं लिपिः । जपादित्वात् पक्षे वत्वम् ॥

टीका० — पुस्तकादौ लिखितेऽक्षरसंस्थाने आरोपणे विन्यासे वा
लिपिद्वयम् । लिखितमक्षरसंस्थानं च लिपेर्नामेति कृत्वा नामचतुष्टयमित्यन्ये ।
‘लिप उपदेहे’ । किः । लिपिः । ष्टोदरादिवत्वे लिभिः । ङीषि दीर्घान्ते च ॥

स्यात् सन्देशहरो दूतः

क्षीर० — सन्दिश्यते सन्देशो मुखस्वरूपम् । दूयतेऽनेन यथोक्त-
वादित्वात् पर इति दूतः ॥

टीका० — सन्देशहरद्वयं दूते । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' (३. २. ९) । स-
न्देशहरः । 'दुहु गतौ' । 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च' (उ० २. ९. ०) इति क्तः,
दीर्घश्च ॥

दूत्यं तद्भावकर्मणोः ॥ १६ ॥

क्षीर० — 'दूतवणिग्भ्यां च' (वा० ५. १. १२६) इति वक्तव्याद्
यः ॥

टीका० — दूतत्वे दूतकर्मणि च दूत्यम् । 'दूतवणिग्भ्यां चेति वक्त-
व्यम्' (वा० ५. १. १२६) इति यः । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् प्यञि दौत्यमिति
भाषावृत्तिः । 'दूत्यं तद्भावकर्मणी' इति पाठ इति केचित् । तत्र 'दूतस्य भाग-
कर्मणी' (४. ४. १२०) इति यत् । भागेन चांशो वण्टेक इति गृह्यते(?) ॥

अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि ।

क्षीर० — अध्वानं गच्छत्यध्वनीनः । 'अध्वनो यत्स्वौ' (५. २.
१७) । 'आत्माध्वानौ स्वे' (६. ४. १६९) इति प्रकृतिभावः । पन्थानं
गच्छति पथिकः । 'पथः प्कन्' (५. १. ७५) । पन्थानं नित्यं गच्छति
पान्थः । 'पन्थो ण नित्यम्' (५. १. ७६) इति णः पन्थादेशश्च । अदूर-
विप्रकर्षत्वादनयोः पर्यायत्वम् ॥

टीका० — अध्वनीनपञ्चकं पथिके । 'अध्वनो यत्स्वौ' (५. २. १७) ।
अध्वनीनाध्वन्यौ । 'अन्तात्यन्त—' (३. २. ४८) इत्यादिना इः । अध्वगः ।
'पन्थो ण नित्यम्' (५. १. ७६) इति णः पन्थादेशश्च । पान्थः । 'पथः प्कन्'
(५. १. ७५) इति प्कन् । षकारो ङीष्र्थः । पथिकः ॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च ॥ १७ ॥

राज्याङ्गानि प्रकृतयः

क्षीर० — स्वं विद्यतेऽस्य स्वामी । ‘स्वामिन्नैश्वर्ये’ (५. २. १२६) इति साधुः । अमा सह समीपे वा भवोऽमात्यः । ‘अमेहकतसि-
त्रेभ्यस्त्वय्ये’ (वा० ४. २. १०४) । कूयते मृग्यते कोशः । कुष्णातेः कोष
इत्येके । राजते राष्ट्रम् । दुःखेन गम्यतेऽस्मिन् दुर्गम् । ‘सुदुरोरधिकरणे
च’ (वा० ३. २. ४८) इति ईः । बलन्त्यनेनेति बलम् । अज्ञान्यारम्भका-
णि । प्रक्रियन्तेऽनया प्रकृतिः ॥

पौराणां श्रेणयोऽपि च ।

क्षीर० — एकमुख्यः सजातीयसमूहः श्रेणिः । प्रकृतयो राज्या-
ज्ञानीत्येव । यत् कात्यः —

“अमात्याश्चापि पौराश्च सद्भिः प्रकृतयः स्मृताः” ॥

टीका० — स्वान्याद्याः सप्त राज्याज्ञान्युच्यन्ते । प्रकृतिवाच्याश्चैते ।
प्रकृतिशब्दस्तु पौरश्रेणिष्वपि वर्तते । तत्र स्वामी राजा, अमात्यो मन्त्री, सु-
हृन्मित्रं, सुवर्णादिमयो भाण्डागारः कोषः, जनपदवती भूमी राष्ट्रं, पर्वतोदका-
दिभिर्दुर्गमं पुरं दुर्गम् ॥

सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः ॥ १८ ॥

षड् गुणाः

क्षीर० — सन्धानमेकत्वं सन्धिः । विरुद्धं ग्रहणं स्वस्थानात् परम-
ण्डले दाहविलोपादि विग्रहः । यानं प्रयातव्यं प्रति यात्रा । आसनं
विग्रहादिनिवृत्तिः । द्विप्रकारं द्वैधम् । ‘द्विभ्योश्च धमुञ्’ (५. ३. ४५)
एकेन सन्धायान्यत्र यात्रेत्यर्थः । यद्वा —

“बलिनोद्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयेत् ।

द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः” ॥

अशक्त्या बलवदाश्रयणमाश्रयः । गुणा राज्योपकारकाः ॥

१. ‘द्विभ्योऽज्ययात्मकः । कृ’, २. ‘सुहृते’ ख. पाठः. ३. ‘संस्था’
घ., ‘स्वात् स्था’ क. पाठः.

टीका० — सन्ध्यादिशब्दे गुणशब्दः । तत्रोपहारलक्षणः पणबन्धः सन्धिः । धाजः 'उपसर्गे घोः किः' (३. ३. ९२) । अपहारलक्षणो विग्रहः । ग्रहेः दरवदप् । स्वशक्त्युपचये परस्य व्यसने वा परजिगीषया प्रयाणं यानम् । यातेर्युट् । देशकालाद्यपेक्षया युद्धाभावादुपसंहृतप्रयाणस्य स्थितिरासनम् । आसेर्युट् । बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये काकाक्षिवदलक्षितस्योभयत्र वचनेनात्मसमर्पणं द्वैधम् । 'द्विष्योश्च धमुञ्' (१. ३. ४५) । तदुक्तं —

“बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयेत् ।

द्वैधाभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः” ॥

रिपुणोच्छिद्यमानस्य यद्धर्मविजयिवलवदाश्रयणं स आश्रयः । श्रयतेः 'एरच्' (३. ३. ९६) । तदुक्तं —

“यदा परब(ला? लेना)नुगमनीयतमो भवेत् ।

तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्” ॥

शक्तयस्तिष्ठः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः ।

क्षीर० — शक्यन्ते जेतुमाभिः शक्तयः । कोशदण्डद्विः प्रभुशक्तिः । उद्यम्य सहनमुत्साहशक्तिः । मन्त्रः पञ्चाङ्गो मन्त्रशक्तिः ॥

टीका० — तिष्ठः शक्तयः प्रभावशक्तिरुत्साहशक्तिर्मन्त्रशक्तिश्चेति । तत्र कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः । बलवती विक्रमचेष्टा उत्साहशक्तिः । सन्ध्यादीनां यथावत्प्रयुक्तः (क्ति)ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः ॥

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ॥ १९ ॥

क्षीर० — प्रागवस्थातः शक्तिसिद्धयोरपचयः क्षयः । साम्यं स्थानम् । उपचयो वृद्धिः । नीतेरन्यत्र धर्मादिस्त्रिवर्गः ॥

टीका० — क्षयत्रयं त्रिवर्गवाच्यम् । अयं नीतिवेदिनां त्रिवर्गः,

धर्मार्थकामैरितरेषाम् । आत्मनोऽपचयः शत्रुकर्मोपचयनिमित्तकः क्षयः । तद्विपर्ययो वृद्धिः । उभयोः साम्यं स्थानम् । तदुक्तं —

“परकर्मोदये नेतुः क्षयो वृद्धिर्विपर्यये ।
तुल्यकर्मफले स्थानं कर्मसु ज्ञेयमात्मनः ॥”

इति । एते च क्षयादयोऽष्टवर्गस्यापचयोपचयसाम्याद् भवन्ति ।

“कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरव(ला)दानं (च?) शून्यानां च निवेशनम् ॥”

इत्येवाष्टवर्गः ॥

स प्रतापः प्रभावश्च यत् तेजो दण्डकोशजम् ।

क्षीर०—प्रतपत्यनेन प्रतापः । प्रभवत्यनेन प्रभावः । तेज उत्कट-
त्वम् । यद् भरतः—

“अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत् तेजः समुदाहृतम् ॥”

टीका०—दमो दण्डः । तात्स्थ्याद् बलमपि । ततो जातं क्रोशाच्च
यत् तेजस्तत्र प्रतापद्वयम् । तपेः घञ् । प्रतापः । ‘श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे’ (३.
३, २४) इति घञ् । भावः । ततः प्रकृष्टो भावः प्रभावः । प्रादिसमासः ॥

सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम् ॥ २० ॥

क्षीर०—उपैत्यनेनोपायः । मायोपेक्षेन्द्रजालान्यत्रैवान्तर्भूतानि ॥

टीका०—(भेद? साम)चतुष्कमुपायाख्यम् । यद्यपि

“साम दानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुष्टयम् ।
मायोपेक्षेन्द्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः ॥”

इति । तथापि मायोपेक्षे दण्डान्तर्गते । इन्द्रजालं च भेदेऽन्तर्गतम् । तेनापरत्रयं पृथङ् न कृतम् । तत्र परस्माद् विश्लेषणं भेदः । दण्डः पीडा । साम अनु-
कूलनम् । दानमुपहारः ॥

साहसं तु दमो दण्डः

क्षीर० — सहसि बले भवं साहसम् ॥

टीका० — नाममात्रेणोक्तानां प्रत्येकं पर्यायमाह । साहसत्रयं दण्डे ।
सहसा बलेन निर्वृत्तं साहसम् । 'तेन निर्वृत्तम्' (४. २. ६८) इत्यण् । दमनं
दमः । 'दम उपशमे' । ण्यन्ताद् घञ् । 'णेरनिटि' (६. ४. ५१) इति णिलो-
पः । 'मितां ह्रस्वः' (६. ४. ९२) । अस्मादेव धातोः 'अमन्ताङ्' (उ० १.
११९) । दण्डः ॥

साम सान्त्वम्

क्षीर० — स्यति वैरं सामयति वा साम प्रियवचनादि । 'साम
सान्त्वने' । 'सान्त्व सामप्रयोगे' ॥

टीका० — सामद्वयं सामनि । वेदे सामोक्तम् । अत्यर्थमधुरे सान्त्वम् ॥

अथो समौ ।

भेदोपजापौ

क्षीर० — संहतयोर्भेदनं भेदः । उपांशु जपनमुपजापः ॥

टीका० — भेदद्वयं भेदे । भिदेर्जपेश्च घञ् । दानं च ब्रह्मवर्ग एवाभि-
हितम् । तेनात्र नोक्तम् ॥

उपधा धर्मार्थैर्यत् परीक्षणम् ॥ २१ ॥

क्षीर० — उपधीयते समीपे दौक्यते परीक्षार्थमुपधा । धर्मार्थका-

मभयोपन्यासेनाशयान्वेषणम् । यत् कौटिल्यः — 'उपधाभिः शौचाचार-
परिज्ञानममात्यानाम्' (अधि० १. अध्या० १०) ॥

टीका० — धर्माद्यैर्धर्मार्थकामभेदै राज्ञोऽमात्यानां परीक्षणमुपधा ।
अन्तर्धावत् ॥

पञ्च त्रिषु

क्षीर० — निश्शलाकान्ता वक्ष्यमाणा वाच्यलिङ्गाः ॥

टीका० — निश्शलाकान्ताः पञ्च त्रिषु ॥

अषडक्षीणो यस्तृतीयाद्यगोचरः ।

क्षीर० — न षडक्षीणि यत्र अषडक्षीणो मन्त्रः । 'अषडक्षाशि-
तञ्जु —' (५. ४. ७) इति स्वार्थे खः । यदाहुः — 'षट्कर्णो भिद्यते
मन्त्रः' । अत एव तृतीयादीनां नृणामगोचरः ॥

टीका० — द्वाभ्यां यो मन्त्रः असावषडक्षीणः । नास्मिन् षडक्षीणि
विद्यन्त इत्यषडक्षीणः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् —' (५. ४. ११३)
इति षच् समासान्तः । ततः 'अषडक्षाशितं ग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात् खः'
(५. ४. ७) ॥

विविक्तविजनच्छन्ननिश्शलाकास्तथा रहः ॥ २२ ॥

रहश्चोपांशु चालिङ्गे

क्षीर० — विविच्यते पृथक्क्रियते स्म विविक्तम् । विगतो जनोऽत्र
विजनम् । छाद्यते स्म छन्नम् । निर्गता शलाका व्यथकोऽत्र निश्शलाकः ।
रहमति रह इत्येके । रहश्शब्दः सान्तः क्लीबे । अन्योऽव्ययम् , उपांशु
च । अलिङ्गे अव्यये द्वे । अनुरहसं च ॥

टीका० — विविक्तसप्तकं विजने । 'विचिर् पृथग्भावे' । क्तः । 'विवि-
क्तं त्रिष्वि'ति रुद्रः । विगतो जनोऽस्मादिति विजनः । 'वा दान्तशान्तपूर्णदस्त-

स्पष्टच्छन्नज्ञाः' (७. २. २७) इति निपातनाच्छन्नः । निर्गता शलाका अस्मादिति निश्शलाकः । शलाका शारिका, मदनशारिकेति पर्यायाः ।

“शल्यं श्वाविच्छलाका स्याच्छारा मदनशारिका”

इति तालव्यादौ रभसः । रमन्तेऽत्रेति रहः । 'देशे ह च' (उ० ४. २१६) इत्यमुन् हश्चान्तादेशः । रहः । सान्तं क्लीबे । द्वितीयो रह उपांशुशब्दश्चालिङ्गे अव्यये ॥

रहस्यं तद्भवे त्रिषु ।

क्षीर०—रहसि भवं रहस्यम् । दिगादित्वाद् यत् ॥

टीका०—रहोभवं रहस्यम् । दिगादियत् ॥

समौ विस्त्रम्भविश्वासौ

०—विस्त्रम्भणं विस्त्रम्भः । विश्वास आश्वासः ॥

टीका०—विस्त्रम्भद्वयं विश्वासे । 'सन्भु विश्वासे' । दन्त्यादिः । घञ् । विस्त्रम्भः । 'श्वास प्राणने' । घञ् । विश्वासः ॥

श्रेषो भ्रंशो यथोचितात् ॥ २३ ॥

क्षीर०—यथोचिताद् रूपाद् भ्रंशोऽधःपातो श्रेषः । 'श्रेष चलने' ॥

टीका०—यथोचिताद् यथाप्राप्ताद् भ्रंशो श्रेषः । मूर्धन्यषः । 'श्रेष चलने' । घञ् ॥

अश्रेषन्यायकल्पास्तु देशरूपं समञ्जसम् ।

क्षीर०—नियतमीयते न्यायः । 'परिन्योर्नीणोः—' (३. ३. ३७) इति घञ् । कल्पनं कल्पः सामर्थ्यम् । दिश्यमानस्योचितस्य रूपं देशरूपम् । प्रशस्तं दर्शनं वा । सम्यगञ्जसा सत्यमत्र समञ्जसम् ॥

टीका०—अश्रेषपञ्चकं न्याये । नञा अश्रेषः । 'परिन्योर्नीणोर्धूता-श्रेषयोः' (३. ३. ३७) इति घञ् । न्यायः । प्रलये कल्प उक्तः । सङ्गतमञ्ज-

स्तत्त्वं समञ्जसम् । 'अच् प्रत्यन्वपूर्वात् सामलोम्नः' (५. ४. ७५) इत्यत्र
अजिति योगविभागादच् ॥

युक्तमौपयिकं लभ्यं भजमानाभिनीतवत् ॥ २४ ॥
न्याय्यं च त्रिषु षट् ।

क्षीर० — उपाय एवौपयिकम् । विनयादित्वाद् 'उपायाद्भस्वश्च'
(ग० ५. ४. ३४) इति ठक् । अभिनीयते स्माभिनीतम् । तद्वन्न्याय्यं
न्यायादनपेतम् । 'धर्मपथ्यर्थ' (४. ४. ९२) इति यत् । उचितं सा-
म्प्रतं च ॥

टीका० — युक्तषट्कं न्याय्ये । औचित्य इति यावत् । युजेः क्तः ।
युक्तम् । औपयिकमिति । विनयादिषु 'उपायाद्भस्वश्च' (ग० ५. ४. ३४) इति
ठग्भस्वत्वे । स्वार्थे 'पोरदुपधात्' (३. १. ९८) इति यति लभ्यम् । भजेः
शानचि भजमानम् । नयतेः क्तः । अभिनीतम् । न्यायादनपेतमिति न्याय्यम् ।
यथा भजमानाभिनीते युक्ताभिधायके तथा न्याय्यमपीति वच्छब्दस्यार्थः । युक्त-
षट्कं त्रिषु । न्यायागते द्रव्यादौ युक्तषट्कम्, अत्रेषपञ्चकं च न्याय्य इति
केचित् ॥

सम्प्रधारणा तु समर्थना ।

क्षीर० — सम्प्रधार्यते भ्रष्टं स्वरूपमापद्यतेऽनयेति सम्प्रधारणा,
युक्तायुक्तपरीक्षा ॥

टीका० — सम्प्रधारणद्वयं समर्थने । निर्धारणे इत्यर्थः ॥

अपवादस्तु निर्देशो निदेशः शासनं च तत् ॥ २५ ॥

शिष्टिराज्ञा च

क्षीर० — अपनम्य वदनमपवाद मुखस्वरूपम् । निशेषेण
देशनं निर्देशः । शासनं नियोजनं शिष्टिः । आज्ञापनमाज्ञा ॥

टीका० — अपवादषट्कमाज्ञायाम् । अपवदनमपवादः । घञ् । दिशेर्घञि
निर्देशनिर्देशौ । शासेत्युटि शासनम् । शिषेः क्तिन् । शिष्टिः । 'आतश्चोपसर्गे'
(३. ३. १०६) इत्यङ् । आज्ञा ॥

संस्था तु मर्यादा धारणा स्थितिः ।

क्षीर० — सन्तिष्ठतेऽनया संस्था । मर्या इति सीमार्थेऽव्ययं, तत्र दीयते मर्यादा ॥

टीका० — संस्थाचतुष्कं मर्यादायाम् । न्यायपथस्थितावित्यर्थः । आज्ञावत् संस्था । पर्याङ्पूर्वाद् दाजो मर्यादा । नैरुक्तो वर्णविपर्ययः । धारेः 'ण्यासश्चन्थो युच्' (३. ३. १०७) । धारणा । तिष्ठतेः क्तिन् । स्थितिः ॥

आगोऽपराधो मन्तुश्च

क्षीर० — आ अगति कुटिलं गच्छत्यागः, असन्तः क्लीवे । मन्यते हृदि मन्तुः ॥

टीका० — आगस्त्यमपराधे । 'इण आगोऽपराधे' (उ०४. २१३) इत्यनेन इणोऽसुन् आगादेशश्च । 'अभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः' (स० २. श्लो० ३२) इति रघुः । अपराधनमपराधः । जन्तुवन्मन्तुः ॥

समे तृद्धानबन्धने ॥ २६ ॥

क्षीर० — उद्दीयतेऽस्मिन् उद्धानम् । 'दो अवखण्डने' 'देइ रक्षणे' वा ॥

टीका० — उद्धानद्वयं बन्धने । 'दो अवखण्डने' । भावे ल्युट् । उद्धानम् । 'बन्ध बन्धने' । ल्युट् । बन्धनम् ॥

द्विपाद्यो द्विगुणो दण्डः

क्षीर० — द्वौ पादौ प्रमाणमस्य द्विपाद्यः । 'पणपादमापशताद् यत्' (५. १. ३४) । प्राण्यङ्गत्वाभावात् 'पद्यत्यतदर्थे' (६. ३. ५३) इति पद्भावाभावः ॥

टीका० — यथोचिताद् द्विगुणो दण्डो द्विपाद्याख्यः । यथा धान्य-

षड्भागहरणे प्राप्ते द्विभागहरणम् । द्वौ पादौ परिमाणमस्येति 'पणपादमाषश-
ताद् यत्' (१. १. ३४) । 'पादः पद्' (६. ४. १३०) इति प्राण्यङ्गग्रहणादेन
न पङ्कावः ॥

भागधेयः करो बलिः ।

क्षीर० — भाग एव भागधेयः । 'भागरूपनामभ्यो धेयः'
(वा० ५. ४. ३६) । कीर्यते प्रत्येकं करः । बलन्तेऽनेन बलिः । 'राजग्राह्यः
षड्भागादिः भागः । प्रत्येकं स्थावरजङ्गमादादेयः करः । नियोज्योपजीव्यो
बलि' रित्यवान्तरभेदोऽर्थशास्त्रोक्तो नाश्रितः ॥

टीका० — राजदेये करे भागधेयत्रयम् । प्राग् व्युत्पादितम् ॥

घट्टादिदेयं शुल्कोऽस्त्री

क्षीर० — घट्टन्तेऽनेन घट्टयति वा घट्टो नदीतरणस्थानम् ।
आदिशब्दाद् गुल्मप्रतोल्यादौ प्रावेश्यनैष्क्रम्यद्रव्येभ्यो राजग्राह्यो भागः
शुल्कः, शलति शलयति वा मुखेन यात्यनेनेति ॥

टीका० — घट्टो वर्त्म । आदिना गुल्मादि । तत्र रक्षार्थं राजदेये शु-
ल्कोऽस्त्री, तालव्यादिश्च ॥

प्राभृतं तु प्रदेशनम् ॥ २७ ॥

उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा ।

क्षीर० — प्रकर्षेणाराधनार्थमाभ्रियते दौक्यते स्म प्राभृतम् ।
प्रदिश्यते प्रदीयते प्रदेशनम् । उप समीपमयन्तेऽनेनोपायनम् । उपगृ-
ह्यते उपग्राह्यम् । उपह्रियते उपहारः । उपदीयते उपदा । कौशलिकं दौक-
निकं च । उपदोत्कोच इत्येके ।

“उपप्रदानमुत्कोच उपदा लञ्चया समाः” ॥

१. 'सऽपि द्वि' ड. छ. पाठः. २. 'दन्यत्र' ख. ड. छ. पाठः. ३. 'भ्यः
स्वार्थे धे', ४. 'व' ख. पाठः. ५. 'पे अय' ग. पाठः, ६. 'म्ब' ख.
ड. पाठः.

टीका० — प्राभृतद्वयं पाहुड इति ख्याते । भृजः क्तः । प्राभृतम् ।
उपायनचतुष्कमुक्तोच्चादावुपहारे । एतेः ल्युट् । उपायनम् । ग्रहेर्ण्यति
उपग्राह्यम् । हारवदुपहारः । अङि उपदा । षडेव केचिदुपहारे वर्णयन्ति ॥

यौतकादि तु यद् देयं सुदायो हरणं च तत् ॥ २८ ॥

क्षीर० — युतयोर्वधूवरयोरिदं यौतकम् । आदिशब्दाद् बन्धुद-
त्तादि । सुष्ठु दीयते सुदायः । स दाय इत्येके । यच्छाश्वतः —

“यौतकादिधनं दायो दायो दानं च कथ्यते” ।

हियते हरणम् ॥

टीका० — कन्यादानकाले जामात्रे दानं यौतकं, तत्र दायद्वयम् ।
युतकं योनिसम्बन्धः, तत्र भवं यौतकम् । अन्तःस्थादिः । आदिना व्रतभिक्षादिः ।
ददातेः घञ् । दायः । हरतेः ल्युट् । हरणम् ॥

तत्कालस्तु तदात्वं स्यात्

क्षीर० — स चासौ कालश्च तत्कालः । तदेत्यस्य भावस्त-
दात्वम् ॥

टीका० — तत्कालद्वयं वर्तमाने काले ॥

ख्यायतिः काल उत्तरः ।

क्षीर० — आ एत्यायतिरागामिकालः ॥

टीका० — भाविनि काले आयतिः ॥

सान्दष्टिकं फलं सद्यः

क्षीर० — सन्दृष्टं प्रत्यक्षं प्रयोजनमस्य सान्दष्टिकम् । समाने-
ऽहनि सद्यस्तात्कालिकं फलम् । ‘सद्यःपरुत्परारि —’ (५. ३. २२)
इति साधुः ॥

१. ‘के । हि’ क. ख. पाठः. २. ‘णम् । यद्भक्ष्यं — सत्त्वानुरूपं हरणीकृतश्रीः ।
तत्का’ ख. पाठः.

टीका० — सद्य इति तात्कालिकं फलं सान्दष्टिकम् । अध्यात्मा-
दित्वाद् ॥

उदर्कः फलमुत्तरम् ॥ २९ ॥

क्षीर० — उद्वच्यतेऽभिलाषात् स्तूयते उदर्कः ॥

टीका० — भावि फलमुदर्कः । अर्कवत् ॥

अदृष्टं वह्नितोयादि

क्षीर० — भयमित्युत्तरेण योज्यम् । आदिशब्दात् पिशाचा-
शन्यादि ॥

टीका० — वक्ष्यमाणेन भय(सम्बन्धेऽशब्दे)न सम्बन्धाद् वह्नितोयाद्यदृष्टं
भयमुच्यते, दैवजनितत्वात् । आदिना वृष्टिशलभमूषिकादि । भयहेतुत्वाद्
भयम् ॥

दृष्टं स्वपरचक्रजम् ।

क्षीर० — स्वराष्ट्रचौरादिकादिभयं परराष्ट्राद् दाहविलोपादि-
भयं च ॥

महीभुजामहिभयं स्वपक्षप्रभवं भयम् ॥ ३० ॥

क्षीर० — स्वपक्षाद् राजपुत्रादेरहेरिव गृहस्थिताद् भयम् ॥

टीका० — स्वपक्षमात्रप्रभवं यद् राज्ञां युद्धे भयं, तदहेरिव भयमहिभ-
यम् । पक्षशब्देन भृत्यादयः सप्त गृह्यन्ते । तथाहि —

“निजोऽथ मैत्रश्च समाश्रितश्च सम्बन्धजः कार्यसमुद्भवश्च ।

भृत्यो गृहीतो विविधोपचारैः पक्षं बुधाः सप्तविधं वेदन्ति” ॥

प्रक्रिया त्वधिकारः स्यात्

१. 'ष्ट' क. ख. ग. ड. छ. पाठः. २. 'चौ', ३. 'क्षजाद् य' ख. पाठः. ४.
'भजन्ति' ड. छ. पाठः.

क्षीर० — प्रारम्भात् करणं प्रक्रिया । अधिक्रियते प्रस्तयतेऽधिकारः, व्यवस्थास्थापनमित्यर्थः ॥

टीका० — नृपादीनां चामरोद्धू(ल)नादिप्रतिपत्तौ प्रक्रियाद्वयम् ।
'कृजः श—' (३. ३. १००) इति शः । 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' (७. ४. २८) इति रिङ् । 'अचि श्नुधातु —' (६. ४. ७७) इत्यादिना इयङ् । प्रक्रिया ॥

चामरं तु प्रकीर्णकम् ।

क्षीर० — चमर्या इदं चामरम् । प्रकीर्यते विक्षिप्यते प्रकीर्णकम् ॥

टीका० — चामरद्वयं चामरे । चमरो मृगः, तस्यायमिति चामरः । 'कृ विक्षेपे' । कर्मणि क्तः । ततः स्वार्थे कन् । प्रकीर्णकम् ॥

नृपासनं यत् तद् भद्रासनं

क्षीर० — भद्रस्यासनं, भद्रं रूप्यादिमयं वा आसनं भद्रासनम् ॥

टीका० — नृपासनद्वयं नृपासनसामान्ये ॥

सिंहासनं तु तत् ॥ ३१ ॥

हैमं

क्षीर० — हेम्न इदं हैमं सिंहोपलक्षितमासनम् ॥

टीका० — तदेवासनं सौवर्णं सिंहासनाख्यम् ॥

छत्रं त्वातपत्रं

क्षीर० — छाद्यतेऽनेन छत्रम् । आतपात् त्रायत आतपत्रम् ॥

टीका० — छत्रद्वयं छत्रे । छादेः घृत् । छद्मवद् ह्रस्वत्वम् । आतपात् त्रायत इत्यातपत्रम् ॥

राज्ञस्तु नृपलक्ष्म तत् ।

क्षीर० — तत् छत्रम् । यलक्ष्यं —

“नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्” ॥

टीका० — राज्ञश्छत्रं कनकदण्डं नृपलक्ष्म । नान्तम् ॥

भद्रकुम्भः पूर्णकुम्भः

क्षीर० — भद्रार्थं भद्रार्थो वा कुम्भः ॥

टीका० — भद्रकुम्भद्वयं पूर्णकुम्भे ॥

भृङ्गारः कनकालुका ॥ ३२ ॥

क्षीर० — भृज्यते भ्रियते वा भृङ्गारः । सौवर्णी आलुका ॥

टीका० — भृङ्गारद्वयं कनकघटादौ । कनकस्यालुका कर्करी कन-
कालुका ॥

निवेशः शिबिरं षण्डे

क्षीर० — निवेश्यते सन्निवेशेन स्थाप्यते निवेशः सैन्यावासः ।
शेरतेऽस्मिञ्छिबिरम् । स्कन्धावारोऽपि ॥

टीका० — आगन्तुकसैन्यस्य वाटके कटके वा निवेशद्वयम् । विशेष-
धञ् । निवेशः । ‘अजिरशिशिरशिबिर—’ (उ० १. ५६) इत्यादिना शेतेर्निपात-
नाच्छिबिरम् । अनेकार्थत्वादन्तःपुरेऽपि ॥

सज्जनं तूपरक्षणम् ।

क्षीर० — सत् शोभनं जन्यते सज्जनं, सज्ज्यतेऽनेनेति वा । उप-
रक्ष्यतेऽनेनोपरक्षणं सैन्यस्य प्रगुणीकरणं गुल्मको वा ॥

१. ‘स्या’ म., ‘स्य दाठके’ ख. पाठः. २. ‘रोऽपि ख. पाठः.

टीका०— बलैकदेशेन यद् बलस्य रक्षणं तत्र सज्जनद्वयम् । 'ग्लुञ्चु-
षसज गतौ' । ल्युट् । जश्त्वचुत्वे । सज्जनम् ॥

हस्त्यश्वरथपादात् सेनाङ्गं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ३३ ॥

क्षीर०— चतुरङ्गा हि सेना । पदातीनां समूहः पादातम् ।
भिक्षादित्वादण् ॥

टीका०— हस्त्यश्वादिचतुष्कं सेनाङ्गम् । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गा-
नाम्' (२. ४. २) इति समासे एकवचनम् । पदातिसमूहे पादातम् । समू-
हेऽण् ॥

दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः ।

मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी ॥ ३४ ॥

इभः स्तम्बेरमः पद्मी

क्षीर०— दन्तौ स्तोऽस्य दन्ती । दन्तावलः । 'दन्तशिखात् संज्ञा-
याम्' (५. २. ११३) । वलच् । 'वले' (६. ३. ११८) इति दीर्घः । हस्ती ।
'हस्ताज्जातौ' (५. २. १३३) इतीनिः । द्वौ रदावस्य द्विरदः । न एकेन
पिबत्यनेकपः । द्वाभ्यां पिबति द्विपः । मतङ्गादृषेर्जातो मतङ्गजः । गजति
माद्यति गजः । नगे भवो नागः । न अगो वा । कुञ्जौ कुम्भाधोगतौ
दंष्ट्रे वा स्तोऽस्य कुञ्जरः । 'खमुखकुञ्जेभ्यो रो वक्तव्यः' (वा० ५. २. १०७) ।
वारयत्यरीन् वारणः । एतीभः । स्तम्बे तृणे रमते स्तम्बेरमः । 'स्तम्ब-
कर्णयो रमिजपोः' (३. २. १३) । अच् । पद्मानि यौवने रक्ता बिन्दवः
सन्त्यस्य पद्मी । सामजः सिन्धुरः कुम्भी च ॥

टीका०— दन्तिपञ्चदशकं हस्तिनि । दन्तयोगाद् दन्ती । 'दन्तशि-
खात् संज्ञायाम्' (५. २. ११३) इति वलच् । 'वले' (६. ३. ११८) इति
दीर्घः । दन्तावलः । हस्तीति । 'हस्ताज्जातौ' (५. २. १३३) इतीनिः । दन्त-
द्वययोगाद् द्विरदः । करेणास्येन च पिबतीत्यनेकपः । अत एव द्विपः । 'सुपि'
(३. २. ४) इति योगविभागात् कः । मतङ्गादृषेर्जातो मतङ्गजः । गजतीति

गजः । अच् । नग इव दृश्यत इति नागः । शेषेऽण् । कुञ्जौ हनू, तद्योगात्
कुञ्जरः । 'खमुखकुञ्जेभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा० ५. २. १०७) इति रः । पर-
बलं वारयतीति वारणः । नन्वादिः । करयोगाद् इनौ करी । 'इणः कित्' (उ०
३. १५४) इति भन् । इनः । 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' (३. २. १३) इति
अच् । स्तम्बेरमः । पद्मं विन्दुजालकं, तद्योगाद् इनिः । पद्मी ॥

यूथनाथस्तु यूथपः ।

क्षीर० — इतोऽश्वेभ्यः प्राग् गजवर्गः ॥

टीका० — यूथनाथद्वयं यूथाधिपतौ करिणि ॥

मदोत्कटो मदकलः

क्षीर० — मदेन दानाम्बुना कलो मनोहः ॥

टीका० — अन्तर्मदे हस्तिनि मदोत्कटद्वयम् ॥

कलभः करिपोतकः ॥ ३५ ॥

क्षीर० — कलो भाति, कं लभते वा कलभः ॥

टीका० — कलभद्वयं करिपोते । § 'शृशालिकलिभ्योऽभच्' (उ० ३.
१२) ॥

प्रभिन्नो गर्जितो मत्तः

क्षीर० — प्रभिद्यते स्म प्रभिन्नः । गर्जा सञ्जातास्य गर्जितः ॥

टीका० — प्रभिन्नत्रयं मत्तहस्तिनि । भिदिगर्जिमदिभ्यः क्तः । प्र-
न्नः ॥

१. 'न्नः । इतच्च गर्जि' ख. पाठः.

§ 'शृशालिकलिगदिभ्योऽभच्' इति सुप्रितोणादिपाठः ।

समावुद्धान्तनिर्मेदौ ।

क्षीर० — उद्भूति स्मोद्धान्तः ॥

टीका० — कालवशान्निगलितमदे उद्धान्तद्वयम् । 'दुवम उद्भिरणे' ।
क्तः । 'अनुनासिकस्य —' (१. ४. १९) इत्यादिना दीर्घः । उद्धान्तः ॥

राजवाह्यस्त्वौपवाह्यः

क्षीर० — उपवाह्याः समन्ताद् वोढव्याः सन्त्यस्यौपवाह्यः ॥

सन्नाह्यः समरोचितः ॥ ३६ ॥

क्षीर० — सन्नद्धं कर्तुमर्हति । समराय योग्यत्वात् ॥

हास्तिकं गजता वृन्दे

क्षीर० — हस्तिनां समूहो हास्तिकम् । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक' (४. २. ४७) । गजानां समूहो गजता । 'गजाच्च' (वा० ४. २. ४३) इति वक्तव्यात् तल् ॥

टीका० — गजवृन्दे हास्तिकद्वयम् । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक' (४. २. ४७) । हास्तिकम् । 'गजाच्चेति वक्तव्यम्' (वा० ४. २. ४३) इति तल् । गजता ॥

करिणी धेनुका वशा ।

क्षीर० — धयन्त्येनां धेनुका । वष्टि कामयते वशा ॥

टीका० — करिणीत्रयं हस्तिन्याम् । धेनुरेव धेनुका । 'वश कान्तौ' । अच् । वशा तालव्यशा । अतः परं गात्रापरपर्यायान्ता हस्तिनोऽवयवाः कथ्यन्ते ॥

१. 'ले' ख. पाठः.

† 'गजसहायाभ्यां च' इति मुद्रितवार्तिकपाठः ।

गण्डः कटः

क्षीर० — 'गडि वदनैकदेशे' [कटति वर्षति मदं कटः ॥

टीका० — मदनिर्झारस्थाने गण्डद्वयम् । खङ्गिनि गण्ड उक्तः । कटेः
अच् । कटः ॥

मदो दानं

क्षीर० — माद्यत्यनेन मदः । 'मदोऽनुपसर्गे' (३. ३. ६७) ।
अप् । द्यति खण्डयत्यनेनेति दानम् ॥

टीका० — मदद्वयं मदे । द्वयं साधितम् ॥

वमथुः करशीकरः ॥ ३७ ॥

क्षीर० — वम्यते वमथुः । 'द्वितोऽथुच्' (३. ३. ८९) ॥

टीका० — वमनजले वमथुद्वयम् । 'द्ववम उद्गिरणे' । 'द्वितोऽथुच्'
(३. ३. ८९) । वमथुः ॥

कुम्भौ तु पिण्डौ शिरसः

क्षीर० — कुम्भाकृती मांससङ्घातौ ॥

टीका० — शिरःपिण्डौ कुम्भाख्यौ ॥

तयोर्मध्ये विदुः पुमान् ।

क्षीर० — वेत्ति संज्ञां यस्मादङ्कुशस्थानात् स विदुः । यत् पालः
काप्यः —

“तत्र रक्षाविताने द्वे विदू द्वौ श्रवणे गतौ ।

प्राक् च पश्चाच्च तिर्यक् च षड्भेदाङ्कुशधारणा ” ॥

टीका० — कुम्भयोर्मध्यभागो विदुः । अङ्कुशाघातं वेत्यस्मिन्निति
'कुम्भश्च' (उ० १. २२) इति बाहुलक औणादिकः कुः ॥

अवग्रहो ललाटं स्याद्

क्षीर० — अवग्रहतेऽङ्कुशेनावग्रहः ॥

टीका० — ललाटेऽवग्रहो दीर्घशून्यो वृष्टचभावे साधितः ।

“गजालिके वृष्टिरोधे प्रतिबन्धेऽप्यवग्रहः”

इति रुद्रश्च ॥

ईषिका त्वक्षिकूटकम् ॥ ३८ ॥

क्षीर० — ईषा लाङ्गलकीलिकेवेषिका ॥

टीका० — अक्षिकूटमक्षिगोलं, तत्रेषिका । दीर्घादिः । 'ईष गतिर्हिंसादा-
नेषु' । ण्वुल् । उणादौ तु 'ईषेः किङ्स्वश्च' (उ० ४. २१) इतीकानि धातो-
र्ह्रस्वत्वे ह्रस्वादि दीर्घमध्यं च । 'ऐषीकमस्त्रमि'त्यादिमुरारेर्दीर्घमध्यप्रयोगः ।
शरकाष्ठिकायां वीरणकाष्ठिकायां चेदृगेव । तथाच — 'शरत्समयमिव रोचमा-
नेषीकं द्विरदमि'त्याश्चर्यमञ्जरी । शरत्पक्ष ईषीका ॥

अपाङ्गदेशो निर्याणं

क्षीर० — निर्यात्यश्च अनेन निर्याणम् ॥

टीका० — काशीति ख्याते नेत्रान्ते निर्याणं, निर्यात्यनेन दृष्टि-
रिति । ल्युट् ॥

कर्णमूलं तु चूलिका ।

क्षीर० — चोद्यते पार्श्वगमनायाङ्कुशेनास्यां चूलिका ॥

टीका० — कर्णमूले चूलिका । 'चूल समुच्छ्राये' । ण्वुल् ॥

अधः कुम्भस्य वाहित्थं

क्षीर० — बाह्यतेऽनेनाङ्कुशचोदनया वाहित्थम् । मदवाहिनि स्थाने तिष्ठति । वाहिस्थापभ्रंशीऽयं वा ॥

टीका० — कुम्भस्येति वातकुम्भस्याधो वाहित्थम् । 'वाहित्थं वातकुम्भाध' इति भागुरिः । वातकुम्भश्च ललाटाधोभागः ॥

प्रतिमानमधोऽस्य च ॥ ३९ ॥

क्षीर० — अस्य वाहित्थस्याधः प्रतिमानम् । प्रतिमीयतेऽनेनेति । 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' । 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' (६. १. ५०) इत्यात्वम् ॥

टीका० — वाहित्थस्याधोभागो दन्तयोर्मध्यं प्रतिमानम् । मातेर्युट् ॥

आसनं स्कन्धदेशः स्यात्

क्षीर० — आस्यतेऽस्मिन्नासनम् ॥

टीका० — आसनद्वयं हस्तिपकोपवेशनस्थाने । आसनमुक्तम् ॥

पद्मकं बिन्दुजातम् ।

क्षीर० — पद्मप्रतिकृती रक्तत्वात् पद्मकम् । तारुण्ये हस्तिनां देहे रक्तबिन्दवः स्युः ॥

टीका० — सिध्मादिरूपबिन्दुसमूहे पद्मकद्वयम् । पद्मेव पद्मकम् ॥

पक्षभागः पार्श्वभागो दन्तभागस्तु योऽग्रतः ॥ ४० ॥

क्षीर० — हस्तिनां योऽग्रतो भागः ॥

टीका० — पक्षभागद्वयं पार्श्वदेशे । दन्तसन्निहितोऽग्रभागो दन्तभागः ॥

द्वौ पूर्वपश्चाज्जङ्घादिदेशौ गात्रापरे क्रमात् ।

क्षीर० — हस्तिनां पूर्वः पार्श्वजङ्घादिर्भागो गात्रम्^१ । पश्चाज्जङ्घा-
गोऽपरम् ॥

टीका० — पूर्वमग्रं, पूर्वजङ्घा आदिदेशो यस्य तद् गात्रम् । पश्चाज्जङ्घा
आदिदेशो यस्य तत्रापरम् । पूर्वजङ्घाभागो गात्रं पश्चाज्जङ्घाभागोऽपरमित्यर्थः ॥

तोत्रं वैष्णुकम्

क्षीर० — तुद्यतेऽनेन वेणुमयेन प्रेषणेनेति तोत्रम् ॥

टीका० — तोत्रद्वयं कनाल इति ख्याते । ‘तुद व्यथने’ । दात्री-
शस —’ (३. २. १८२) इत्यादिना घृन् । तोत्रम् । वेणुना निर्वृत्तं वैष्णुकम् ।
‘निर्वृत्तेऽक्षयूतादिभ्यः’ (४. ४. १९) इति ठक् । कचिद् वेणुकमिति पाठः । तदा
च स्वार्थिकः कन् ॥

आलानं बन्धस्तम्भे

क्षीर० — आलायते बध्यतेऽत्रालानम् ॥

टीका० — आलानद्वयं वाखोड इति ख्याते । बन्धस्तम्भ इति समा-
हारद्वन्द्वं (मिःइ)ति बन्धस्तम्भयोरुभयोरप्यालानं वर्तते इति केचित् । प्रयोगोऽप्यु-
भयत्र दृश्यते । ‘नालानं करिणां सप्ते’ (इति),

“तद्गजालानतां प्राप्तेः सह कालागरुद्रुमैः”

इति च । लातेः करणे ल्युट् ॥

अथ शृङ्खले ॥ ४१ ॥

अन्दुको निगलोऽस्त्री स्याद्

क्षीर० — शृणाति वन्धने शृङ्खलम् । अन्दति वध्नात्यन्दः । ‘अति-
अदि वन्धने’ । स्वार्थे कन् । ‘इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य’ (६. ३. ६१) ।
निगल्यते वध्यतेऽनेनेति निगलः ॥

टीका० — शृङ्खलत्रयं सिद्धंति ख्याते । शिञ्जन्तः स्खलन्त्यनेनेति
पृषोदरादिः । शृङ्खलः । ‘शृङ्खलस्त्रिष्विति’ तालव्यादौ रभसः । ‘अति अदि
वन्धने’ । ‘अन्दूहन्भूजम्बूकफेल्ककैन्धूदिषिषूः’ (उ० १. ९६) इति बाहुलकः
कूप्रत्ययः । ततः ‘इवे प्रतिकृतौ’ (५. ३. ९६) इति कन् । ‘केऽणः’ (७. ४. १३)
इति ह्रस्वः । अन्दुकः । ‘गड सेचने’ । अच् । निगडः ॥

अङ्कुशोऽस्त्री सृणिर्द्वयोः ।

क्षीर० — अङ्क्यते गम्यतेऽनेनाङ्कुशः । सरत्यनया सृणिः ॥

टीका० — अङ्कुशत्रयमङ्कुशे । ‘अकि लक्षणे’ । ‘सानसिर्वर्णसि—’
(उ० ४. १९) इत्यादिना उशप्रत्ययः । अङ्कुशस्तालव्यशः । सर्तेः ‘सृवृ-
षिभ्यां कित्’ (उ० ४. ५०) इति निः । सृणिः । ‘आरक्षमग्नमवमत्य सृणिं
शिताग्रम्’ (स० ९. श्लो० ५) इति माघप्रयोगात् स्त्रियामिति प्रमादपाठः ।
द्वयोरित्येव पाठः ॥

दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्

क्षीर० — दूष्यते दूयतेवानया वा दूष्या । कक्षार्यां मध्यमदेशे
भवा कक्ष्या । त्रियतेऽनया वरत्रा मध्यवन्धनी चर्मरज्जुः ॥

टीका० — चूषात्रयं कच्छरज्जौ । *‘चूष याचने’ । ‘गुरोश्च हलः’
(३. ३. १०३) इत्यः । चूषा । दीर्घवचकारादिमूर्धन्यषा । कक्षा विश्वप्रकाशे

१. ‘लेन शृ’ क. पाठः. २. ‘डः’ ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘क’ ख. ग. पाठः.
४. ‘याः’ ख. पाठः.

* ‘चूष पाने इति’ मुद्रितधातुपाठः ।

क्षान्तोक्ता । यान्तापि कक्षयेत्यजयः । 'वृजश्चित्' (उ० ३. १०७) इत्य-
त्रन् । वरत्रा ॥

कल्पना सज्जना समे ॥ ४२ ॥

क्षीर० — हस्तिनां सज्जीकरणमङ्गोलगैरिकादिना । गृङ्गारे-
णेत्येके ॥

टीका० — कल्पनाद्वयं सामणीति ख्यातायाम् । 'कृपू सामर्थ्ये' । 'ग्लुञ्चु
षस्ज गतौ' । 'प्यासश्रन्थो युच्' (३. ३. १०७) ॥

प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः ।

क्षीर० — प्रवयत्येनां प्रवेणी । आस्तीर्यते हस्तिपृष्ठे आस्तरणम् ।
वर्णो वर्णकम्बलः । भीमवत् । परिस्तोम्यते प्रस्तीर्यते परिस्तोमः । वर्ण-
परिस्तोम इत्येके । कुथ्यते कुथः ॥

टीका० — प्रवेणीपञ्चकं चित्रकम्बले । वेण्यां प्रवेण्युक्ता । आस्ती-
र्यतेऽनेनेत्यास्तरणम् । ल्युट् । ब्राह्मणादिषु वर्ण उक्तः । स्तौतेः सोमवन्मन् ।
परिस्तोमः । 'कुथ पूतीभावे' । इगुपधलक्षणः कः । 'स्त्रियां वेणी कुथं त्रि-
प्वि'ति बोधालितः ॥

वीतं त्वसारं हस्त्यश्वं

क्षीर० — वेति स्म याति भुङ्क्ते च वीतम् । विशेषेणेतं नष्टं
वा । सेनाङ्गत्वात् समाहारः ॥

टीका० — असारं युद्धाक्षमं हस्त्यश्वं वीतम् । विगतमितं गमनमस्य
तद् वीतम् ॥

वारी तु गजबन्धनी ॥ ४३ ॥

क्षीर० — वार्यतेऽनया वारी गजादानभूमिः ॥

टीका० — वारिद्वयं वार्याम् । 'वसिवपियजिराजित्रजिसदिहनिवाशि-
वादिवारिभ्य इञ्' (उ० ४. १२६) इति वृणातेः ण्यन्तादिञ् । 'कृदिकाराद् —'
(ग० ४. १. ४६) इति ङीप् वारी च । उक्तो हस्ती ॥

घोटके वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः ।

वाजिवाहार्वागन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः ॥ ४४ ॥

क्षीर० — घोटते भूमौ परिवर्तते घोटकः । वेति याति वीतिः । पीतिरित्येके । 'पीड् पाने' । तुरं त्वरितं गच्छतीति तुरगः, 'अन्यत्रापि दृश्यते' (वा० ३. २. ४८) इति डः । तुरङ्गमः, 'गमश्च' (३. २. ४७) इति खच् । तुरङ्गः, 'खच्च डिद् वा वक्तव्यः' (वा० ३. २. ३८) । अश्नुतेऽध्वानमश्वः । वजति तच्छीलो वाजी । वाजाः पक्षा अभूवन्नस्येति वा । बाह्यते बाहः । अर्वति यात्यर्वा । गन्ध्यतेऽर्द्यते गन्धर्वः । हयति याति हयः । सिन्धौ भवः सैन्धवः । विशेषोऽपि सामान्यवृत्तिः । सपति समवैति सप्तिः । इतो रथप्रकरणात् प्रागश्वपरिकरः ॥

टीका० — घोटकत्रयोदशकमश्वे । 'घुट परिवर्तने' । ण्वुल् । घोटकः । पिवतेः 'क्तिक्त्तौ च संज्ञायाम्' (३. ३. १७४) इति क्तिः । 'पाने स्त्री पीतिरश्वे ना' इति रुद्रः । 'तुर त्वरणे' । 'इगुपधज्ञाप्तीकिरः कः' (३. १. १३९) । तुरो गच्छतीत्यर्थः । भुजगवड्ढुप्रत्ययादिः । 'अशू प्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः कन्' (उ० १. १९७) । अश्वः । वाजो वेगस्तद्योगाद् वाजी । बाह्यत इति बाहः । धञ् । अर्तेः वनिप् । अर्वा नान्तः । शत्रन्तोऽप्यर्वन् । तथाच मावे—'(मु-हुरमुः!अ)र्वतां वजाः' इति । स्त्रियामर्वती । गन्धर्व उक्तः । 'हय गतौ' । पचाद्यच् । हयः । सिन्धुदेशे भवः सैन्धवः । 'कच्छादिभ्यश्च' (४. २. १३३) इत्यण् । सप समवाये । बाहुलकस्तिः । सप्तिः ॥

आजानेयाः कुलीनाः स्युः

क्षीर०—आजेन क्षेपेण आनेया आजानेयाः, आयत्ता इत्यर्थः ॥

टीका०—कुलीनाः प्रधानाश्च भूमिभवा अश्वा आजानेयाः, सुवाहत्वात् । अजावन्नेया अजानेयाः । पृषोदरादिस्वादादिदीर्घत्वमिति हङ्गुचन्द्रः ।

“अश्वं कुलीनमाजानेयं शावकं किशोरकं ब्रूते”

१. 'ति । डः । खच्च डिद् । गमश्चेति खच् । अश्नु' क. ग. घ. ड. पाठः. २. 'ति सप्तिः' ग. पाठः.

इति नाममालायामपि ॥

विनीताः साधुवाहिनः ।

क्षीर० — विनीयन्ते विनीताः सुशिक्षिताः ॥

टीका० — शोभनवहनशीला यत्र तत्र भवा विनीताः । नयतेः क्तः ॥

वनायुजाः पारसीकाः काम्बोजा बाहिका हयाः ॥ ४५ ॥

क्षीर० — वनायवादिषु देशेष्वेते जाता हयविशेषाः । एवं तुरका-
रादयोऽपि (?) । लक्ष्ये बाह्यीकोऽश्वः ॥

टीका० — वानायुजद्वयं वनायुजदेशजे । अनयोरभेदोपचारादेकत्वम् ।
द्वौ भवार्थेऽपि दीर्घा(दिःदी) । तथाच नाममाला —

“श्वेतं कर्काख्यं वानायुजमपि पारसीकं तु” ।

‘पारसीको वनायुजः’ इत्युत्पत्तिन्यां ह्रस्वादिः । काम्बोजदेशजेऽश्वे काम्बोज-
द्वयम् । ‘काम्बोजाल्लुक्’ (४. १. १७३) इति ‘जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्’ (४.
१. १६६) इत्यस्यैवानन्तरविहितस्य लुक्, न तु शैषिकाणः । अतो दीर्घादिः
काम्बोजः । कुङ्कुमे बाहिक उक्तः । हया हयविशेषाः । एकत्वं नास्ति । पृथ-
गेव नामानीति केचित् ॥

ययुरश्वोऽश्वमेधीयः

क्षीर० — यात्यत्यर्थं ययुः । अश्वमेधाय हितोऽश्वमेधीयः ।
‘अश्वमेधाच्छ च’ ॥

टीका० — अश्वमेधारहे घोटे ययुः । व्यन्तस्थः । ‘यां प्रापणे’ ।
‘यो द्वे च’ (उ० १. २१) इत्युः किञ्च । ययुः । ‘तस्मै हितम्’ (५. १. ९)
इति छः । अश्वमेधीयः ॥

जवनस्तु जवाधिकः ।

क्षीर० — जवते तच्छीलो जवनः । ‘जुचङ्गम्य —’ (३. २.

१५०) इति युच् । मृगादिरपि । 'प्रजोरिनिः' (३. २. १५६) इति प्रजवी च ॥

टीका० — वेगाधिके जवनश्चवर्गादिः ॥

पृष्ठयः स्थौरी

क्षीर० — यत्पृष्ठे जलादिकमुद्धतेऽसौ पृष्ठयः । यप् । स्थूराणां पश्चाज्जङ्घाभागानामिदं स्थौरम् । स्थौरं बलमस्त्यस्य स्थौरी ॥

टीका० — बलीवर्देवत् पृष्ठेन भारवाहके पृष्ठचद्वयम् । य(त्प्र? प्प्र)-कण्ठे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा० ५. २. १२०) इति य(त्? प्) । पृष्ठयः । 'स्थूलं परिवृंहणे' । अण् । रलयोरैक्यात् स्थूराया इदं स्थौरं पृष्ठवाह्यं, तद्योगादिनिः, स्थौरी । स्थूरीत्यपि केचित् ॥

स्तिनः कर्कः

क्षीर० — शुक्लोऽश्वः कर्कः । क्रियन्ते वर्णान्तराण्यस्येति ॥

टीका० — श्वेतहये कर्कः ॥

रथ्यो वोढा रथस्य यः ॥ ४६ ॥

क्षीर० — रथं वहति रथ्यः । 'तद् वहति रथयुग —' (४. ४. ७६) इति यत् ॥

टीका० — यो रथं वहति स रथ्यः । 'तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४. ४. ७६) इति यत् ॥

वालः किशोरः

क्षीर० — (किश्यते?) वध्यते कश्यते वा किशोरः ॥

टीका० — वाले किशोरः । 'किशोरादयश्च' (उ० १. ६८) इत्यत्र तालव्यशः ॥

वाम्यश्वा बडवा

क्षीर० — वाम्यते गर्भं वामी । यलक्ष्यम् — 'अथोष्ट्रवामीशतहारि-
तार्थम्' (रघु० स० ५. श्लो० ३२) । वडं बलं हयं वा वाति वडवा ।
स्त्रीविषयत्वाद् डीप् नास्ति । अश्वा त्वजादिः । प्रसूनीनार्थे ॥

टीका० — वामीत्रयमश्वायाम् । वामी गौरादिः । अश्व उक्तः । टापि
अश्वा । बलतेर्बाहुलकाद् अवन् । डलयोरेकत्वस्मरणम् । वडवा ॥

वाडवं गणे ।

क्षीर० — वडवानां समूहो वाडवम् । 'खण्डिकादिभ्यश्च' (४. २.
४५) इत्यञ् ॥

टीका० — वडवासमूहे वाडवम् । 'खण्डिकादिभ्यश्च' (४. २. ४५)
इत्यञ् ॥

त्रिष्वश्वीनं यदश्वेन दिनेनैकेन गम्यते ॥ ४७ ॥

क्षीर० — 'अश्वस्यैकाहगमः' (५. २. १९) इति खञ् ॥

टीका० — अश्वेनैकदिनगम्ये वर्त्मन्याश्वीनम् । 'अश्वस्यैकाहगमः'
(५. २. १९) इति खञ् ॥

कश्यं तु मध्यमश्वानां

क्षीर० — कशामर्हति कश्यञ् ॥

टीका० — अश्वमध्यभागे कश्यं, कशां चर्मलतां ताडनार्थमर्हतीति ।
'दण्डादिभ्यो यः' (५. १. ६६) । 'दशकशावशे'ति तालव्यदेशना ॥

हेषा हेषा च निस्वनः ।

क्षीर० — 'हेषु हेषु अव्यक्ते शब्दे' । 'गुरोश्च हलः' (३. ३.
१०३) इत्यः ॥

टीका० — अश्वनिस्वने हेषाद्वयम् । 'रेषु हेषु अव्यक्ते शब्दे' । 'गु-
रोश्च हलः' (३. ३. १०३) इत्यः । हेषेति पाठो 'हेष गतौ' इत्यतो व्युत्पा-
द्यः । द्वौ मूर्धन्यपौ ॥

निगालस्तु गलोद्देशः

क्षीर० — निगलत्यनेन निगालः । गलो जत्रुसन्धिः । 'उन्नयोर्ग्रः' (३. ३. २९) इति घञ् । गलस्योद्देशः प्रदेशः । देवमणेरारवर्तस्य स्थानम् ॥

टीका० — अश्वानां गलस्योद्देशे समीपे निगालः । गिरतेर्ण्यन्ताद् एरचि रलयोरैक्यम् ॥

वृन्दे त्वश्वीयमाश्वचत् ॥ ४८ ॥

क्षीर० — अश्वानां समूहे । 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' (४. २. ४८) । पक्षे 'अनुदात्तादेरञ्' (४. २. ४४) इत्यञ् ॥

टीका० — अश्वीयद्वयमश्वसमूहे । 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्' (४. २. ४८) इति छः । अश्वीयम् । 'तस्य समूहः' (४. २. ३७) इत्यणि आश्वम् ॥

आस्कन्दितं धोरितकं रेचितं वल्लितं प्लुतम् ।

गतयोऽमूः पञ्च धाराः

क्षीर० — अश्वानां धाराख्याः पञ्चैवा गतयः । धार्यते गतौ स्थाप्यतेऽनया धारा । भिदादित्वात् साधुः । आस्कन्दनमास्कन्दितम्, उत्तेरिताख्यो गतिवेगः । धोरणं धोरितम् । 'धोरु गतिचातुर्ये' । रेचितम् उत्तेजिताख्यम् । क्रमस्त्वन्यथा । यदाहुः —

“धोरितं वल्लितं धाराः प्लुतमुत्तेजितं क्रमात् ।

उत्तेरितं चेति पञ्च शिक्षयेत् तुरगं गतीः ॥

धोरितं गतिमात्रे यद् योजनं वल्लितं पुरः ।

अग्रकायसमुल्लासात् कुञ्चितास्यं नतत्रिकम् ॥

पूर्वापरोन्मनतः क्रमादारोहणं प्लुतम् ।

१. 'लोहे' ज पाठः. २. 'स्याम्' इति विकल्पेन यञ् । ३. ख. पाठः.

उत्तेजितं मध्यवेगे योजनं श्लथवल्गया ॥

उत्तेरिते तु वेगान्धो न शृणोति न पश्यति ।” ॥

टीका० — आस्कन्दितादयः पञ्च गतिविशेषा धाराशब्दवाच्याः । तत्र विष्टब्धा समा च गतिरास्कन्दितं वीरव इति ख्यातम् । ‘स्कन्दिर् गति-शोषणयोः’ । क्तः । ऋजुदूरगमनं पुलिन इति ख्यातं धौरितकम् ‘धोर्ऋ गति-चातुर्ये’ । क्तः । तदन्तात् स्वार्थे कन् । मण्डलिकालयेन गमनं रेचितम् । क्तः । हेड्ड इति ख्यातम् । वेगेन विक्षिप्तोपरिचरणं वल्गनं वल्गितम् । वल्गेः क्तः । मार्जा इति ख्यातम् । त्वरया साम्येन गतिः प्लुतम् । प्लवतेः क्तः । पर इति ख्यातम् ॥

घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम् ॥ ४९ ॥

क्षीर० — घृणते श्वासेन चलति घोणा । प्रवते चलति प्रोथः, वृत्तो नासान्तरप्रदेशः ॥

टीका० — घोणायां प्रोथः । ‘प्रोथु पर्याप्तौ’ । पचादिः ॥

कविका तु खलीनोऽस्त्री

क्षीर० — कवते दन्तचर्वणाच्छब्दायते इति कविका वक्त्रैकदेशे वक्त्रनियामके लोहशङ्कौ वर्तते । लोके त्वयोमयी सर्वमुखनियन्त्रिका कविका । खलति चलति खलीनम् । खे तालुनि लीनं वा ॥

टीका० — कवीति ख्यातायां लोहकृतायां (लेखकृतायाम्?) अश्वमुखवन्धन्यां कविकाद्वयम् । ‘कवी तु खलीन’ इत्यजयः । अतः स्वार्थिकोऽत्र कः ।

“कविका तु खलीनोऽस्त्री कविकं कर्षणीत्यपि”

इति रभसः । खे मुखविवरे लीनं खलीनं दीर्घमध्यम् ।

“सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरखलिनकशाकृकशात्यन्तमुग्रैः”

इति विशाखदत्तः । तदा च पृषोदरादिह्रस्वत्वम् ॥

शफं क्लीबे खुरः पुमान् ।

क्षीर० — शाण्यते भुवा घृष्यते शफम् । खुरति विलिखति
क्ष्मां खुरं ॥

टीका० — शफद्वयं खुरे । शफं क्लीबम् । 'खुरच्छेदने' । इगुपध-
लक्षणः कः ।

“भजेथाः पश्चान्मां वरतनु ! पुरस्तान्मृगैःखुर-
क्षुरप्रस्यालेख्यस्थपुटितविभागा वनभुवः ।”

इत्यादि । (मुवश्चः) ॥

पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गलै बालहस्तश्च बालधिः ॥ ५० ॥

क्षीर० — पूयते दंशादीनुत्सारयति पुच्छम् । पुतं छादयति
वा । लूयते लूमम् । लङ्गति चलति लाङ्गलम् । बालो हस्त इव दंशवार-
णाद् बालहस्तः । प्रशस्ता बाला वा । बाला धीयन्तेऽस्मिन् बालधिः ॥

टीका० — पुच्छत्रयं लाङ्गले । 'पुच्छ प्रमादे' । कः । पुच्छः । लज्जो
बाहुलको मक् । लूममदन्तम् । लगेः 'खर्जपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ' (उ० ४. ९१) ।
'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७) इति दीर्घः । लाङ्गूलम् । केशवति लाङ्-
गूलमात्रे बालहस्तद्वयम् । न तु हस्तिन एव । तथा च 'परिगतो ज्वलनमु-
न्धताबालधिः' इति बालरामायणे हनूमाद्विषये बालधिः प्रयुक्तः । बालसमूहयो-
गाद् बालहस्तः । बालो धीयतेऽत्रेति बालधिः ॥

त्रिषूपावृत्तलुठितौ परावृत्ते मुहुर्भुवि ।

क्षीर० — उपावर्तते स्मोपावृत्तोऽश्वः । लुठति स्म लुठितः ॥

१. 'उपावृष्य' ग. ड. पाठः. २. 'गक्षु' ट., 'गखुरप्र' ज. पाठः. ३. 'तच्छाद'
ग. पाठः.

टीका० — भूमौ पुनः पुनर्लोठ्यायतेऽश्वादावुपावृत्तद्वयम् । उपा-
ङ्पूर्वाद् वृत्तेः लुठतेश्च कर्तरि क्तः ॥

याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गः स्यन्दनो रथः ॥ ५१ ॥

क्षीर० — यान्त्यनेन यानं साम्प्रतयिकाख्यं । शताङ्गो वह्नरकः ।
स्यन्दते याति स्यन्दनः । रमन्तेऽस्मिन् रथः । इतो भटादेः प्राग्
रथप्रकरणम् ॥

टीका० — युद्धार्थे चक्रवति याने शताङ्गत्रयम् । शतमङ्गान्यस्येति
बहुव्रीहिः । 'स्यन्दू प्रसवणे' । 'अनुदात्तेश्च हलादेः' (३. २. १४९)
इति युच् । स्यन्दनम् । रमेः 'हनिकुषिनीरमिकासिन्धुः कथन्' (उ० २. २) ।
रथः ॥

असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत् ।

क्षीर० — पुष्ये यावोत्सवादौ मङ्गल्यो रथः पुष्यरथः, यद्
युद्धार्थं न स्यात् । चक्रयुक्तं यानम् ॥

टीका० — यत्र युद्धार्थं चक्रयुक्तम्, अपि तु क्रीडाभ्रमणार्थं यानं,
स पुष्यरथः । पूर्वपदं चात्र यरलवीययकारान्तं,

“महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरूढः”

(स० ३. श्लो० २२)

इति माघे पुष्यशब्देन सह श्लेषात् ॥

कर्णीरथः प्रवहणं डयनं च समं त्रयम् ॥ ५२ ॥

क्षीर० — कर्णिषु स्कन्देषु रथः कर्णीरथः । दीर्घो लक्ष्यात् । पुंस्क-
न्धोह्यमानो रथः । प्रवहन्त्यनेन प्रवहणम् । डयन्ते विहायसा यान्तीवानेन
डयनं विमानाख्यम् ॥

टीका० — स्त्रीणां त्रयनार्थं कोक्कीयके दल्लरिकाप्राये रथे कर्णीर-
थत्रयम् । प्रवहेर्ल्युट् । प्रवहणम् । 'हि गतौ' । करणे ल्युट् । ह्यनम् । 'डीङ् विहायसा

१. 'व्यायिते' क. ख. ग. घ. ङ. पाठः. २. 'व्यो' ग. पाठः. ३. 'थः । च' ख. पाठः.
४. 'ति', ५. 'लेन' ख. पाठः.

गतौ' । करणे ल्युटि ड्यनमपि मतभेदादिति वर्णदेशना ॥

कृबेऽनः शकटोऽस्त्री स्याद्

क्षीर० — अनिति चीत्करोति अनः । असुन् । शक्नोति भारं वोढुं शकटम् ॥

टीका० — अनोद्वयं शकटे । 'अने गतौ' इत्यस्माद् धातोः असुनि अनः, सान्तम् । 'शक्नु शक्तौ' । 'शकादिभ्योऽटन्' (उ० ४. ८२) । शकटः ॥

गन्त्री कम्बलिवाहकम् ।

क्षीर० — गच्छति तच्छीला गन्त्री शकटिका । कम्बलिभिर्दानैर्वोढव्यम् ॥

टीका० — कम्बलिनो गावः, तद्वाह्ये शकटे गन्त्री । गमेः घूर् । ङीष् ॥

शिविका याप्ययानं स्याद्

क्षीर० — शिवा श्रेयस्करी । 'संज्ञायां कन्' (५. ३. ८७) । याप्यस्याशक्तस्य यानं युगाख्यम् । कन्यायानमिति गौडः ॥

टीका० — शिविकाद्वयं झपाण इति ख्याते । शिविका तालव्यादिः । याप्यैरधमैर्याग्यते नीयत इति याप्ययानम् । अन्तस्थादिः ॥

दोला प्रेङ्खादिका स्त्रियाम् ॥ ५३ ॥

क्षीर० — दोल्यते दोला काष्ठमयी रज्जुः प्रालम्बश्च । प्रेङ्ख्यते प्रेङ्खौ हिन्दोलकाख्या । आदिशब्दाच्छयानकादि, याप्ययानानुवृत्तेः ॥

टीका० — उद्यानादौ क्रीडनार्थं काष्ठादिमयोऽन्दोलः । प्रेङ्खा । प्रेङ्ख्यते प्रेङ्खत इति प्रेङ्खा ।

१. 'सी' ग. पाठः. २. 'न विग' ग. च., 'नेवत्य' ख. ट., 'नलेत्य' ड. छ. पाठः.
३. 'कुप्यान्' ग. पाठः. ४. 'सं' क. ख. ज. ट. पाठः. ५. 'ङ्खा । आ' घ. पाठः.
६. 'यो हि' क. ख., 'मि' ड. च. छ. पाठः.

“दोला प्रेङ्खः पुमान् प्रेङ्खा निःश्रेणिरधिरोहिणी” ॥
इति रत्नकोशे द्वयोः । आदिना घट्टनादिवाङ्मापि दोला ॥

उभौ तु द्वैपवैयाघ्रौ द्वीपिचर्मावृते रथे ।

क्षीर० — द्वीपिनश्चर्मणा प्रावृतो द्वैपो रथः । ‘द्वैपवैयाघ्रादञ्’
(४. २. १२) ॥

टीका० — व्याघ्रचर्मावृते रथे द्वैपद्वयम् । द्वीपिभवं चर्म द्वैपम् ।
तेन वृतो रथो द्वैपः । ‘द्वैपवैयाघ्रादञ्’ (४. २. १२) इत्यञ् ॥

पाण्डुकम्बलसंवीतः स्यन्दनः पाण्डुकम्बली ॥ ५४ ॥

क्षीर० — पाण्डुकम्बलेन प्रावृतो रथः । ‘पाण्डुकम्बलादिनिः’
(४. २. ११) ॥

टीका० — पाण्डुकम्बलेनावृते रथे पाण्डुकम्बली । ‘पाण्डुकम्बला-
दिनिः’ (४. २. ११) इतीति ॥

रथे काम्बलवास्राद्याः कम्बलादिभिरावृते ।

क्षीर० — ‘परिवृतो रथः’ (४. २. १०) इत्यण् । आदिशब्दाद्
दौकूलाद्याः ॥

टीका० — वस्त्रकम्बलाभ्यामावृते रथे काम्बलवास्रौ । ‘परिवृतो रथः’
(४. २. १०) इत्यण् । आदिना क्षौमादिः ॥

त्रिषु द्वैपादयः

क्षीर० — वाच्यलिङ्गत्वाद् द्वैपी गन्त्री, द्वपो रथः, द्वैपमनः ।
शकटाद्यपि रथत्वेन मन्यते ॥

टीका० — द्वैपादयो वास्त्रान्तास्त्रिषु ॥

रथ्या रथकड्या रथव्रजे ॥५५॥

क्षीर० — रथानां समूहे 'खलगोरथात्' (४. २. ५०) 'इनित्र-
कड्यचश्च' (४. २. ५१) इति यत् कड्यच् च ॥

टीका० — रथ्याद्वयं रथव्रजे । 'खलगोरथात्' (४. २. ५०) इति
यत् । रथ्या । 'इनित्रकड्यचश्च' (४. २. ५१) इति कड्यच् । डापि
रथकड्या ॥

धूः स्त्री क्लीबे यानमुखं

क्षीर० — धूर्वति हिनस्ति वोढारं धूः । यस्या अग्रे वोढारो
बन्ध्यन्ते । यानमुखं रथादेरग्रम् ॥

टीका० — रथाग्रभागे धूर्द्वयम् । 'धुर्वी हिंसायाम्' । 'भ्राजभास-
भाषधुर्वी' — (३. २. १७७) इत्यादिना किप् । 'राल्लोपः' (६. ४. २१)
इति वलोपः । धू रेफान्ता ॥

स्याद् रथाङ्गमपस्करः ।

क्षीर० — रथारम्भकं चक्रादन्यत् । अपकरोत्यपस्करः । 'अप-
स्करो रथाङ्गम्' (६. १. १४९) इति साधुः ॥

टीका० — रथावयवमात्रे चक्रादावपस्करः । 'अपस्करो रथाङ्गम्' (६.
१. १४९) इति निपातितः ॥

चक्रं रथाङ्गं

क्षीर० — रथस्य यच्चक्रं, तद् रूढ्या रथाङ्गम् ॥

टीका० — चक्रद्वयं चक्रे । चक्रमुक्तम् ॥

१. 'वा' क. ख. घ. पाठः. २. 'वद्वयमा' ख. पाठः.

* 'कड्यचश्च' इति मुद्रिताष्टाध्यायीपाठः ।

तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात् प्राधिः पुमान् ॥ ५३ ॥

क्षीर० — तस्य चक्रस्यान्ते । नमतीति नेमिः । प्रान्ते धीयते प्राधिः । प्रथते प्रथिरित्येके ॥

टीका० — नेमिद्वयं चक्रस्यान्ते । 'नियो मिः' (उ० ४. ४४) इति मिः । नेमिः । डीषि नेमी च । धाजः किः । प्राधिः ॥

पिण्डिका नाभिः

क्षीर० — पिण्ड्यन्ते अरा अस्यां सा पिण्डिका । नभ्यते हिंस्य-
तेऽक्षेण नाभिः ॥

टीका० — रथमध्ये चक्राकारा पिण्डी । यस्यां सर्वाणि काष्ठान्यास-
ज्ज्यन्ते, सा नाभिः । डीषि नाभी च ॥

अक्षान्तकीलके तु द्वयोरणिः ।

क्षीर० — अक्षस्य नाभिःक्षेप्यकाष्ठस्यान्ते व(द्धा ? न्धा)र्थं कीलके ।
अणति शब्दायतेऽणिः । लक्ष्ये त्वाणी ॥

टीका० — अक्षः शकटः । तथाच —

“अक्षो वि(हीनः?भीत)के नित्ये शकटव्यवहारयोः”

इत्यादि । तस्याग्रिमे कीले अणिः । अणेरौणादिक इः ।

“सीमावृक्षाग्रकीलेषु स्यादाणिरणि च द्वयोः”

इति रुद्रः ॥

रथगुप्तिर्वरूथो ना

क्षीर० — त्रियते गुप्त्यर्थं रथो येन, स वरूथो लोहादिमयी
आवृत्तिः ॥

१. 'धिः । पिण्डि' ग. घ. ड. पाठः. २. 'च ॥ द्वयोरिति रुद्रः । चक्रनिरोधार्थेऽक्षा-
ग्रनिखातकीलके अणिः ॥ शस्त्र' ड. छ., 'च ॥ द्वयोरिति रुद्रः ॥ शस्त्र' ख. पाठः. ३. 'न्ध-
स्यार्थे' ग. घ. पाठः. ४. 'णिः ॥ रथ' ख. पाठः.

टीका० — शस्त्रभयादात्मरक्षार्थं कृते गुप्तीति स्याते रथस्य स्थान-
विशेषे रथगुप्तिद्वयम् । 'जृवृजोरुथन्' (उ० २. ६) इत्युथन् । वरुथः ॥

कूवरस्तु युगन्धरः ॥ ५७ ॥

क्षीर० — कूयते शब्दायते कूवरः । युगं वोढुं स्कन्धकाष्ठं धार-
यति युगन्धरः । 'संज्ञायां भृतृवृजि'—(३. २. ४६) इति खच् ॥

टीका० — रथस्य युगकाष्ठं यत्रासज्ज्यते, तत्र कूवरद्वयम् । कुं महीं
वृणातिच्छादयतीति कूवरः । †'अन्येभ्योऽपि —' इति दीर्घः । धारेर्विश्वंभर-
वद् युगन्धरः ॥

अनुकर्षो दार्वधःस्थं

क्षीर० — अनुकृष्यतेऽनुकर्षः ॥

टीका० — रथस्याधःस्थं यद् दारु, यस्योपरि षट्कर्म, सोऽनुकर्षः । 'कृष
विलेखने' । अच् ॥

प्रासङ्गो ना युगाद्युगः ।

क्षीर० — प्रसज्ज्यते वोढुं स्कन्धे प्रासङ्गः । युगेनातति युगाद्
रथादिः, तस्य युगः । ना पुमान् । अन्यस्तु क्लीबे । युगं कालो युगं
वा । युगाद् युगान्तरं वत्सदमनार्थमिति गौडाः । यन्मुनिः — 'युगं
द्वितीयं प्रासङ्गम्' ॥

टीका० — गुरुत्वाच्चतुर्भिः षड्भिर्वा वृषैर्यदा शकटो नीयते, तदा दीय-
मानस्य द्वितीययुगस्य प्रासङ्गाख्या ॥

सर्वं स्याद् वाहनं यानं युग्यं पत्रं च धोरणम् ॥ ५८ ॥

१. 'ते र' अ. पाठः. २. 'तु' ख. पाठः.

‡ 'अन्येषामपि दृश्यते' (६. ३. १३७) इत्येव दीर्घविधायकसूत्रं दृश्यते ।

क्षीर० — सर्वं हस्त्यश्वरथादि दोलान्तम् । योक्तव्यं युग्यम् । 'युग्यं च पत्रे' (३. १. १२१) इति साधुः । पत्रन्त्यनेनेति पत्रम् । 'दाम्नीशस—' (३. २. १८२) इति करणे घृन् । धोर्यतेऽत्र धोरणम् ॥

टीका० — सर्वं हस्त्यश्वादि वाहनं यानादिचतुष्केणोच्यते । वह-
तियात्योः करणे ल्युट् । 'वाहनमाहितात्' (८. ४. ८) इति नि-
पातनाद् दीर्घः । 'युग्यं च पत्रे' (३. १. १२१) इत्यनेन युग्यं निपातितम् ।
'घोरि गतिचातुर्ये' । ल्युट् । धोरणम् ॥

परम्परावाहनं यत् तद् वैनीतकमस्त्रियाम् ।

क्षीर० — वोढृभिः परम्परया वाह्यते । प्राबन्धिकमभ्यासस्थि-
तम् । विनीतानामिदं याप्ययानादि ॥

टीका० — मनुष्यादिभिर्यः परम्परया अस्त्रपाण्यादिद्वारेण वाह्यते, स
वैनीतकः ॥

आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः ॥ ५९ ॥

क्षीर० — आधोर्यते हस्ती यैराधोरणाः । हस्तिनं पान्ति हस्ति-
पकाः । हस्तिनमारोहन्ति हस्त्यारोहाः । निषीदन्त्यवश्यं निषादिनः ।
द्वौ द्वौ भिन्नार्थावित्येके । आद्यौ पालकौ, परौ योद्धारौ ॥

टीका० — आधोरणचतुष्कं हस्त्यारोहे । आङ्पूर्वाद् धोरेः 'चलन-
शब्दार्थादकर्मकाद् युच्' (३. २. १४८) । आधोरणः । हस्तिनं पातीति
हस्तिपः । ततः 'संज्ञायां कन्' (५. ३. ८७) । कर्मण्यणि हस्त्यारोहः । 'स-
दिप्रतेः' (८. ३. ६६) इति षत्वे निषादी ॥

नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः ।

१. 'त्य', २. 'ति घृ' ग. पाठः. ३. 'ह' ख. पाठः. ४. 'अम्पणादि' ख.
६. छ. पाठः.

सव्येष्टदक्षिणस्थौ च संज्ञा रथकुटुम्बिनः ॥ ६० ॥

क्षीर० — नियच्छति नियन्त्रयति नियन्ता । प्राजति प्राजिता ।
'अज गतिक्षेपणयोः' । वानुवृत्तेर्वीभावो नास्ति । सुवति सूतः । 'षू प्रेरणे' ।
क्षदति क्षत्ता । सरथस्यापत्यं सारयति वाहान् वा सारथिः । सव्ये
तिष्ठति सव्येष्टः । 'सव्ये स्थश्छन्दसि' (उ० २. १०१) इति ऋन्
डिच् । 'स्थास्थिन्स्थृणाम्—' (वा० ८. ३. ९७) इति षत्वम् । रथस्य
कुटुम्बी वाहकः ॥

टीका० — रथकुटुम्बी सारथिः, तत्र नियन्त्रष्टकम् । अर्थात् सार-
थिर्नो रथकुटुम्बी च नाम । यमेस्तृचि नियन्ता । 'अज गतौ' । प्राजितृशब्दात्
तृजन्ताद् 'अजेर्व्यञ्जपोः' (२. ४. ५६) इति नित्यं वीभावे प्राप्ते 'बलादावा-
र्धधातुके विकल्प इप्यते' (वा० २. ४. ५६) इति वीभावविकल्पः । 'वीभाव-
पक्षे तु प्रवेता इत्यपी'ति वृत्तिः । 'षू प्रेरणे' । क्तः । सूतः । क्षदेः सौत्रात् 'तृन्तृचौ
शंसि'क्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २. ९४) इति तृच् । क्षत्ता । सव्ये
तिष्ठतीति सव्येष्टा । 'दिवेर्ऋन्' (उ० २. ९९) 'नयेर्डिच्' (उ० २. १००) इति
चानुवृत्तौ 'सव्ये स्थश्छन्दसि' (उ० २. १०१) इति सव्यशब्दे उपपदे
तिष्ठतेर्धातोः ऋन् । डित्वाङ्लोपः । 'अम्बाम्ब—' (८. ३. ९७) इत्यादिना
षत्वम् । 'हलन्तात्—' (६. ३. ९) इति सप्तम्या अलुक् । 'सव्येष्टा दक्षि-
णस्थश्चे'ति त्रिकाण्डपाठाद् भाषायां साधुरिति विनीतकीर्तिः । अम्बाम्बगो-
भूम्यादौ 'स्थास्थिन्स्थृणाम्—' (वा० ८. ३. ९७) इत्यस्य सर्वसम्मतत्वाभावा-
दमरमालायामदन्तोऽयम् । तथाच —

“सूतः क्षत्ता नियन्ता च यन्ता सव्येष्ट एव च”
इति ॥

रथिनः स्यन्दनारोहाः

क्षीर० — रथयोद्धारः ॥

१. 'ति नियन्ता' ख. पाठः. २. 'सं सारथिः । सा', ३. 'वा सारथिः । स' क. पाठः.
४. 'द अजे' क. ख. ङ. छ. पाठः. ५. 'सिंशसिंशसिंक्ष' क. ख. ड. च. छ. पाठः.

टीका० — रथिद्वयं रथयोधे ॥

अश्वारोहास्तु सादिनः ।

क्षीर० — अश्ववाराख्याः । सीदन्त्यवश्यं सादिनः ॥

टीका० — अश्वारोहद्वयमश्वचारे । सदेर्णिनिः, सादी । 'सादी सूताश्च-
चारयोः' इति दन्त्यादावजयः ॥

भटा योधाश्च योद्धारः

क्षीर० — भटन्ति काङ्क्षन्ति युद्धं भटाः । युध्यन्ते योधाः । प-
चाद्यच् ॥

टीका० — भटत्रयं सामान्ययोद्धृपुरुषे । 'भट भृतौ' । पचाद्यच् ।
भटः । 'युध सम्प्रहारे' । पचादिः । योधः । तृचि योद्धा ॥

सेनारक्षास्तु सैनिकाः ॥ ६१ ॥

क्षीर० — 'रक्षति' (४. ४. ३३) इति ठक् । प्राहरिकाद्याः ॥

टीका० — सेनारक्षद्वयं सेनारक्ष(प्र ? प्रा)हरिकादौ । 'रक्षति' (४. ४.
३३) इति ठक् । सैनिकः ॥

सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते ।

क्षीर० — सेनां समवयन्ति श्लिष्यन्ति । 'सेनाया वा' (४. ४.
४५) इति ण्यठकौ ॥

टीका० — सेनासमवेते अङ्गभूते हस्त्यश्वादौ सैन्यद्वयम् । 'सेनाया
वा' (४. ४. ४५) इति ण्यठकौ ॥

बलिनो ये सहस्रेणं ते साहस्राः सहस्रिणः ॥ ६२ ॥

क्षीर० — बलं सैन्यम् । सहस्रं योद्धारः सन्त्यस्य । 'तपः-
सहस्राभ्यां विनीनी' (५. २. १०२) । 'अण् च' (५. २. १०३) ॥

टीका० — सहस्रांश्वादेर्बलस्य स्वामिनि सेनापतौ साहस्रद्वयम् । 'अणू च' (५. २. १०३) इत्यण् । साहस्रः १ 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' (५. २. १०२) इति, इनिः । सहस्री ॥

परिधिस्थः परिचरः .

क्षीर० — परिधौ सेनाप्रान्ते तिष्ठति परिधिस्थः । परितः समन्तात् चरति रक्षितुं परिचरः ॥

टीका० — परिधिस्थद्वयं युद्धकाले प्रहारादिभ्यो यो रक्षति तत्र । प्रयाणकाले सामन्तस्य स्थापनकारिणीत्यन्यः । सेनाया राज्ञो दण्डनायक इत्यन्यः । चेररच् । परिचरः ॥

सेनानीर्वाहिनीपतिः ।

क्षीर० — सेनां नयति नियुक्ते सेनानीः ॥

टीका० — सेनानीद्वयं सेनापतौ । कार्तिकेये सेनानीरुक्तः ॥

कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री

क्षीर० — कञ्च्यते बध्यते कञ्चुकः । वारमाच्छादकं वानमस्य वारबाणम् । 'पूर्वपदात् संज्ञायाम् —' (८. ४. ३) इति णत्वम् । बाणवारस्य व्यत्ययो मयूरव्यंसकादित्वादिति श्रीभोजः ॥

टीका० — कञ्चुकद्वयं भौटिकौदौ चोळकाकृतिसन्नाहे । 'कचि दीप्ति-बन्धनयोः' । 'मृकणिभ्यामूकोकणौ' (उ० ४. ३९) इति बाहुलक उकण् । कञ्चुकः । बाणं वारयतीति पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययेण वारबाणः ॥

यत्तु मध्ये सकञ्चुकाः ।

बध्नन्ति तत् सारसनमधिकाङ्गः

१. 'सस्याश्वा' ख. ड. छ. पाठः. २. 'नान्ते' ग. घ. ड. पाठः. ३. 'भाडिका' ड. पाठः.
४. 'काकौक' य., 'काकाक' क. ख. पाठः.

क्षीर० — सारं सनोति ददाति सारसनम् । अधिकमज्ञादधिका-
ङ्गः । सारसनाधिपाङ्गे इत्येके पेटुः । यन्मुनिः — ‘अधिपाङ्गं सारस-
नम्’ । * भुयस्तु —

“तस्य सारसनं ज्ञेयमधियाङ्गं निबन्धनम्” ॥

टीका० — सकञ्चुकाः पुरुषाः काण्डायनादिनिवृत्त्यर्थे (?) हृदयमध्ये यद्
दृढार्थं बध्नन्ति पट्टकर्णिकादिकं, तत्र सारसनद्वयम् ।

“भवेत् सारसनं काञ्च्यामुरःस्थेऽपि निगद्यते”

इति दन्त्यादावजयः । ‘अधिकाङ्गं सारसनम्’ इत्यमरमालायाम् आर्यापाठादधि-
काङ्गं ह्रस्वादि ॥

अथ शीर्षकम् ।

शीर्षण्यं च शिरस्त्रे

क्षीर० — शीर्षप्रतिकृतिः शीर्षकम् । शिरसि भवं शीर्षण्यम् ।
‘शरीरावयवाद् यत्’ (५. १. ६), ‘शीर्षश्छन्दसि’ (६. १. ६०), ‘ये च
तद्धिते’ (६. १. ६१) । शिरस्त्रायते शिरस्त्रम् ॥

टीका० — शीर्षकत्रयं टोपर इति ख्याते । शीर्षं शिरो रक्षति त्रायत
इति शीर्षकम् । ‘कुमारशीर्षयोर्गितिः’ (३. २. ५१) इति निपातनाद् अकारा-
न्ताच्छिरःशब्दपर्यायात् शीर्षशब्दात् ‘प्रातिपदिकाद् वास्वर्थे णिज्बहुलमिष्ट-
वच्च’ (ग० ३. १. २६) इति णिचि ण्युल् । शिरसे हितं शीर्षण्यम् । ‘शरी-
रावयवाद्यत्’ (५. १. ६) । ‘ये च तद्धिते’ (६. १. ६१) इति शीर्षज्ञादेशः ।
‘ये चाभावकर्मणोः’ (६. ४. १६८) इति प्रकृतिभावः । शिरस्त्रायत इति
शिरस्त्रम् ॥

१. ‘स्वपरे पे’, २. ‘या’ ग. घ. ड. पाठः, ३. ‘लि’, ४. ‘न्ति त’ ख. पाठः.

* ‘भुयस्तु — तस्य सारसनं ज्ञेयं धिपाङ्गं च निबन्धनम् । इति’ इति भानुजिः ।

अथ तनुत्रं वर्म दंसनम् ॥ ६४ ॥

उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम् ।

क्षीर० — वृणोत्यङ्गं वर्म । दंस्यते बध्यते दंसनम् । कङ्कटत्या-
च्छादयति कङ्कते वा कङ्कटकः । जागर्तेरचि ह्रस्वाज्जगरः । यन्माला—
'उरश्छदो जगरः' । कवते कवचः, कं वञ्चति वा ॥

टीका० — तनुत्रसप्तकं सन्नाहे । शिरस्त्रवत् तनुत्रम् । वृजो मनिन् ।
वर्म । दंशेर्युटि दंशनम् । उरश्छादयत्यनेनेत्युरश्छदः । 'छादेर्वेऽद्व्युपसर्गस्य'
(६. ४. ९६) इति ह्रस्वः । 'ककि लौल्ये' । 'शकादिभ्योऽटन्' (उ० ४.
८२) । कङ्कटः । ततः कन् । जगरः । चवर्गादिः ।

“जगरः कङ्कटो योगः सन्नाहः स्यादुरश्छदः”

इति बोधोपलब्धः ॥

आमुक्तः प्रतिमुक्तश्च पिनद्धश्चापिनद्धवत् ॥ ६५ ॥

क्षीर० — आमुच्यते, प्रतिमुच्यते, अपिनद्धते बध्यते स्म । पि-
नद्धः ।

“वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः”

इति पक्षे अल्लोपः ॥

टीका० — परिहिते वस्त्रादौ आमुक्तचतुष्कम् । 'मुचल्ल मोक्षणे' ।
क्तः । आमुक्तप्रतिमुक्तौ । 'णह बन्धने' ।

“वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः”

इत्यल्लोपः । 'नहो धः' (८. २. ३४) इति धः । पिनद्धः । यथापिनद्धः
परिहितकर्पटे, तथा पिनद्धोऽपीति वच्छब्दार्थः ॥

सन्नद्धो वर्मितः सज्जो दंसितो व्यूढकङ्कटः ।

क्षीर० — सन्नहति स्म सन्नद्धः । वर्म सज्जातमस्य वर्मितः ।

सञ्जायते सज्जति वा सज्जः । व्यूढो धृतः कङ्कटो येन सः व्यूढक-
ङ्कटः ॥

टीका० — सन्नद्धपञ्चकं कृतसन्नाहं । पिनद्धवत् सन्नद्धः । 'सत्याप-
पाश—' (३. १. २५) इति णिजन्तात् क्तः । वर्मितः । 'षस्ज गतौ' । पचा-
द्यच् । सज्जः । दंशेः क्तः । दंशितः ॥

त्रिष्वामुक्तादयः

क्षीर० — नवेत्यर्थः ॥

टीका० — आमुक्तादयो व्यूढकङ्कटान्तास्त्रिषु ॥

वर्मभृतां कावचिकं गणे ॥ ६६ ॥

क्षीर० — कवचिनां समूहः कावचिकम् । 'ठञ् कवचिनश्च' (४.
२. ४१) इति ठञ् ॥

टीका० — वर्मभृतां गणे कावचिकम् । 'ठञ् कवचिनश्च' (४. २.
४१) इति ठञ् । 'नस्तद्धिते' (६. ४. १४४) इति टिलोपः ॥

पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः ।

पद्मश्च पदिकश्च

क्षीर० — पादाभ्यामतति गच्छति पदातिः । पादाभ्यामजति
पदाजिः । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' (६. ३. ५२) इति पदभावः ।
हलन्तपक्षे पद्मः । यल्लक्ष्यं — 'पद्मा भरद्वाजमुनिं सशिष्यम्' (भट्टि०
स० ३. श्लो० ४१) । पादाभ्यामतति पादातिकः । औणादिक इकः । वि-

१. 'हे । अपि' ज. पाठः. २. 'वर्मितदंशितौ तारकादीतजन्तौ । 'षस्ज गतौ' । अर्ज
सर्ज व्यूढकङ्कटो बहुव्रीहिः ॥ आ' ड. छ. पाठः. ३. 'दिव्यूढ', ४. 'कवचिनां समूहे
का' ज. पाठः.

नयादित्वात् स्वार्थे ङ्वा । पतति पत्तिः । पादाभ्यां चरति पदिकः ।
पर्यादित्वात् ङ् । इके चरतौ वक्तव्यात् पदिकः ॥

टीका० — पदातिरुक्तं पादानीके । ‘अत सातत्यगमने’ । ‘अज्य-
तिभ्यां च’ (उ० ४. १३२) इत्यनुवृत्तौ ‘पादे च’ (उ० ४. १३३) इति
पादोपपदे इण् । ‘पादस्य पदाज्याति—’ (६. ३. ५२) इति पदादेशोऽदन्तः ।
पदातिः । ‘पदेति’ इति पत्तिः । पादाभ्यां गच्छतीति पदगः । पूर्ववत् पदादे-
शः । पादातमस्यास्तीति पादातिकः । ‘अत इनिठनौ’ (५. २. ११९) इति
दन् । पदाजिरिति । ‘पादस्य पदाज्याति—’ (६. ३. ५२) इति निपात-
नाद् अजेर्न बीभावः । पादसमानाद्धलन्तात् पच्छब्दात् पद्गः । पद्भ्यां चरतीति
पदिकः । ‘पर्यादिभ्यः छन्’ (४. ४. १०) । ‘इके चरतावुपसख्यानम्’ (वा०
६. ३. ५३) इति पद्भावः ॥

अथ पादातं पत्तिसंहतिः ॥ ६७ ॥

क्षीर० — पदातीनां समूहः पादातम् । ‘भिक्षादिभ्योऽण्’ (४.
२. ३८) ॥

टीका० — पदातिसमूहे पादातम् । ‘भिक्षादिभ्योऽण्’ (४. २.
३८) ॥

शस्त्राजीवे काण्डपृष्ठायायुधियायुधिकाः समाः ।

क्षीर० — काण्डानि पृष्ठेऽस्य काण्डपृष्ठः । आयुधेन जीवति ।
‘आयुधाच्छ च’ (४. ४. १४) इति ठक्छौ ॥

टीका० — शस्त्राजीवचतुष्कं यः शस्त्रं विधायीवलगति, तत्र । वाहिता-
भ्यादित्वात् काण्डस्पृष्टः स्पृष्टकाण्डः । तेन जीवतीत्यर्थे ‘आयुधाच्छ च’ (४. ४.
१४) इति छठकौ । आयुधीयायुधिकौ ॥

१. ‘तौ पद् व’ ख. पाठः. २. ‘ति निपातनादजेर्न बीभावः । प’ ज. पाठः.
३. ‘शः । प’ क. पाठः. ४. ‘ति पदादेशः । पाद’ ख. ग. ड. छ. पाठः.

कृतहस्तः सुप्रयोगविशिखः कृतपुङ्खवत् ॥ ६८ ॥

क्षीर० — कृतौ सिद्धौ हस्तावस्य कृतहस्तः । कृताः पुङ्खा अनेन कृतपुङ्खः ॥

टीका० — सुप्रयुक्तकाण्डे पुरुषे कृतहस्तत्रयम् । कृतोऽभ्यस्तो हस्तो येन स कृतहस्तः । सुप्रयोगविशिखोऽपि बहुव्रीहिः । कृतपुङ्खवदित्यत्र कृतशब्दो गृहीतवाची । यथा — ‘अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः’, ‘कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति’ । अत्र हि अकृतव्यूहा अगृहीतशास्त्रा इति परिभाषावृत्तिकारैरुक्तम् । कृतपुङ्खवत् कृतपुङ्ख इव सुप्रयोगविशिख इति वच्छब्दस्यार्थः ॥

अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्षाद् यश्च्युतसायकः ।

क्षीर० — अपराद्धा अलब्धलक्षा वाणा अस्य अपराद्धपृषत्कः ॥

टीका० — लक्षात् च्युतः सायको वाणो यस्यासावपराद्धपृषत्कः । राधेः क्तः । अपराद्धः । अपराध्यो यकारान्त इति केचित् । अपराद्धः अशोभनः पृषत्कोऽस्येति बहुव्रीहिः ॥

धन्वी धनुष्मान् धानुष्को निषङ्गयस्त्री धनुर्धरः ॥ ६९ ॥

क्षीर० — धन्वास्यास्तीति धन्वी । व्रीह्यादित्वादिनिः । धनुः प्रहरणमस्य धानुष्कः । तदस्य प्रहरणमिति ठक् । निषङ्गस्तूणोऽस्यास्तीति निषङ्गी । अस्त्राणि सन्त्यस्य अस्त्री ॥

टीका० — धन्विषट्कं धानुष्के । धनुस्समानार्थाद्धन्वन्शब्दाद् व्रीह्यादित्वादिनिः । धन्वी । धनुष्मान् मत्वन्तः । धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्कः । ‘प्रहरणम्’ (४. ४. ५७) इति ठक् । निषङ्गोऽस्त्रं तूणोऽपि । ‘स्याच्चापायुधयोरस्त्रम्’ इति रभसः । तद्योगादुभयत्र इति ॥

स्यात् काण्डवांस्तु काण्डीरः

क्षीर० — 'काण्डाण्डादीरन्नीरचौ' (५. २. १११) ॥

टीका० — काण्डवद्वयं काण्डधरे । उपाधिभेदाद् भेदः । काण्ड एव केवलो यस्यास्त्विति । अस्यैव वा नामद्वयम् । 'काण्डाण्डादीरन्नीरचौ' (५. २. १११) । काण्डीरः ॥

शाक्तीकः शक्तिहेतिकः ।

क्षीर० — शक्तिः प्रहरणमस्य शाक्तीकः । 'शक्तियष्टचोरीकक्' (४. ४. ५९) ॥

याष्टीकपारश्वधिकौ यष्टिपार्श्वधहेतिकौ ॥ ७० ॥

क्षीर० — पार्श्वधः परशौ न दृष्टः । अतो 'यष्टिस्वधितिहेतिकौ' इति कश्मीराः पठन्ति । यन्मुनिः — 'परश्वधः कुठारश्च स्वधितिः' । तदस्य प्रहरणम् । 'परश्वधादृञ्च' (४. ४. ५८) ॥

नैस्त्रिंशिकोऽसिहेतिः स्यात्

क्षीर० — निस्त्रिंशोऽसिः प्रहरणमस्य नैस्त्रिंशिकः ॥

टीका० — शक्त्यादिको हेतिः प्रहरणं येषां ते शाक्तीकयाष्टीकपारश्व-
धिकनैस्त्रिंशिकाः । यथाक्रमं 'शक्तियष्टचोरीकक्' (४. ४. ५९) 'परश्वधादृञ्च'
(४. ४. ५८) 'प्रहरणम्' (४. ४. ५७) इति ठक् ॥

समौ प्रासिककौन्तिकौ ।

क्षीर० — प्रासः कुन्तश्च प्रहरणमस्य ॥

टीका० — प्रासिकद्वयं कुन्तकरे । पूर्ववत् ठक् ॥

चर्मी फलकपाणिः स्यात्

क्षीर० — चर्म फलकोऽस्यास्तीति चर्मी । फलति विशीर्यते घातैः
फलकः । रत्नयोरैक्यात् फरकोऽपि ॥

टीका० — चर्मद्वयं फलकपाणौ । चर्मी ब्रीह्यादिः ॥

पताकी वैजयन्तिकः ॥ ७१ ॥

क्षीर० — वैजयन्त्या चरति वैजयन्तिकः । 'चरति' (४. ४. ८)
इति ठक् ॥

टीका० — पताकिद्वयं पताकायुक्ते । ब्रीह्यादित्वादिनिः । पताकी । 'चरति'.
(४. ४. ८) इति ठक् । वैजयन्तिकः ॥

अनुप्लवः सहायश्चानुचरोऽभिचरः समाः ।

क्षीर० — अनु पश्चात् प्लवते अनुप्लवः । सह अयते सहायः ॥

टीका० — अनुप्लवचतुष्कं सहायै वाञ्छियाण इति ख्याते ।
सर्वे पचाद्यजन्ताः । सह अयते गच्छतीति सहायः । अन्वभिश्चदौ पश्चादर्थे ॥

पुरोगाग्रेसरप्रष्टाग्रतःसरपुरःसराः ॥ ७२ ॥

पुरोगमः पुरोगामी

क्षीर० — पुरो गच्छतीति पुरोगः । गमश्च (इति ?) डः । अग्रे
सरत्प्रेसरः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' (३. २. १८) । टः । प्रतिष्ठते
प्रष्टः । 'प्रष्टोऽग्रगामिनि' (८. ३. ९२) इति साधुः ॥

टीका० — अग्रगामिनि पादातिकादौ पुरोगसप्तकम् । 'अन्येष्वपि —'
(३. २. १०१) इति डः । पुरोगः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' (३. २. १८) इति
टः । पुरःसराग्रेसराग्रतःसराः । 'प्रष्टोऽग्रगामिनि' (८. ३. ९२) इति निपा-

१. 'मी' ख. पाठः. २. 'पुरोऽस्या' ग. घ. ड. पाठः. ३. 'कायुक्ते पताकी ।'
क. ग. पाठः. ४. 'ये । स' ज. पाठः. ५. 'पाजिया' ख. पाठः. ६. 'उच्छति' घ. पाठः.

तनात् प्रष्टः । 'गमश्च' (३. २. ४७) इति खचि पुरोगमः । अव्ययत्वान्नुम-
भावः । णिनौ पुरोगामी ॥

मन्दगामी तु मन्थरः ।

क्षीर० — मथ्राति पादौ मन्थरः ॥

टीका० — मन्दगामिद्वयं मन्दगमनशीले ताच्छीलिकृणिनौ मन्द-
गामी । 'मन्थ विलोडने' । 'ऋच्छेररन्' (उ० ३. १३१) इति बाहुलकोऽरन् ।
मन्थरः ॥

जङ्घालोऽतिजवः

क्षीर० — जङ्घे स्तोऽस्य जङ्घालः ॥

टीका० — अतिवेगवति जङ्घालद्वयम् । 'प्राणिस्थादातो लजन्यतर-
स्याम्' (१. २. ९६) इति लच् । जङ्घालः । अतिशयितो जवो वेगो यस्य
सोऽतिजवः ॥

तुल्यौ जङ्घाकरिकजाङ्घिकौ ॥ ७३ ॥

क्षीर० — जङ्घा एव करो राजदेयौऽशोऽस्त्यस्य जङ्घाकरिकः ।
जङ्घाभ्यां जीवति जाङ्घिकः ॥

टीका० — जङ्घाकरिकद्वयं जङ्घाजीविनि धावकादौ । जङ्घैव करी य-
स्येति व्युत्पत्त्या संज्ञायां कनि जङ्घाकरिक इति कैश्चित् । करो राजदेयः । जङ्घै-
व करो जङ्घाकरः । तद्योगाद् मत्वर्थठनि जङ्घाकरिक इत्यपरः । 'जीवति' इति ठकि
जाङ्घिकः ॥

तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः ।

क्षीर० — तरोऽस्यास्ति तरस्वी । 'अस्मायामेधा —' (५. २.
१२१) इति विनिः । त्वरते स्म त्वरितः । प्रजवते प्रजवी । 'प्रजोरिनिः'

(३. २. १५६) । जवते तच्छीलो जवनः । 'जुचङ्कर्म्य —' (३. २. १५०) इति जुच् । जवते जवः । पचाद्यच् ॥

टीका० — वेगवन्मात्रे तरस्विष्यकम् । 'अस्मायासैवास्तजो विनिः' (१. २. १२१) । तरस्वी । त्वरितजवयोः अर्शआद्यच् । वेगयोगाद् वेगी । जुः सौत्रो धातुः । चवर्गादिः । 'प्रजोरिनिः' (१. २. १९६) इति प्रजवी । जुचङ्कर्म्यादियुचि जवनः ॥

जय्यो यः शक्यते जेतुं

क्षीर० — 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (६. १. ८१) इति ताधुः ॥

टीका० — अवश्यं जेतुं शक्यो जय्यः । 'शक्ति लिङ् च' (३. ३. १७२) इति शक्तौत्यर्थे वर्तमानाद् धातोर्लिङ्कृत्यानां विधानाद् 'अचो यत्' (३. १. ९७) इति यत् । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (६. १. ८१) इत्ययादेश-निपातनाद् जय्यः ॥

जियो जेतव्यमात्रके ॥ ७४ ॥

क्षीर० — शक्यादन्यत्रेत्यर्थः ॥

टीका० — योग्यतामात्रेण जयनीये जयः । 'अचो यत्' (३. १. ९७) ॥

जैत्रस्तु जेता

क्षीर० — जेतैव जैत्रः । वृद्धन्तात् प्रज्ञादित्तादण् । जेतुरयं वा । फलितं तुल्यार्थत्वम् ॥

टीका० — जेतृमात्रे जैत्रद्वयम् । जयशीले तु 'जेता जिष्णुश्च भिन्नः' इति वक्ष्यति । जेतृशब्दात् प्रज्ञायणि जैत्रः । वृचि जेता ॥

यो जच्छत्यलं विजिष्यतः प्रणि ।

(५. २. ११५) । रथिकरथिनौ । 'मेधारथाभ्यामिरन्त्रिचौ वक्तव्यौ' (वा० ५. २. १०९) इति मत्वर्थे इरच् । रथिरः ॥

कामंगाम्यनुकामीनो हि

क्षीर० — अनुकामं यथेच्छं गामी अनुकामीनः । 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी' (५. २. ११) इति खः ॥

टीका० — कामंगामी यथेष्टगमनशीलः । स्वेच्छाप्रवृत्तिरनुकामीनः । 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी' (५. २. ११) इति खः ॥

अत्यन्तीनस्तथा भृशम् ।

क्षीर० — अत्यन्तं भृशं कृत्वा गामीत्यत्यन्तीनः । भृशं गन्तेत्यर्थः । पूर्ववत् खः ॥

टीका० — अत्यन्तगमनशीले अत्यन्तीनः । पूर्ववत् खः ॥

शूरो वीरश्च विक्रान्तः

क्षीर० — शूरयते वीरयते शूरवीरौ । विक्रमते उत्सहते स्म विक्रान्तः ॥

टीका० — शूरत्रयं शूरे । 'शूर वीर विक्रान्तौ' । चुरादिः । पचादिः । सूर्यनाभ्यशत्वमपि निरूपितम् । क्रमेः क्तः । क्रान्तः ॥

जेता जिष्णुश्च जित्वरः ॥ ७७ ॥

क्षीर० — जेतुं शील इति तृन् । 'ग्लाजिस्थश्च कस्तुः' (३. २. १३९) । 'इण्णशिजिसर्त्तिभ्यः करप्' (३. २. १६३) ॥

टीका० — जैयनशीले जेतृत्रयम् । जयतेस्तृचि जेता । 'ग्लाजिस्थश्च कस्तुः' (३. २. १३९) । जिष्णुः । इत्ववज्जित्वरः ॥

सांयुगीनो रणे साधुः

क्षीर० — संयुगे साधुः सांयुगीनः । 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' (४. १९) ॥

टीका० — सांयुगं दुवले सांयुगीनः । 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' (४. १९) इति खञ् ॥

शस्त्राजीवादयस्त्रिषु ।

क्षीर० — वाच्यलिङ्गत्वात् ॥

टीका० — पूर्वोक्ताः शस्त्राजीवादयः सांयुगीनान्तास्त्रिषु ॥

ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाअनीकिनी चमूः ॥ ७८ ॥

वरुधिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम् ।

क्षीर० — वाहाः सन्त्यस्यां वाहिनी । सिनोति सेना, सह इनेन वर्तेते वा । प्रियते पृतना । 'पृङ् व्यायामे' । चमत्परीन् चमूः । वरुथो रथगुतिरस्त्यस्यां वरुधिनी । बलति प्राणिति बलम् । सैनैव सैन्यम् । चानुर्वर्ण्यदित्वात् ष्यञ् । करोति चकते वा चक्रम् । अनित्यनीकं, न नीयते वा । सैन्यैकदेशोऽयम् ॥

टीका० — ध्वजिनीसप्तकं सेनायाम् । तत्र वाहिनी पृतना अनीकिनी चमूरिति चक्रः सेनासंदेऽपि वक्ष्यति । पताकाहयबलरथगुतीनां योगाद् ध्वजिनीवाहिनीअनीकिनीवरुधिनी । 'कृद्वृषृसिहुपन्यनिस्वपिभ्यो नित्' (उ० ३. १०) इति नः । सेना । 'कृपिचमितनि —' (उ० १. ८४) इत्यादिना ऊः । चमूः । बलचक्रं सामान्येन सेनाज्ञे । बलचक्रशब्दौ उक्तौ । सैनैव सैन्यम् । ह्योऽवदनीकम् ॥

यूहस्तु बलविन्यासः

क्षीर० — व्यूह्यते रच्यते व्यूहः ॥

टीका० — यथोक्तदेशे बलविन्यासो विभज्य स्थापनं व्यूहः । 'ऊह वितर्के' । घञ् ॥

भेदा दण्डादयो दुवि ॥ ७२ ॥

क्षीर० — व्यूहस्येति शेषः । यदाहुः —

“दण्डो मण्डलभोगौ चाप्युत्पन्नश्चाचलो दृढः ।

व्यूहास्तेषां विशेषाः स्युश्चक्रव्यूहादयोऽपि च” ॥

टीका० — दण्डभोगमण्डलसंहताश्चत्वारः प्रकृतिव्यूहभेदाः । तत्रानी-
कानां तिर्यग्वृत्तिर्दण्डः । समस्तानामन्यौघातिरन्योन्यनताद्वृत्तिर्भोगः । दण्डलरच-
नया सरतामनीकानां सर्वतोवृत्तिः सर्वशरीरवन्मण्डलः । स्थितानामितरेतरसंह-
तानां विशिष्टतराणामनीकानां पृथग्वृत्तिरसंहतः । तथाच कावन्दर्कः —

“तिर्यग्वृत्तिस्तु दण्डः स्याद् भोगोऽन्यौघातिरेव च ।

मण्डलः सर्वतोवृत्तिः पृथग्वृत्तिरसंहतः ॥”

इति । तत्रापि प्रदरदृढकादयः सप्तदश दण्डभेदाः । गौद्रिकाहिंसकसञ्चा-
रिकशकट(नरक ? मकर)पतन्तकाः पञ्च भोगभेदाः । सर्वतोमद्रदुर्जयो मण्डल-
भेदौ । अर्धचन्द्रकोद्यानादयः षडसंहतभेदाः ॥

प्रत्यासारो व्यूहपार्ष्णिः

क्षीर० — प्रत्यासरति भिन्नान् प्रत्यासारः । 'सु सियरे' (३. ३.
१७) इति घञ् । पार्ष्णिः पश्चाद्भागः ॥

टीका० — व्यूहसमवेत एव व्यूहस्य पश्चाद्भागे व्यूहान्तरे वा
प्रत्यासारद्वयम् । सतेर्घञ् । प्रत्यासारः ॥

सैन्यवृद्धे प्रतिग्रहः ।

१. 'च व्युत्पन्न' क. पाठः. २. 'हु' अ. पाठः. ३. 'तिर्यग्वृ' ल. पाठः. ४.
'किः', ५. 'ना' अ. पाठः. ६. 'भागान्' ग. घ. पाठः.

क्षीर० — प्रतिगृह्यतेऽवष्टभ्यतेऽनेन सैन्यम् ॥

टीका० — यत्र स्थितो राजा स्वसैन्यं प्रतिगृह्णाति, तत्सैन्यस्य पश्चाद्
धनुःशतद्वयान्तरे स्थितं भिन्नसङ्घातमनीकं प्रतिग्रहः परिग्रहो वा । ग्रहेरपि ॥

एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका ॥ ८० ॥

क्षीर० — पतति पत्तिः सेनाङ्गम् । यद् भारतम् —

“एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।

त्रयश्च तुरगास्तज्जैः पत्तिरित्यभिधीयते” ॥

टीका० — पत्तिनवकं प्रत्येकं सेनाविशेषे । तत्र त्रिभिरश्वैर्गजेनैकेन
रथेन पदातिभिः पञ्चभिः पत्तिर्नाम सेनान्तरम् ॥

पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् ।

सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः ॥ ८१ ॥

अनीकिनी

क्षीर० — पत्तिस्त्रिगुणा सेनामुखम् । तन्निगुणं गुडति गुल्मः । तन्नि-
गुणो गण्यते गणः । एवमुत्तरोत्तरं क्रमात् त्रिगुणम् ॥

टीका० — पत्त्यङ्गैश्च सर्वैर्गजादिभिर्यथापूर्वं त्रिगुणैः तथोक्तक्रमेण
सेनामुखादयो भवन्ति । एतदुक्तं भवति — तिस्रः पत्तयः सेनामुखम् । त्रिभिः
सेनामुखैर्गुल्मः । गुल्मत्रयेण गणः । त्रयो गणा वाहिनी । वाहिनीत्रयं पृतना ।
पृतनात्रयं चमूः । चमूत्रयमनीकिनी ॥

दशानीकिन्यक्षौहिणी

क्षीर० — अक्षाणां रथकाष्ठानाम् ऊहोऽस्त्यस्याः । अक्षादूहिन्यां
शब्दिश्च ॥

टीका० — अक्षौहिण्यां न त्रैगुण्यं, किन्तु दशानीक्रिन्योऽक्षौहिणी ।
अक्षो रथावयवं, तस्योहः, तद्योगान्मत्वर्थीय इति । ‘ऋन्नेभ्यो ङीप्’ (४. १. ५) ।
‘पूर्वपदात् —’ (८. ४. ३) इत्यादिना णः । ‘अक्षादूहिण्यां वृद्धिर्वक्तव्या’ (वा०
६. १. ८९) इति वृद्धिः ।

“अक्षौहिण्यामित्यधिकैः सप्तत्या त्वष्टभिः शतैः ।
संयुक्तानि सहस्राणि रथानामेकविंशतिः ॥
एवमेव गजानां तु संख्यानां कीर्तितं बुधैः ।
पञ्चषष्टिसहस्राणि षट्शतानि दशैव तु ॥
सङ्ख्यातास्तुरगास्तज्जैर्विना रथैस्तुरङ्गमैः ।”

रथसम्बन्धिनोऽश्वान् विहायेत्यर्थः ।

“नृणां शतसहस्रं तु सहस्राणि नवैव तु ॥
शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशत्तु पदातयः ॥”

इति तदङ्केनाप्यक्षौहिणीसङ्ख्या यथा—गजरथौ (२१८७०), अश्वः (६९६१०)
पदातिः (१०९३५०) ॥

अथ सम्पदि ।

सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च

क्षीर० — ‘सम्पदादिभ्यो भावे क्तिब् वक्तव्यः’ (वा० ३. ३.
१०८) । श्रयन्ति तां श्रीः । ‘क्तिब् वचि—’ (उ० २. ६०) इति क्तिब्
दीर्घश्च ॥

टीका० — धनोत्कर्षः सम्पत्तिः, तत्र सम्पच्चतुष्कम् । ‘सम्पदादिभ्यः
क्तिब् वक्तव्यः’ । (वा० ३. ३. १०८) । सम्पत् । श्रीलक्ष्मीशब्दावुक्तौ ।
क्तिनि सम्पत्तिः ॥

विपत्त्यां विपदापदौ ॥ ८२ ॥

क्षीर० — विपत्तिर्दारिद्र्यम् ।

टीका० — विपत्तित्रयं विपदि । पूर्ववत् ॥

आयुधं तु प्रहरणं अस्त्रमस्त्रम्

क्षीर० — आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम् । 'धनर्थे कविधानं स्थास्त्रा-
गापाव्यधिहिनियुध्यर्थम्' (वा० ३. ३. ५८) । शस्यतेऽनेन शस्त्रम् ।
'दाम्नी —' (३. २. १८२) इति करणे घृन् । अस्यतेऽस्त्रम् । हेतिर्नानार्थे ॥

टीका० — आयुधचतुष्कं शस्त्रमात्रे । 'धनर्थे कविधानम्' (वा० ३.
३. ५८) इति युध्यतेः कः । आयुधम् । 'शसु हिंसायाम्' । 'दाम्नीशस —'
(३. २. १८२) इत्यादिना घृन् । शस्त्रम् । 'असु क्षेपणे' । *'घृन्' (उ० ४.
१६०) इति घृन् । अस्त्रम् । शस्त्रं, विना क्षेपेण घातकं खड्गादि, क्षेपणीयं
शर(श)ल्यादि अस्त्रमिति केचिच्छस्त्रास्त्रयोर्भेदमाहुः । 'शस्त्रास्त्रैर्विद्धुषा मुक्तै-
रि'ति देवीमाहात्म्ये च ॥

अथास्त्रियौ ।

धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम् ॥ ८३ ॥

इष्वासोऽपि

क्षीर० — धन्यते अर्धयते धनुः । अर्धर्चादिः । यल्लक्ष्यं —
'ततो धनुषमादाय' । चपस्य वेणोर्विकारश्चापम् । धनेः(इति?) कनिष् ।
शरा अस्यन्तेऽनेनेति शरासनम् । 'कुदि अनृतभाषणे' । अस्माद् अण्डन्,
कुर्देर्वा रेफलोपे कोदण्डम् । कर्मणे प्रभवति कार्मुकम् । 'कर्मण उकञ्'
(५. १. १०३) । इषवोऽस्यन्तेऽनेन इष्वासः । आसोऽपि ॥

टीका० — धनुःसतकं चापे । 'धन धान्ये' । 'अतिवृषापियजितनिध-
नित्रपिभ्यो निव्' (उ० २. ११७) इति उसिः । धनुः सान्तम् । 'भृमृशीतृचै-

१. 'प' ब. पाठः. २. 'रम्यं' ख. पाठः. ३. 'न श' ख. ग. पाठः. ४. 'तृ,
कु' क. पाठः. ५. 'स' ख. पाठः.

* 'सर्वधातुभ्यः घृन्' इति मुद्रितोणादिपाठः ।

रित्सरितनिधनिमिमस्त्रिभ्य उः' (उ० १. ७) इत्यनेन धनुरुदन्तोऽपीत्युणादिः । दीर्घान्तः स्त्रीलिङ्गः । तथाच — 'शरावापो धनूः स्त्री स्याद्' इति त्रिकाण्ड-शेषः । 'चप सान्त्वने' । भूवादौ पवर्गमध्ये पठितः । ततः पचाद्यच् । चपो वृक्षविशेषः । तस्य विकारश्चापः । धन्वचतुष्कं क्लीबम् । तत्र धन्व नान्तम् । 'कर्मण उकञ्' (५. १. १०३) । कर्मुकम् । इप्वासो मूर्धन्यमध्ये द-न्त्यान्तः ॥

अथ कर्णस्य कालपृष्ठं शरासनम् ।

कपिध्वजस्य गाण्डीवगाण्डिवौ पुन्नपुंसके ॥ ८४ ॥

क्षीर० — गाण्डिः पर्वस्यास्तीति गाण्डीवम् । 'गाण्ड्यज-गात् संज्ञायाम्' (५. २. ११०) इति वः । गाण्डिरिदन्त ईदन्तश्चात्र प्रश्लिष्य निर्दिष्टः । पुन्नपुंसके इति प्रथमाद्विवचनमजहलिङ्गम् ॥

टीका० — कर्णस्य कानीनस्य धनुः कालपृष्ठम् । कपिध्वजोऽर्जुनः, तद्धनुषि गाण्डीवद्वयम् । 'गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम्' (५. २. ११०) इति गाण्डीगाण्डिशब्दाभ्यां वः । गाण्डीवं गाण्डिवम् । द्वितीयो ह्रस्वान्तः, 'गाण्ड्य-जगादि'ति संहितायां दीर्घह्रस्वान्तयोस्तुल्यत्वात् ॥

कोटिरस्याटनिः

क्षीर० — अस्य धनुषः प्रान्तः कुटति कोटिः । अटत्यटनिः । अटनीत्येके ॥

टीका० — धनुषः कोटिरुभयप्रान्तम् अटनिः । 'अट पट गतौ' । अशनिवर्देनिः । पक्षे ङीष् ॥

गोधे तले ज्याघातवारणे ।

क्षीर० — गोधा च गोधा च द्वे, सव्यसाचित्वात् । 'गुध परि-वेष्टने' । तलं चर्मादिमयो ज्याघाताधारः । गोधा तला च गोधातले द्वे इत्येके ॥

टीका० — गुणाघातनिवारणार्थं बाहुपट्टिकायां गोधाद्वयम् ।

“तलस्ता(लं! ले) चपेटे च तलं चाधः स्वरूपयोः ।

*कार्यवीर्ये प्रकोष्ठे ज्याघातस्यैवापवारके ॥”

कचिद् बाहोर्द्विस्त्वाद् गोधे तले इति पाठः ॥

लस्तकस्तु धनुर्मध्यं

क्षीर० — ‘लस श्लेषणे’ ॥

टीका० — वांस इति ख्याते लस्तकः ॥

मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः ॥ ८५ ॥

क्षीर० — मूर्वाख्यतृणस्य विकारो मौर्वी । जिनाति ज्या । जी-
वापि । शिञ्जे शब्दायते शिञ्जिनी । गुण्यतेऽभ्यस्यते गुणः ॥

टीका० — मौर्वीचतुष्कं धनुर्गुणे । मूर्वा वृक्षविशेषः, तद्विकारो मौर्वी ।
ज्या चवर्गादिः । आवश्यकणिनौ शिञ्जिनी । तालव्यादिः । गुण उक्तः ॥

स्यात् प्रत्यालीढमालीढमित्यादि स्थानपञ्चकम् ।

क्षीर० — जङ्घयोश्चारिर्निवृत्तौ स्थितिः स्थानकम् । अत्र विशेषः ।
आलेढि भुवमालीढम् । आदिशब्दात् समपादं, वैशाखं, मण्डलं च धनु-
र्वेदप्रसिद्धम् । भरतस्त्वन्यथाह —

“वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।

प्रत्यालीढमथालीढं स्थानान्येतानि षड् नृणाम् ॥”

इति ॥

टीका० — प्रत्यालीढमालीढं समपादो विशाखो मण्डलं चेति धन्विनः
पञ्च पदस्थानानि । तत्रोर्ध्वस्थस्य वामजङ्घाप्रसारे दक्षिणसङ्कोचे प्रत्यालीढम् ।

१. ‘र्थ’, २. ‘मध्वे प्र’, ३. ‘खाल इ’ क. पाठः. ४. ‘उट्ट’, ५. ‘वृ’ ख.
पाठः. ६. ‘मात्र’ ग. घ. पाठः.

* ‘कार्यवीर्ये’ इति तु मेदिनी ।

दक्षिणप्रसारे वामसङ्कोचे आलीढम् । तुल्यपादयुगे समपदम् । वितस्त्यन्तरेण स्थिते पदद्वये विशाखैः । मण्डलाकृतिपदद्वयं मण्डलम् ॥

लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च

क्षीर० — लक्ष्यत इति घञ् ण्यञ्च । शृणाति शरुहिंसः, तस्मै हितं शरव्यम् । ‘उगवादिभ्यो यत्’ (५. १. २) । शरैर्वीयते छाद्यते वा । वेध्यं च ॥

टीका० — लक्षत्रयं वेज्जा इति ख्याते । व्याजे लक्षमुक्तम् । शृणातेः स्वरुवदुः (शरुः) आयुधं, तस्मै हितं शरव्यम् । ‘उगवादिभ्यो यत्’ (५. १. २) इति यत् । ‘ओर्गुणः’ (६. ४. १४६) इति गुणः । अवन्तादेशः ॥

शराभ्यास उपासनम् ॥ ८६ ॥

क्षीर० — ‘असु क्षेपणे’ ॥

टीका० — नित्यं शराभ्यासे परिशीलने उपासनम् ॥

पृषत्कबाणविशिखा अजिह्वगखगाशुगाः ।

कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः ॥ ८७ ॥

क्षीर० — पर्वति सिञ्चत्यसृजा पृषत्कः, पृथक् षट्कमस्येति । धनुर्वेदः—

“पुङ्खः शरस्तथा शल्यं पक्षस्त्रायुजतूनि षट् ।”

वणति वण्यतेऽग्नेन वा बाणः । विशीर्यते विशिखः । ‘शि निशो-
ने’ । विविधशिखो वा । अजिह्वगः ऋजुगामी । कल्यते क्षिप्यते कलम्बः ।
मार्गयति लक्ष्यं मार्गणः । शृणाति शरः । रोप्यते निखन्यते रोपः । इ-
ष्यति इषुः । ‘इष गतौ’ । प्रदेराद्या नानार्थे ॥

टीका० — पृषत्कद्वादशकं काण्डे । स्पृशन् कसति गच्छतीति पृषत्कः ।
पृषोदरादिः मूर्धन्यषश्च । ‘वण भण सम्भक्तौ’ । घञ् । बाणः । विशन् खनतीति

१. ‘गं’ ज. पाठः. २. ‘खम् ॥’ ड. छ. पाठः. ३. ‘वा ॥ अ’ ग. घ. ङ. पाठः.
४. ‘शासने’ ख. पाठः. ५. ‘णो’ ग. घ. ङ. पाठः. ६. ‘ते’ ग. घ. पाठः. ७. ‘पृ-
षति क’ ड. छ. पाठः.

विशिखः । पृषोदरादिः । अजिह्मगाद्यास्त्रयोऽप्रत्ययान्ताः । 'कड मदे' । बाहुलको-
ऽम्बन् । लडयोरेकत्वस्मरणम् । कलम्बः । 'मार्ग अन्वेषणे' । ल्युट् । मार्गणः ।
शृणातेः 'ऋदोरप्' (३. ३. १७) । शरः ।

“स्थलं क्ष्वेडो विपाटश्च चित्रपुङ्खः शरः सरः”

इति त्रिकाण्डशेषे दन्त्यादिश्च । पत्रं पक्षः, तद्योगात् पत्रा । 'रूप विमोहने' । चु-
रादिः । अच् । रोपः । 'इषेः किञ्च' (उ० १. १३) इत्युः । इपुः ॥

प्रक्ष्वेडनास्तु नाराचाः

क्षीर० — प्रक्ष्वेडन्ते प्रक्ष्वेडनाः । क्ष्वेदे रूपं क्ष्वेडन्तेर्वोन्नेयम् ।
नैरमञ्चति नैराचः । नैराच एव नाराचः । स्वार्थेऽण् । सर्वलोहो-
ऽयम् ॥

टीका० — प्रक्ष्वेडनद्वयं नाराचे । 'जिह्वदा स्नेहनमोचनयोः' ।
नन्धादिः । पृषोदरादित्वाडुत्वम् । प्रक्ष्वेडनः । नरानाचामतीति नाराचः । 'अन्ये-
भ्योऽपि—' (३. २. १०१) इति डः । 'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७)
इति दीर्घः ॥

पक्षो वाजः

क्षीर० — 'पक्ष परिग्रहे' । वजति गच्छत्यनेन वाजः ॥

टीका० — काण्डपत्रे पक्षद्वयम् । 'वज गतौ' । वरणे घञ् । वाजः ।
'अजिब्रज्योश्च' (७. ३. ६०) इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कुत्व-
निषेधः ॥

त्रिपूत्तरे ।

क्षीर० — लिप्तान्ता वाच्यलिङ्गाः ॥

१. 'द्विवे' ग. घ. पाठः. २, ३, ४. 'ना' क. ख. ड. पाठः. ५. 'एव' न.
पाठः. ६. 'जः' । न्यङ्कादेः कुत्वम् ॥ त्रि' ग. घ. ड. पाठः.

टीका० — उत्तरे परे लिप्तकान्तास्त्रिषु ॥

निरस्तः प्रहिते बाणे

क्षीर० — निरस्यते स्म प्रहीयते स्म, क्षिप्त इत्यर्थः ॥

टीका० — प्रहिते (निःवि)क्षिप्ते बाणे निरस्तः । प्राक् साधितः ॥

विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ ॥ ८८ ॥

क्षीर० — विषेणाक्ते उक्षिते । दिह्यते स्म लिप्यते स्म ॥

टीका० — वि(षभ?षो)क्षितकाण्डे दिग्ध(त्र!द्व)यम् । दिहेः क्तः । दिग्धः । 'लिप उपदेहे' । क्तः । ततः कन् । लिप्तकः ॥

तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः ।

तूण्यां

क्षीर० — तूण्यते पूर्यते शरैस्तूणः । तूणीति लिङ्गभेदार्थम् । उपासज्यन्ते निषज्यन्ते (स्म?) च बाणा यत्रेत्युपासङ्गनिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽत्र इषुधिः । कलापो नानार्थे ॥

टीका० — तूणषट्कं तोण इति ख्याते । 'तूण पूरणे' । चुरादिः । एरचि तूणः । गौरादिडीषि तूणीत्यपीति धातुप्रदीपः । रूपभेदात् पुमान् । टापि तूणेति वररुचिः । 'षेञ्ज सङ्गे' । घञ् । उपासङ्गः । 'कृष्टृष्टृष्टृकटिपटिशौटिभ्य ईरन्' (उ० ४. ३०) इति बाहुलक ईरन् । तूणीरः । 'उपसर्गात् —' (८. ३. १५) इत्यादिना षत्वे निषङ्गो मूर्धन्यषः । इषवो धीयन्तेऽत्रेति इषुधिः ॥

खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिकृष्टयः ॥ ८९ ॥

कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत् ।

क्षीर०— खण्डयति भिनत्ति खड्गः । निष्क्रान्तस्त्रिंशतोऽङ्गुलि-
भ्यो निस्त्रिंशः । चन्द्रवद्धासः प्रभास्य चन्द्रहासः । अस्यतेऽसिः । ऋषे-
र्गत्यर्थादृष्टिः । ‘ऋत्यकः’ (६. १. १२८) इति प्रकृतिभावः । हिंसार्थाद्
रिषेस्तु रिष्टिः । चन्द्रहासासिरिष्ट्य इति केचित् पठन्ति । कुक्षौ भवः
कौक्षेयकः । ‘कुलकुक्षि—’ (४. २. ९६) इति ढकञ् । मण्डलाकृत्यग्रम-
स्य मण्डलाग्रः । करे बलनमस्य करवालः । कल्पते कृपाणः । कृपिः
पूरणार्थः ॥

टीका० — खड्गनवकं खड्गे । ‘खट खटि भेदने’ । बाहुलको गन् ।
खड्गः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्य इति निस्त्रिंशः । ‘डच्प्रकरणे सङ्ख्यायास्तत्पुरु-
षस्योपसङ्ख्यानं निस्त्रिंशाद्यर्थम्’ (वा० ५. ४. ७३) । डच् । चन्द्रमिव हसति
उद्योतकारित्वाच्चन्द्रहासः । ‘कर्मण्यण्’ (३. २. १) । ‘असु क्षेपणे’ । ‘खनि-
कण्यज्यसिवसिबनिसनिध्वनिग्रन्थिचलिभ्यश्च’ (उ० ४. १४१) इति इः ।
असिः । दन्त्यसः । ‘ऋषि गतौ’ । क्तिचि ऋष्टिः । एवमजादिः ।

“चन्द्रहासष्टिनिस्त्रिंशा ज्ञेया एकार्थवाचकाः ”

इति त्रिकाण्डशेषश्च । ‘रिषि हिंसायां, हलादिरिति वर्णदेशना । द्विविध एवेति
रभसः । ‘कुलकुक्षि—’ (४. २. ९६) इत्यादिना ढकञ् । कौक्षेयकः । करं
पालयति पलतीति वा करपालः । ‘कर्मण्यण्’ (३. ४. १) । ‘विधूतकरपालकः
पालक’ इति यमकम् ।

“दन्तैश्चिच्छिदिरे लूनकरवालाः पदातयः” (स० १९. श्लो० ५५)

इति माघश्लेषाद् वकारवानपि । कृपाण इति । ऋपेर्बहुलवचनादानच् सम्प्र-
सारणं चेति न्यासकारः । यथा कृपाणः खड्गे तथा करवालोऽपीति वक्तव्यार्थः ॥

त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्याद्

क्षीर० — ‘त्सर छन्नगतौ’ ॥

टीका० — खञ्जच्छुरिकादिमुष्टौ त्सरः । ना । 'त्सर छञ्जगतौ' ।
दन्त्यसः । चरुवद् उः ॥

मेखला तन्निबन्धनम् ॥ ९० ॥

क्षीर० — मीयते मणिबन्धे प्रक्षिप्यते मेखला । यथा प्रहरतो
हस्तान्न निर्याति ॥

टीका० — खञ्जादिनिबन्धनः सीकनलिकातकादिकं(?) मेखला । गङ्गाया-
मिति केचित् ॥

फलकोऽस्त्री फलं चर्म

क्षीर० — फलति विशीर्यते प्रहारैः फलकम् । फलं मुनिना
खञ्जाद्यग्रे दृष्टम् । अयं तु लोकात् फलकं मन्यते । यच्छाश्वतः—

“लाभे सस्ये शराद्यङ्गे व्युष्टौ च फलके फलम्” ।

चर्ममयत्वाच्चर्म ॥

टीका० — फलगा इति ख्याते फलकत्रयम् । फलकचर्मणी साधिते ॥

सङ्गाहो मुष्टिरस्य यः ।

क्षीर० — सङ्गृह्यतेऽनेन सङ्गाहः । 'समि मुष्टौ' (३. ३. ३६)
इति घञ् । अस्य चर्मणो मुष्टिर्ग्रहणस्य स्थानम् ॥

टीका० — फलकस्य मुष्टौ माण्डु इति ख्याते सङ्गाहः । 'समि मुष्टौ'
(३. ३. ३६) इति ग्रहेर्घञ् ॥

दुघणे मुद्गरघनौ

क्षीर० — द्दं वृक्षाङ्गं हन्ति दुघणः । द्रोघनो वा । अयोघनो-

१. 'दिषु मु' ड. छ. पाठः. २. 'सिककलिकातनिका' क. ख. ड. छ. पाठः.
३. 'द' ख. पाठः. ४. 'लो' क. ख. पाठः. ५. 'या' ख. पाठः.

अन्यः । मुदं गिरति ग्रसते मुद्गरः । हन्यतेऽनेन घनः । 'मूर्तौ घनः' (३. ३. ७७) इति साधुः । यच्छाश्वतः —

“वाद्ये मुस्तेऽम्बुदे सान्दे घनः स्याल्लोहमुद्गरे ” ॥

टीका० — वर्धकिमुद्गराकृतावस्त्रविशेषे द्रुघणत्रयम् । द्रुः वृक्षो हन्यतेऽनेनेति द्रुघणः । 'करणेऽयोविद्रुषु' (३. ३. ८२) इति द्रुशब्द उपपदे हन्तेर्धातोरप्प्रत्ययः, घनादेशश्च । धातोः 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (८. ४. ३) इति णत्वम् । क्षुभ्रादेराकृतिगणत्वात् 'कवर्गव्यवाये हादेशप्रतिषेधो वक्तव्य' इति णत्वं न भवतीत्यपरे । मुदं हर्षं हरतीति मुद्गरः । पचादिः ॥

स्यादीली करवालिका ॥ ९१ ॥

क्षीर० — ईड्यते ईली । एकधारोऽसिस्तुरुष्कायुधम् । करवालदल्पे कन् । तरवारिकेत्येके ॥

टीका० — हस्तकुण्डेति ख्याते ईलीद्वयम् ।

“ईलिः करवाली स्याद् धैमेयो धान्यपरिवर्तः”

इति नाममालायामार्यापाठाद् दीर्घादिः । 'इल स्वप्नक्षेपणयोः' । 'इगुपधात् किरि'त्यनेन ह्रस्वादिरिति पुरुषोत्तमटीका । पक्षे डीष् ॥

भिन्दिपालः सृगस्तुल्यौ

क्षीर० — भिन्दतः पालयति भिन्दिपालः । स हस्ताक्षेप्यो लगुडः । सृज्यते सरति वा सृगः ॥

टीका० — भिन्दिपालद्वयं हस्तप्रमाणे हस्तकाण्डे इति ख्याते । नलिकाण्डमिति केचित् तमाहुः ।

“भिन्दिर्द्वादशतालं तु दशकुन्तोऽभिधीयते”

इति भरतीये । सृगो दन्यादिः ॥

परिघः परिघातनः ।

क्षीर० — परिहन्ति परिघः । 'परौ घः' (३. ३. ८४) इति घत्वम् । लोहबद्धो लगुडः ॥

टीका० — परिघद्वयं लोहवद्धलगुडे खड्गे च । 'परौ घः' (३. ३. ८४) इति हन्तेरप् घादेशश्च । 'परेश्च घाङ्कयोः' (८. २. २२) इति लत्वविकल्पः । परिघः पलिघः । हन्तेर्ण्यन्ताल्लुटि परिघातनः ॥

द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः ॥ ९१ ॥

क्षीर० — कुठान् वृक्षान् इयत्ति कुठारः । स्वं धियति विभक्तिं स्वधितिः । परान् शृणाति परशुः परश्वधश्च । पश्वधोऽपि । यदाह —

“याष्टीकपारश्वधिकौ यष्टिपश्वधहेतिकौ” ॥

टीका० — कुठारचतुष्कं कुठारे । कुठं तरुम् आरातीति कुठारः, कप्रत्ययान्तः । आङ्पूर्वाच्छृणातेः 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां ङिच्च' (उ० १. ३४) इति कुः । परशुः ।

“कुठारः स्त्री च स्वधितिः परशुश्च परश्वधः ।

कुठाटङ्कः पशुरथच्छुरिका कोषणादिका ॥”

इति रभसः । परश्वधस्तालव्यमध्यः ॥

स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका ।

क्षीर० — शस्यतेऽनया शस्त्री । असेः पुत्रीव, अल्पत्वात् । छुराति छिनत्ति छुरिका । छुरिकापि ॥

टीका० — शस्त्रीचतुष्कं छुरिकायाम् । ङीषि शस्त्री । पुत्रीधेनुकाभ्यामसेः षष्ठीसमासः । 'छुर छेदने' । कुन् । छुरिका ॥

वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना

क्षीर० — शलति विशल्यन्तः शल्यम् । शङ्कतेऽस्माच्छङ्कु-
रायुधविशेषः । यच्छाश्वतः —

“सङ्ख्याकीलकयोः शङ्कुः शङ्कुः प्रहरणान्तरे” ।

अन्यत्रोपचाराच्छल्यम् ॥

टीका० — शल्यद्वयं शेलु इति ख्याते । शलेः यत् । शल्यः ।
यादोभेदे शङ्कुरुक्तः ॥

सर्वला तोमरोऽस्त्रियाम् ॥ ९२ ॥

क्षीर० — सर्वान् लाति सर्वला । स्तोम्यते श्लाघ्यते तोमरम् । तुः
सौत्रो वा ॥

टीका० — शर्वरीति ख्यातायां शर्वलाद्वयम् । 'शर्व चर्व गतौ' । वृषा-
दिकलच् । शर्वला । 'शार्दूलशर्वलाशलाटुः' इति शभेदः ॥

प्रासस्तु कुन्तः

क्षीर० — प्रास्यते प्रासः । हस्तक्षेप्यः (शिल्पः ? शल्यः) । कुणति
कुन्तः ॥

टीका० — प्रासद्वयं कुन्ते । 'असु क्षेपणे' । घञ् । प्रासः । कुं तनोतीति
कुन्तः । पृषोदरादिः ॥

कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोटयः ।

क्षीर० — कोणो गृहादेर्विदिक् । 'कुण शब्दोपकरणयोः' । पाति
पालिः । अश्नुते अश्रिः । कुटति कोटिः ॥

टीका० — कोणचतुष्कमग्रभागे । यथा षट्कोणः षडश्र इति । पालि-
त्रयं पक्षे ङीष्णन्तं च । 'अश भोजने' । वङ्क्यादित्वाद् रिन् । अश्रिः । कु-
टेरिः । कोटिः ॥

सर्वाभिसारः सर्वौघः सर्वसन्नहनार्थकः ॥ ९३ ॥

क्षीर० — सर्वेण सैन्येनाभिसरणं सर्वाभिसारः । सर्वेषामोघो
वहनं सर्वौघः । सर्वैः सन्नहतेऽत्र सर्वसन्नहनम् ॥

टीका० — चतुरङ्गबलस्य सन्नहने सर्वपङ्थाण इति ख्याते सर्वाभि-
सारद्वयम् ॥

लेहाभिसारोऽस्त्रभृतां राज्ञां नीराजनो विधिः ।

क्षीर० — अस्त्रभृतां राज्ञां युः शास्त्रिको विधिः प्रस्थानात् प्राक्, स लोहाभिसारः । लोहं शस्त्रमभिसार्यते प्रस्थाप्यतेऽत्रेति । नीरस्य शान्त्युदकस्य अजनं क्षेपोऽत्र नीराज(नंनः), मन्त्रोल्कया वाहनायुधादेर्निश्शेषेण राजनं वा । अत्र नीराजनानन्तरं कर्म लोहाभिसार इति मुनिः —

“विधिर्लोहाभिसारस्तु राज्ञां नीराजनोत्तरः” ।

भृगोऽपि —

“लोहाभिसारस्तु विधिः परो नीराजनान्तरपैः ।”

दशम्यां दंसितैः कार्यः ”

इति । अत एव नीराजनाद्विधिरित्येके पठन्ति ॥

टीका० — महानवमीदीक्षायां बलस्य नीराजने निर्मज्जने राज्ञां शस्त्रधारिणां यः शास्त्रचोदितो विधिः, तत्र लोहाभिहारः ॥

यत् सेनयाभिगमनमरौ तदभिषेकनम् ॥ ९४ ॥

क्षीर० — ‘सत्यापपाश —’ (३. १. २५) इति णिच् । ‘उपसर्गात् सुनोति—’ (८. ३. ६५) इति षत्वम् ॥

टीका० — सेनया करणभूतया विजिगीषोररौ शत्रौ आभिमुख्येन गमनमभिषेकनम् । सेनाशब्दात् ‘सत्यापपाश —’ (३. १. २५) इत्यादिना णिच् । ल्युट् । ‘उपसर्गात् सुनोति —’ (८. ३. ६५) इत्यादिना षत्वम् ॥

यात्रा व्रज्याभिनिर्घाणं प्रस्थानं गमनं गमः ।

क्षीर० — यान्त्यस्यां यात्रा । व्रजनं व्रज्या । ‘व्रजयजोर्भावे क्यप्’ (३. ३. ९८) । प्रपूर्वस्तिष्ठतिर्गत्यर्थः । ‘ग्रहवृद्धनिश्चि—’ (३. ३. ५८) इत्यपि गमः ॥

टीका० — विजिगीषोः प्रयाणे यात्राषट्कम् । यातेः घृन् । यात्रा ।
मिक्षायां व्रज्योक्ता । निर्योणत्रिके ल्युट् । गमेरप् । गमः ॥

स्यादासारः प्रसरणं

क्षीर० — सैन्यस्य सर्वतो व्याप्तिरासारः । आस्रियतेऽनेनेत्या-
सारः अन्वागच्छद्वलम् । प्रसारस्तु सैन्याद्वहिस्तृणजलाद्यर्थं प्रसरण-
मिति कौटिल्यः । यल्लक्ष्यं —

“निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम्” ॥

टीका० — सर्वतो बलस्य प्रसारे आसारद्वयम् । सर्वतोऽर्धज् । आ-
सारः । धरणिबत् प्रसरणिः । पक्षे ‘कृदिकाराद् —’ (ग० ४. १. ४५) इति ङीष् ॥

प्रचक्रं चलितार्थकम् ॥ ९५ ॥

क्षीर० — प्रस्थितं सैन्यं प्रचक्रम् ॥

टीका० — चलितशब्दस्यार्थे प्रचक्रम् । ‘प्रचक्रं चलितं त्रिषु’ इत्यमर-
माला ॥

अहितान् प्रत्यभीतस्य रणे यानमभिक्रमः ।

क्षीर० — आभिमुख्येनाभिभूयारीन् वा प्रतिगमनमभिक्रमः ॥

टीका० — अरीन् प्रति निर्भयस्य पुंसो याने अभिक्रमः ॥

वैतालिका बोधकराः

क्षीर० — वितालः शब्दः प्रयोजनमेषां वैतालिकाः । मङ्गल्याख्याः
प्रातर्बोधका इत्येके ॥

टीका० — निशान्ते ये बोधयन्ति, तत्र वैतालिकद्वयम् । विविधता-
लेन चरन्तीति वैतालिकाः । ‘चरति’ (४. ४. ३) इति ठक् ॥

चाक्रिका घाण्टिकार्थकाः ॥ ९६ ॥

क्षीर० — चक्रं राष्ट्रम् । घण्टाघातेन देवताग्रये ये शंसन्ति ते,
श्रावकारुयाः ॥

टीका० — बहुभिर्मिलित्वा स्तुवत्सु चाक्रिकद्वयम् । चक्रेण चरन्तीति
ठक् । घट्टया चरन्तीति घाण्टिकाः । पृषोदरादित्वाद् वर्णागमः, निरनुना-
सिको वा ॥

स्युर्मागधास्तु मागधाः

क्षीर० — वंशोदीरणेन ये याचन्ते । आहुश्च —

“वैतालिकास्तु कथ्यन्ते कविभिः सौखशायिकाः ।

राज्ञः प्रबोधसमये घण्टाशिल्पास्तु घाण्टिकाः ॥

मागधाः स्तुतिवंशज्ञाः”

इति । मगधेति याच्यार्थः कण्ठादिः । यच्छ्रीभोजः —

“कमर्थिनः कुपुभ्यन्तु कं मगध्यन्तु मागधाः ।

कमिषुभ्यन्तु यज्वानो रामेऽरण्यं भुरण्यति” ॥

टीका० — वंशस्तुतिपाठकेषु मागधद्वयं, वनौषधौ साधितम् ॥

वन्दिनः स्तुतिपाठकाः ।

क्षीर० — वन्दन्ते स्तुवन्ति तच्छीलाः । चत्वार एकार्था इत्येके ॥

टीका० — वीर्यादिस्तुतिं ये नासीरे पठन्ति, तत्र वन्दिद्वयम् ।
सारपद्यस्तुतिपाठक इति केचित् । ब्रीह्यादीनौ वन्दी ॥

संशसकास्तु समयात् सङ्ग्रामादानवर्तिनः ॥ ९७ ॥

१. 'लिताभिस्तुवत्सु वावेहा इति ख्यातेषु चा' ख. छ. पाठः. २. 'ण्ट' ख,
पाठः. ३. 'वंशज्ञाः' ख. छ. पाठः.

क्षीर० — संशपन्ति पलायमानान्, सशपथं वा युध्यन्ते दृढनिश्चयाः संशप्तकाः ॥

टीका० — समयात् तत्रैव स्थित्वास्माभिर्योद्धव्यमिति निश्चयाद्, अथवा कुलाचाराद्, ये सङ्ग्रामे न निवर्तन्ते, ते संशप्तकाः । ‘शप उपालम्भने’ । क्तः ॥

रेणुर्द्रयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः ।

क्षीर० — रीयते रेणुः । ‘रीङ् गतौ’ । धूयते धूलिः । पंसयति वस्त्रादि पांसुः । ‘पसि नाशने’ । रज्यते वस्त्राद्यनेन रजः क्लीबे । ‘रजन-रजर्करजस्मृपसंख्यानम्’ इति नलोपः ॥

टीका० — रेणुचतुष्कं धूल्याम् । स्थाणुवद् रेणुः । ‘धू विधूनने’ । बाहुलकालिः । कुटादित्वाद् ङिङ्गद्वावः । वङ्कचादित्वात् किन् । रलयोरेकत्वेस्मरणम् । धूलिः । डीषि धूली च । ‘पशि नाशने’ । ‘अर्जिदृशिकम्यमिपशि —’ (उ० १. २७) इत्यादिना उः दीर्घश्च । पांसुः । एवमुणादौ तालव्यवान् । धातुवृत्तौ दन्त्यवानुक्तः । अत एव वृन्दावनयमकं —

“कणिकाभिरपां सुखरं विसृजन्ति गुहासमीरणमपांसुखरम्”

इति । रज्जेः ‘भूरज्जिभ्यां कित्’ (उ० ४. २१८) इत्यसुन् । रजः । अदन्तोऽपि । तथाचोत्पलिनी —

“पुष्परेणौ गुणे चैव रजोऽपि रजसा सह”

इति । न द्वयो रज इति सम्बन्धः ॥

चूर्णे क्षोदः

क्षीर० — ‘चूर्ण क्षोदे’ । ‘क्षुदिर् सम्पेषणे’ । धूलिप्रायोऽयम् । यच्छाश्वतः —

“चूर्णानि वासयोगाः स्युश्चूर्णो धूलिः सशर्करा” ॥

टीका० — धूलितः किञ्चिदुपचिते क्षोदनेन कृते माषादीनां रजोविशेषे क्षोदद्वयम् । क्षोदसाहचर्यात् चूर्णो ना । 'क्षुदिर् सम्पेषणे' । घञ् । क्षोदः । षडेव समानार्था इत्यपरः ॥

समुत्पिञ्जपिञ्जलौ भृशमाकुले ॥ ९८ ॥

क्षीर० — 'पिजि हिंसायाम्' । आह च — 'समुत्पिञ्जोऽतिसङ्कुलः' ॥

टीका० — अत्यन्तव्याकुले सैन्यादौ समुत्पिञ्जद्वयम् । 'तुजि पिजि वलने' । चौरादिकादेरचि समुत्पिञ्जः । पृषोदरादित्वात् पिञ्जलः ॥

पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम् ।

क्षीर० — पतति धूयते पताका । विजयते विजयन्तः । औणादिको झच् । तस्येयं वैजयन्ती । केत्यते संज्ञायतेऽनेन केतनम् । ध्वजति धूयते ध्वजः । पताकादण्डो ध्वज इत्येके । केतुर्नार्थः ॥

टीका० — पताकाचतुष्कं पताकायाम् । 'शलिपरिपतिभ्यो नित्' इत्याकः । पताका । पताकाशब्दोऽप्यत्र । विपूर्वाज्जयतेः 'तृभूवसिबहिभासिसाधिगडिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च' (उ० ३. १३८) इति झच् । अन्तादेशः । पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययः । वैजयन्तः । षिदधिकारान्डीषि वैजयन्ती । विजयन्तानां सम्बन्धिनी वा वैजयन्ती । 'तस्येदम्' (४. ३. १२०) इत्यण् । गेहे केतनमुक्तम् । ध्वजेरच् । ध्वजः ॥

सा वीराशंसनं युद्धभूमिर्यातिभयप्रदा ॥ ९९ ॥

क्षीर० — वीरा आशंस्यन्तेऽत्र ॥

टीका० — खण्डखण्ड(?) भूतैरश्वहस्त्यादिभिरतिभयङ्करा भूः वीराशंसनम् । 'शन्सु स्तुतौ' । कर्मणि 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३. ३. ११३) इति ल्युट् । बहुलमन्यत्रापीति वा युच् ॥

१. 'ली' ख. पाठः. २. 'क्ष', क. पाठः.

† इदं मुञ्चितोणादौ बलाकादिगणान्तर्गतं दृश्यते ।

अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहम्पूर्विका स्त्रियाम् ।

क्षीर० — अहं पूर्वमहं पूर्वमस्यां क्रियायामिति सर्वे यत्र ब्रुवते, सा अहम्पूर्विका । स्वार्थे कन् । मत्वर्थीयो वा ठन् ॥

टीका० — अहमग्रे यामि अहमग्रे यामीत्यन्योन्यं यद् योधानां धावितं तत्राहम्पूर्विका । विभक्तिप्रतिरूपकोऽहंशब्दो निपातितः । 'सुप्सुपा' इति योगविभागात् समासः । ततः संज्ञायां कन् । वीप्साया गम्यमानत्वोन्न द्विरुक्तिः ॥

आहोपुरुषिका दर्पाद् या स्यात् सम्भावनात्मनि ॥१००॥

क्षीर० — अहो पुरुषोऽहमित्यस्य भावः । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् ॥

टीका० — अधिकार्थवचनेनात्मनः शक्तेरप्रतिघाताविष्करणं संभावना, तत्र आहोपुरुषिका । अत्राप्यहोशब्दोऽहंकृद्वाची । पूर्ववत् समासः । मनो-ज्ञादित्वाद् वुञ् ॥

अहमहमिका तु सा स्यात् परस्परं यो भवत्यहङ्कारः ।

क्षीर० — अहं शक्तोऽहं शक्त इत्यस्त्यस्यामहमहमिका । ठन् । अहंशब्दो निपातः ॥

टीका० — अन्योन्यं प्रति श्रेष्ठोऽहमित्यभिमानोऽहमहमिका । आर्येयम् ॥

द्रविणं तरःसहोबलशौर्याणि स्थाम शुष्मं च ॥ १०१ ॥

शक्तिः पराक्रमः प्राणः

क्षीर० — द्रवत्यनेनारिर्द्रविणम् । तरत्यनेनापदं तरः । सहतेऽनेन अरिं सहः । असन्तौ । शूरस्य भावः शौर्यम् । तिष्ठन्त्यनेन स्थाम । शुष्यत्यनेनारिः शुष्मम् । शुष्मेत्येके । शकनं शक्तिः । प्राणनं प्राणः ॥

१. 'पूर्विकैव स्त्रियामहं' ग. पाठः. २. ३. 'भवामि', ४. 'त्वाद् द्वि' अ. पाठः.

टीका० — द्रविणदशकं सामर्थ्ये । 'दु गतौ' । 'दुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २. ५३) । द्रविणम् । तरतेः सहतेश्च असुनि तरस्सहसी कृबि । बलम् उक्तम् । शूरस्य भावः शौर्यम् । तिष्ठतेर्मनिन्, स्थाया । शुषेर्मक्, शुष्मम् । 'शक् शक्तौ' । किन् । शक्तिः । क्रमतेर्धञ्, पराक्रमः । प्राण उक्तः ॥

विक्रमस्त्वातिशक्तिता ।

क्षीर० — विक्रमन्तेऽनेन विक्रमः ॥

टीका० — अतिशक्तिता शौर्यातिशयो विक्रमः ॥

वीरपाणं तु यत् पानं वृत्ते भाविनि वा रणे ॥ १०२ ॥

क्षीर० — वीराणां मद्यपानं वीरपाणम् ॥

टीका० — भूते रणे भविष्यति वा यद् योधानां मध्वादिपानं, तद् वीरपाणम् । पातेर्ल्युटि 'वा भावकरणयोः' (८. ४. १०) इति णत्वम् ॥

युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम् ।

मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यं समीकं साम्परायिकम् ॥ १०३ ॥

अस्त्रियं रत्नरानीकरणाः कलहविग्रहौ ।

सम्प्रहाराभिसम्पातकलिसंस्फोटसंयुगाः ॥ १०४ ॥

अभ्यामर्दसमाघातसङ्ग्रामाभ्यागमाहवाः ।

समुदायः स्त्रियः संयत्समित्याजिसमिद्युधः ॥ १०५ ॥

क्षीर० — 'युध सम्प्रहारे' । युद्धम् । भावे क्तः । ल्युट्यायोधनम् । जायते जन्यं, 'भव्यगेय —' (३. ४. ६८) इति साधुः । प्रधनन्ति घ्नन्ति प्रधनम् । धनिर्मरणार्थोऽत्र निधनवत् । म्रियतेऽस्मिन् मृधम् । आस्कन्द्यतेऽत्रास्कन्दनम् । संचक्ष्यतेऽस्मिन् सङ्ख्यम् । सम्पूर्वश्चक्षिर्वर्जनार्थः । समीयतेऽस्मिन् समीकम् । 'ई गतौ' । सम्परायो मृत्युः प्रयोजनमस्य साम्परायिकम् । विनयादित्वात् स्वार्थे ङ्वा । समियति सङ्घटतेऽस्मिन् समरः । न नीयते चाल्यतेऽत्रानीकम् । अनीकमस्त्यस्यै वा ।

१. 'समार्थे दु' ज. पाठः. २. 'यन्ते मृ', ३. र्थः । सङ्ख्यं च । स', ४. 'त्र' ग. पाठः.

रणन्ति दुन्दुभयोऽत्र रणम् । 'वशिरण्योश्च' (वा० ३. ३. ५८) इति वक्तव्या-
दप् । कल्यते क्षिप्यतेऽत्र कलहः । कलं ह्रीनबलं हन्ति वा । विग्रह्णात्यत्र विग्रहः ।
'ग्रहवृहनिश्चि—' (३. ३. ५८) इत्यप् । सम्प्रहरन्त्यन्योन्यं घ्नन्त्यत्र सम्प्रहारः ।
अभिसम्पतन्त्यत्र अभिसम्पातः । कल्यतेऽत्र कलिः । संस्फुटन्त्यत्र सं-
स्फोटः । संस्फोट इति तु युक्तः पाठः । 'स्फिट अनादरे' । भरते तु सं-
फेटः । संयुज्यन्तेऽत्र सङ्गता रथयुगा अत्र वा संयुगः । अभ्यामृद्वन्त्यत्र
अभ्यामर्दः । समाघ्नन्त्यत्र समाघातः । सङ्ग्रामयन्तेऽस्मिन् सङ्ग्रामः । अ-
भ्यागच्छन्त्यत्र अभ्यागमः । आह्वयन्तेऽत्र आहवः । 'आङि युद्धे' (३.
३. ७३) इत्यप् । 'हः सम्प्रसारणम्' (६. १. ३२) । समुदयन्ते मिलन्त्यत्र
समुदायः । संयतन्ते संयच्छन्ति वात्र संयत् । संयन्ति सङ्गच्छन्तेऽत्र
समितिः । आ अज्यन्ते क्षिप्यन्तेऽत्राजिः । युध्यन्तेऽस्यां युत् ॥

टीका०—युद्धाद्येकत्रिंशद् युद्धे । युद्धाद्योर्ध्वनयोर्भावे क्लृयुटौ । शस्तंजनयोगा-
ज्जन्यम् । यप्प्रकरणे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (५. २. १२०) इति यप् । प्रशस्तं धनं
सङ्घोऽत्रेति प्रधानम् । हृणातेर्णिचि ल्युट् । प्रविदारणम् । 'गृधुमृधू उन्दे' । अधिक-
रणे घञर्थे कः । मृधम् । 'स्कन्दिर् गतिशोषणयोः' । ल्युट् । आस्कन्दनम् । ख्यातेः
'घञर्थे कविधानम्' (३. ३. ५८) इति कः । सङ्घचम् । 'समंष्टम वैकुण्ठे' । 'अ-
ळीकादयश्च' (उ० ४. २५) इति ईकन्, समीकम् । दन्त्यवत् । सम्परापूर्वा-
दिणः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३. ३. ११८) इति घः । ततः संज्ञायां
स्वार्थे कन् । सम्परायकः । साम्परायिकपाठे स्वार्थे 'विनयादिभ्यष्टक्' (५.
४. ३४) । सह मरेण वर्तते समरः । अनीकं सैन्यं, तद्योगादनीकम् । अर्शआ-
द्यच् । रणतेः पचाद्यच् । रणः । समरत्रिकमस्त्रियाम् । कलं हन्तीति कलहः ।
विग्रहोऽबन्तः । 'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च' (३. ३. १२२)
इत्यनेन चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादधिकरणे घञि सम्प्रहारः । अधिकरणे
'हलश्च' (३. ३. १२१) इति घञ्, अभिसम्पातः । कलेः 'इन्' इति इन् ।

१. 'न्ते आक्षि' ख. पाठः. २. त् । घटादयः पित इति । क. ग. घ. ड. पाठः.
३. 'घा', ४. 'घयो' ख. ग. पाठः. ५. 'खजयो', ६. 'धू शब्दने अ' ड. छ. पाठः.
७. 'म वै' ख. ग. पाठः. ८. 'इति घञ् । अनेन' ड. छ. पाठः.

कालिः । स्फुटैर्धञ् । संस्फोटः । युगे युग उक्तः । सम्पूर्वः संयुगः । 'मृद क्षोदे' । घञ् । अभ्यामर्दः । हन्तेर्धञ् । 'हन्स्तोऽचिण्णलोः' (७. ३. ३२) इति तकारः । आघातः । 'सङ्ग्राम युद्धे' । चुरादिणिच् । 'पुंसि संज्ञायां ञः प्रायेण' (३. ३. ११८) इति घः । सङ्ग्रामः । गमेरप् । अभ्यागमः । आह्वयन्तेऽत्रेत्याहवः । 'आङि युद्धे' (३. ३. ७३) इत्यप् सम्प्रसारणं च । समूहे समुदाय उक्तः । 'यमु उपरमे' । क्तिप् । 'गमः कौ' (६. ४. ४०) इत्यनुवृत्तौ 'गमादीनामिति वक्तव्यम्' (६. ४. ४०) इति कौ अनुनासिकलोपः । संयत् ।

“रवेण भौमो ध्वजवर्तिवीरवेरवेजि संयत्यतुलास्त्रगौरवे ।”

इति दण्डिना पुमान् संयत् प्रयुक्तः । समितिः । 'अज गतिक्षेपणयोः' । 'अज्यतिभ्यां च' (उ० ४. १३२) इति इण् । बाहुलकान्न वीभावः । आजिः ।

“बाहनाजनि मानासे साराजावनमा ततः ।”

इति माघे (सर्ग० १९. श्लो० ३३) पुमानाजिः । सारश्चासावाजिश्चेति साराजिः । तस्मिन् साराजौ ! किंभूते, मानासे मानखण्डके । अन्यथा मानासायामिति स्यात् । समिणोऽधिकरणे सम्पदादिक्तिप् । समित् । युध्यतेः क्तिप् । युत् ॥

नियुद्धं बाहुयुद्धे

क्षीर० — नियुतं युद्धं नियुद्धम् ॥

टीका० — मल्लादीनां बाहुयुद्धे नियुद्धम् ॥

अथ तुमुलं रणसङ्कुले ।

क्षीर० — ताम्यन्त्यत्र तुमुलम् । तुः सौत्रो वा ॥

टीका० — आकुले रणे तुमुलम् । 'तुमुलो व्याकुलो रण' इति त्रिकाण्डः ॥

क्ष्वेडा तु सिंहनादः स्यात्

क्षीर० — 'क्ष्वेद अव्यक्ते शब्दे' इति दुर्गः । सिंहस्येव नदनं भ-
यानां सिंहनादः ॥

टीका० — योधानां परबलभङ्गार्थं झङ्कारवे क्ष्वेडाद्वयम् । विषे क्ष्वे-
ड उक्तः । सिंहानां गर्जितमिव सिंहनादः ॥

करिणां घटना घटा ॥ १०६ ॥

क्षीर० — 'घटादयः पित' इति 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' (३. ३.
१०४) ॥

टीका० — करिणां घटना सङ्ग्रामभावोक्तं सज्जनं घटा । 'घट चेष्टा-
याम्' । घटादीनां षित्वात् 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' (३. ३. १०४) ॥

क्रन्दनं योधसंरावः

क्षीर० — समन्ताद् रवणं संरावः । 'उपसर्गे रुवः' (३. ३. २२) ।
यञ् ॥

टीका० — योधानामन्योन्यं मया सह युध्यस्वेत्याद्याह्वाने क्रन्दनद्व-
यम् । क्रन्दतेत्युद् ॥

बृंहितं करिगर्जितम् ।

क्षीर० — 'बृहि शब्दे' ॥

टीका० — करिणां गर्जिते बृंहितद्वयम् । 'बृह बृहि वृद्धौ' ।
क्तः ॥

विष्फारो धनुषः स्वानः

क्षीर० — 'स्फुर चलने' ॥

टीका० — धनुश्शब्दे विष्फारः । 'स्फुर संचलने' । घञ् । लघूपधगुणः ।
'स्फुरतिस्फुलत्योर्धञि' (१. १. ४७) इति एचः स्थाने आत्वे विष्फारः । दन्त्य-
वान् । 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्विभ्यः' (८. ३. ७६) इति षत्वविकल्पे विष्फार

इत्यपि । णिचि तु एरचि 'चिस्फुरोणै' (१. १. ५४) इत्यात्वविकल्पे पूर्ववत् षत्व-
विकल्पे च विस्फोरविष्फोरौ च ॥ १

पटहाडम्बरौ समौ ॥ १०७ ॥

क्षीर० — पटो हन्यते स्म पटहः । आदम्यते आडम्बरः । डम-
रुवद् दस्य डत्वम् ॥

टीका० — पटहद्वयं सङ्ग्रामपटहध्वनौ । पटह उक्तः । आडपूर्वा-
लम्बते: 'ऋच्छेररन्' (उ० ३. १३१) इति बाहुलकोऽरन् । डलयोरेकत्वस्मरणम् ।
आडम्बरः ॥

प्रसभं तु बलात्कारे हठः

क्षीर० — प्रगता सभात्र प्रसभम् । सभया युक्तायुक्तविचारो
लक्ष्यते । 'प्रस प्रसवे वा' । बलादिति निपातो हठार्थः । 'हठ प्लुतिश-
ठत्वयोः' ॥

टीका० — प्रसभत्रयं बलात्कारे । 'क्लीवे तु प्रसभं हठः' इति बोपा-
लितः । 'हठ प्लुतिसङ्कोचयोः' । पचाद्यच् । हठः ॥

अथ स्वलितं छलम् ।

क्षीर० — स्वलनं मार्गाच्चलनम् । छयति भिनत्ति छलम् ॥

टीका० — स्वलितद्वयं युद्धविषये मर्यादायाः स्वलने । पूर्वं
तु नाट्यप्रकरणे धैर्यादेः स्वलने रिङ्गणमुक्तम् ॥

अजन्यं क्लीब उत्पात उपसर्गः समं त्रयम् ॥ १०८ ॥

क्षीर० — न जने साध्वजन्यम् । उत्पतत्यकस्मादौयात्युत्पातः ।
ज्वलादित्वाणः । उपसृज्यते उपहियते प्रजाऽत्रोपसर्गः ॥

१. 'भस्तु ब', २ 'भः । स' ख. पाठः. ३. 'क्रमे धै' क. ख. ग. घ. पाठः.
४. 'दुद्यात्यु' ख. पाठः.

टीका० — अजन्यत्रयमुत्पाते । ‘अजन्योपप्लवोत्पाता’ इति तु पुंस्काण्डे बोधालितः ॥

मूर्छा तु कश्मलं मोहोऽपि

क्षीर० — कशति वैचित्यात् कश्मलम् ॥

टीका०—मूर्छात्रयं मोहे । ‘मुर्छा मोहसमुच्छ्रययोः’ । ‘गुरोश्च हलः’ (३. ३. १०३) इत्यः । टाप् । ‘उपधायां च’ (८. २. ७८) इति दीर्घः । मूर्छा । कसेः सौत्रात् ‘कम्बलादयश्च’ इति निपातनात् कलप्रत्ययो मुगागमश्च । कस्मलम् । तालव्यशमिति केचित् । ‘कुष निष्कर्षे’ । ‘कुटिकुषिभ्यां कमलच्’ (उ० ४. १८८) इति वर्तमाने ‘कुषेरञ्चोपधायाः’* इति कमलच् उपधायाश्च अकारः । कम्मलम् । एवमुणादौ मूर्धन्यवत् । ‘मुह वैचित्ये’ । घञ् । मोहः ॥

अवमर्दस्तु पीडनम् ।

क्षीर० — ‘पीड गहने’ ॥

टीका० — परचक्रेण देशस्य पीडने अवमर्दद्वयम् । ‘मृद क्षोदे’ । घञ् । अवमर्दः । पीडयतेर्ल्युटि पीडनम् ॥

अभ्यवस्कन्दनं त्वभ्यासादनं

क्षीर० — छलादाक्रमणमित्यर्थः । साचि चै (?) । रात्रौ सौ-
षुप्तिकम् ॥

टीका० — निश्शक्तीकरणाय यः शत्रुभिः प्रहारो दीयते तत्राभ्यव-
स्कन्दनद्वयम् । ‘स्कन्दिर् गतिशोषणयोः’ । ल्युट् । अभ्यवस्कन्दनम् । सदेर्णिचि
ल्युट् । आसादनं, दन्त्यसम् ॥

१. ‘ति पुं’ ज. पाठः. २. ‘दि’ ख. पाठः. ३. ‘षी च’, ४. ‘चात्रौ ग. पाठः.
५. ‘कः’ ॥ क. घ. पाठः.

* इदं सूत्रं मुद्रितोणादौ न दृश्यते ।

विजयो जयः ॥ १०९ ॥

क्षीर० — विः स्वार्थे । लोचनविलोचनवत् ॥

टीका० — विजयद्वयं जयक्रियायाम् । एरच् (३. ३. ५६) ॥

वैरशुद्धिः प्रतीकारो वैरनिर्यातनं च सा ।

क्षीर० — प्रतीपकरणं प्रतीकारः । शुद्धिः निर्यातनं शोधनम् ।
'यत निर्यारोपसंस्कारयोः' । जितकाशी जिताहवः ॥

टीका० — वैरशुद्धित्रयं वैरनिर्यातने । क्तिन्नन्तत्वाद् वैरशुद्धिः ।
स्त्रियां घञि प्रतीकारः । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६. ३. १२२)
इति पक्षे दीर्घः ॥

प्रद्रावोद्द्रावसन्द्रावसन्दावा विद्रवो द्रवः ॥ ११० ॥

अपक्रमोऽपयानं च

क्षीर० — एतेऽष्टौ पलायनार्थाः । 'प्रे द्रुस्तुलुवः' (३. ३. २७) ।
'उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः' (३. ३. ४९) इति घञ् । 'समि युद्रुदुवः'
(३. ३. २३) इति घञ् । अपद्वारेण क्रमणं पलायनम् अपक्रमः ॥

टीका० — प्रद्रावाष्टकं पलायनमात्रे । 'प्रे द्रुस्तुलुवः' (३. ३. २७)
इति घञ् । प्रद्रावः । 'उदि श्रयतियौतिपूद्रुवः' (३. ३. ४९) इति घञि
उद्द्रावः । सन्द्रावसन्दावयोः 'समि युद्रुदुवः' (३. ३. २३) इति घञ् ।
ऋदोरपि विद्रवद्रवौ । यातेल्युट् । अपयानम् ॥

रणे भङ्गः पराजयः ।

क्षीर० — भङ्गोऽपसरणम् । अन्यत्रोपचारात् ॥

टीका० — युद्धभङ्गे पराजयः ॥

पराजितपराभूतौ त्रिषु

क्षीर० — परिभूतोऽभिभूतोऽपि ॥

टीका० — युद्धे जिते पराजितद्वयम् । कान्तम् ॥

नष्टतिरोहितौ ॥ १११ ॥

क्षीर० — त्रिष्वित्येव । नश्यति स्म नष्टम् । अदृश्यम् । तिरोधी-
यते स्म तिरोहितम् । गृहीतदिक् च ॥

टीका० — नष्टद्वयमदृष्टे वस्तुनि । लुक्कौस्त इति यावत् । त्रिष्वित्युभ-
यत्र सम्बध्यते । नश्यतेः क्तः । नष्टः । तिरःपूर्वाद् धाञः क्तः । 'दधाते-
हिः' (७. ४. ४२) इति धातोर्हिरादेशः । अथवा 'हि गतौ' । क्तः । तिरस्
अदर्शनं हितो गतः तिरोहितः ॥

प्रमापणं निबर्हणं निकारणं निशारणम् ।

प्रवासनं परासनं निषूदनं निर्विसनम् ॥ ११२ ॥

निर्वासनं संज्ञपनं निर्ग्रन्थनमपासनम् ।

निस्तर्हणं निहननं क्षणनं परिवर्जनम् ॥ ११३ ॥

निर्वापणं विशसनं मारणं प्रतिघातनम् ।

उदासनं प्रमथनक्रथनोज्जासनानि च ॥ ११४ ॥

आलम्भपिञ्जविशरघातोन्माथवधा अपि ।

क्षीर० — अत्राहिसार्था अप्युपसर्गवशाद्विसार्था ज्ञेयाः । अकर्म-
काश्च णिच् सकर्मकाः । प्रमापणम् । 'मीड् हिंसायाम्' । णिच् 'मीना-
तिमिनोति—' (६. १. ५०) इत्यात्वम् । निपूर्वाद् वृहेर्बर्हर्वा निबर्हणम् ।

निकारणम् । 'कृञ् हिंसायाम्' । निशारणम् । 'शृ हिंसायाम्' । प्रवसतः प्रयुक्तिः प्रवासनम् । एवं निर्वासनम् । 'असु क्षेपणे' । अस्मात् परासन-मपासनं च । 'बृद् क्षरणे' । अस्मान्निबृदनं जीवाञ्चालनम् । नितरां हिंसनं निहिंसनम् । संज्ञपनम् । ज्ञप्तेः 'मारणतोषण—' इति मित्त्वाङ्गस्वः । निर्ग्रन्थनम् । 'ग्रथि कौटिल्ये' । निस्तर्हणम् । तृहेहिंसार्थान्निष्पूर्वात् स्तृहेर्वा निपूर्वात् । क्षणनम् । 'क्षण हिंसायाम्' । निर्वापणम् । 'पै ओवै शोषणे' । विशसनम् । 'शसु हिंसायाम्' । क्रथनम् । 'क्रथ हिंसायाम्' । उज्जासनम् । 'जसु हिंसायाम्' । आकुलं लम्भनमालम्भः । लभिराङ्पूर्वो हिंसार्थः । 'उप-सर्गात् खल्वजोः' (७. १. ६७) इति नुम् । 'पिजि हिंसायाम्' । पिञ्जः । विशरणं हिंसनं विशरः । हननं वधः । 'हनश्च वधः' (३. ३. ७६) इत्यपै वधादेशश्च । पक्षे घञि घातः । 'मथ संक्लेशने' । व्यापादनं निशसनं कदनं निमुम्भनं च ॥

टीका० — प्रमापणादयस्त्रिंशद् मारणे । प्रमाणीनामेयमनुष्टुप् । 'हन्त्यर्थाश्च' इति चुरादिणिच् । 'मीनातिमिनोतिदीङां ह्यपि च' (६. १. ९०) इत्यात्वम् । 'अर्तिह्री —' (७. ३. ३६) इत्यादिना पुक् । 'णैर्विभाषा' (८. ४. ३०) इति णत्वविकल्पः । प्रमापणम् । आलम्भादिषड्वहिः सर्वत्र ह्युट् । निवर्हणमुक्तम् । 'कृञ् हिंसायाम्' । प्रमापणवणिचि निकारणवि-शारणे । 'वस स्नेहच्छेदापहरणेषु' । चुरादिणिचि प्रवासनपरासननिर्वासनोद्वा-सनानि । 'बृद् क्षरणे हिंसायां च' । 'सात्पदाद्योः' (८. ३. १११) इति षत्वप्रतिषेधः । निबृदनम् । 'बृह बृहि हिसि हिंसायाम्' । निहिंसनम् । 'मारण-तोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति मित्त्वम् । संज्ञपनम् । 'ग्रन्थ हिंसायाम्' । निर्ग्रन्थ-नम् । 'तृह हिंसायाम्' । निस्तर्हणम् । हन्तेर्निहननम् । 'क्षण हिंसायाम्' । क्षणनम् । 'वृजी वर्जने' । परिवर्जनम् । डुवपो णिचि निर्वापणम् । 'शसु हिंसा-

१. 'म्' । पिञ्जः । पिजिहिंसार्थः । 'वि' ख. पाठः. २. 'पि' ग. पाठः. ३. 'शु' क. पाठः.

याम् । विशसनम् । मृडो णिचि मारणम् । हन्तेः पूर्ववणिचि प्रतिघातनम् ।
 'मथे विलोडने' । प्रमथनम् । 'श्रथ क्रथ हिंसायाम्' । पूर्ववणिचि घटादि-
 मित्त्वे च क्रथनम् । 'जसु हिंसायाम्' । तद्वणिचि उज्जासनम् । आङ्पूर्वो लभि-
 मारणे । घञ् । 'उपसर्गात् खल्वजोः' (७. १. ६७) इति नित्यत्वाद् वृद्धिं बाधि-
 त्वा नुम् । आलम्भः । 'पिजि हिंसायाम्' । चुरादिः । एराचि पिञ्जः । शृणातेः
 ऋदोरपि विशरः । आघातवद् घातः । 'मथे विलोडने' । घञ् । उन्माथः ।
 'हनश्च वधः' (३. ३. ७६) इति हन्तेः पक्षे अप् वधादेशश्च । वधः ॥

स्यात् पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः ॥ ११५ ॥

अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम् ।

क्षीर० — देहस्तावत् पञ्चभूतारब्धः । मरणं त्वेतस्य पञ्चभावः,
 प्रत्येकं स्वांशसङ्क्रमात् । कालो मृत्युदूतः, क्षणवृत्त्यात्मको वा ।
 यदाहुः — 'कालः संहरति प्रजाः' । तस्य धर्मः कालधर्मः संहारः ।
 दिष्टस्य कालस्य जीवितावधेरन्तो दिष्टान्तः । अत्ययोऽन्तः । मरणं
 मृत्युः । द्वयोः स्त्रीपुंसयोः । निवृत्तं धनमत्र निधनम् । निपूर्वो धनिर्मरणार्थ
 इति सभ्यः ॥

टीका० — पञ्चतादशकं मरणे । पञ्चानां भूतानां पृथक्ता पञ्चता ।
 कालस्य यमस्य धर्मः, तत्प्रयुक्तत्वात् कालधर्मः । दिष्टस्य कालस्यान्तो दि-
 ष्टान्तः । प्रलय उक्तः । एतेः 'एरच्' (३. ३. ५६) । अत्ययः । 'अति अदि
 बन्धने' । अच् । अन्तः । अमेर्वा तन् । नश्यतेर्घञ् । नाशः । 'भुजिमृड्भ्यां
 युक्त्युक्तौ' (उ० ३. २१) इति त्यक् । मृत्युः द्वयोः । म्रियतेर्ल्युटि मरणम्
 निपूर्वाद् दधातेः 'कृपृवृजिमन्दिनिधाङ्भ्यः क्युः' (उ० २. ८३) । निधनम् ॥

१. 'णे।उ' ड. छ. पाठः. २. 'न्महाभू', ३. णत्वेनास्य पञ्चता । प्र'
 ४. 'युगाद्यात्म' क. पाठः. ५. 'भ्याः' ड. पाठः. ६. 'उचभू' ड. ख. पाठः. ७
 'नोऽस्त्रियाम्' क. ख. ज. पाठः.

* परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः ॥ ११६ ॥

मृतप्रमीतौ त्रिष्वेते

क्षीर० — परागता असवोऽस्य परासुः । संतिष्ठते स्म संस्थितः । सम्पूर्वस्तिष्ठतिर्मरणे वर्तते । सम्रैते वाच्यलिङ्गाः ॥

टीका० — परासुसप्तकं मृते । परागता असवोऽस्येति परासुः । प्राप्तं पञ्चत्वं पृथगात्मता येन स प्राप्तपञ्चत्वः । पराप्रपूर्वादिणः क्तः । परेतप्रेतौ । सम्पूर्वस्तिष्ठतिर्मरणे । क्तः । संस्थितः । मृडः क्तः । मृतः । 'मीड् हिंसायाम्' । प्रमीतः । परास्वादयस्त्रिषु ॥

चिता चित्या चितिः स्त्रियः ।

क्षीर० — चीयते स्म चिता । चेतव्या चित्या । 'चित्याग्निचित्ये च' (३. १. १३२) इति साधुः । चीयते चितिः । एते प्रेतदाहार्थेऽग्न्याधारे वर्तन्ते ॥

टीका० — चितात्रयं चितायाम् । चित्रो बहुलवचनाद् 'अङ्गिघृसिभ्यः क्तः' (उ०३. ८९) । टाप् । चिता । 'निष्ठा' (३. २. १०२) इति वा क्तः । 'चित्याग्निचित्ये च' (३. १. १३२) इत्यनेन निपातिता चित्या । अधिकरणे क्तिनि चितिः ॥

कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम् ॥ ११७ ॥

क्षीर० — कस्य शिरसो बन्धोऽत्र कबन्धः । केन बन्धो वा । क्रियायुक्तं नृत्यत् । अपगतो मूर्धास्य अपमूर्धं यत् कलेवरम् । कुण्डोऽपि ॥

टीका० — शिरःशून्यं सक्रियं शरीरं कबन्धः । कं शिरः बध्यतेऽस्मिन्निति कबन्धः । अधिकरणे घञ् ॥

श्मशानं स्यात् पितृवनं

क्षीर० — शवानां शयनं श्मशानम् । पृषोदरादित्वाच् शवशब्दस्य श्मादेशः शयनस्य शानं च । प्रेतवनं करवीरं च ॥

१. 'जि' क. ख. पाठः. २. 'ति अ' पाठः. ३. 'दिः । प्रे' ग. पाठः.

* इतः प्राक् 'प्रलयोऽस्त्री दीर्घनिद्रा हिंसा संस्था प्रमीलनम्' इत्यर्थमधिकं क्षीरस्वामी-
चकोशेषु दृश्यते ।

टीका० — श्मशानद्वयं श्मशाने । शवस्य शयनं श्मशानम् । पृषो-
दरादिः । तालव्यं च । 'वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्नेभ्यः' (८. ४. ४)
इति निश्चितत्वादत्र न णत्वं, पितृवनम् ॥

कुणपः शवमस्त्रियाम् ।

क्षीर० — कुणं शब्दं पाति कुणपः । धनञ्जयाख्यस्य वायोः श-
वेऽसम्भवात् । शवति यात्यस्माज्जीवः शवः ॥

टीका० — कुणपद्वयं शवे । कणेः शब्दार्थाद् दण्डकात् 'कणेः सम्प्र-
सारणं च' (उ० ३. १४३) इति कर्पन्, वकारस्य सम्प्रसारणमुकारः । कु-
णपः । 'शव गतौ' । तालव्यादिः । पचाद्यच् । शवः ॥

प्रग्रहोपग्रहौ वन्द्यां

क्षीर० — प्रगृह्यते बध्यते प्रग्रहः । वन्द्यते याच्यते वन्दी ह-
ठहता स्त्री । बलवतो हस्ते क्षिप्तो राजपुत्रादिश्च । यदाहुः — 'वन्दी
स्यात् पणबन्धस्थः' ॥

टीका० — प्रग्रहद्वयं वन्द्याम् । 'ग्रहवृद्धनिश्चिगमश्च' (३. ३. ९८) इत्य-
पि प्रग्रहोपग्रहौ । वन्देः 'इन्' (उ० ४. ११९) इति इन् । ङीप् वन्दी ॥

कारा स्याद् वन्धनालये ॥ ११८ ॥

क्षीर० — कीर्यते क्षिप्यतेऽस्यां कारा । भिदादिः । गुप्तिश्च ॥

टीका० — काराद्वयं काहरेति ख्याते । भिदादिगणसूत्रेण 'कारा वन्धने'
इत्यनेन करोतेरङुपधादीर्घत्वाभ्यां कारा निपातिता ॥

पुंसि भूमन्यसवः प्राणाश्चैवं

क्षीर० — अस्यन्तेऽसवः । स्वभावाद् बहुत्वे पुल्लिङ्गाः । प्राणि-
त्यपीभिः प्राणाः । एवंशब्दात् पुंसि भूमिन् च । 'प्राणो नाम वायुरित्ये-
कत्वमजीवार्थत्वात् ॥

टीका० — असुद्वयं प्राणेषु । 'असु क्षेपणे' । स्वरुवद् उः । असुशब्दो दन्त्यवान् । प्राणा अपि पुंसि बहुत्वे ऐति एवंशब्दार्थः । कथं तर्हि 'प्राणो नाम महान् वायुर्यदोर्ध्वमतिक्रामती'ति न्यासः । स एकत्वविवक्षायां साधुः । पञ्चानां वायूनां च यदा प्राणशब्देनाभिधानं, तदा बहुत्वमेव । अत एव एकत्वविवक्षायां —

“प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः”

इति प्रयोगः ॥

जीवोऽसुधारणम् ।

क्षीर० — जीवं प्राणधारणम् । जीवापि ॥

टीका० — प्राणधारणक्रियायां जीवद्वयम् । जीवतेः 'हलश्च' (३. १२१) इति घञ् । जीवः ॥

आयुर्जीवितकालो ना

क्षीर० — आयुर्त्यायुः । जीवनावधिः । उसन्तः क्लीबे । छन्दस्युदन्तोऽपि ॥

टीका० — आयुर्द्वयमायुषि । 'एतेर्णिच्च' (उ० २. ११८) इति उसिः । णित्वाद् वृद्धिः आयुः । जीवितकालो ना ॥

जीवातुर्जीवनौषधम् ॥ ११९ ॥

क्षीर० — जीवत्यनेन जीवातुः । जीवनौषधं जीवरक्षोपायः । यथा —

“जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्” ।

जीवितमौषधं चेत्युपाध्यायः ॥

इति क्षत्रियवर्गः ॥

टीका० — म्रियमाणसञ्जीवनौषधौ जीवातुद्वयम् । 'जीवेरातुः' (उ० १. ८२) इत्यातुः । 'जीवातुः पुनपुंसकमि'ति रभसः ॥

इति वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे क्षत्रियवर्गः ।

अथ वैश्यवर्गः ।

ऊरव्या ऊरुजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः ।

क्षीर० — ऊर्वोर्भवा ऊरव्याः । 'शरीरावयवाद् यत्' (५. १. ३) । यच्छ्रुतिः — 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' । अरणीयोऽर्यः । 'अर्यः स्वामि-
वैश्ययोः' (३. १. १०३) इति साधुः । विशोऽपत्यं जातिवैश्यः ।
'गर्गादिभ्यो यञ्' (४. १. १०५) । भूमिं स्पृशति कृष्यादिना भूमि-
स्पृक् । विशतीति विद् ॥

टीका० — ऊरव्यषट्कं वैश्ये । ब्रह्मण ऊर्वोर्भवा ऊरव्याः । 'शरीराव-
यवाद् यत्' (५. १. ६) इति यत् । 'ओर्गुणः' (६. ४. १४६) । 'वान्तो यि
प्रत्यये' (६. १. ७९) इत्यवादेशः । ऊर्वोर्जाता ऊरुजाः । 'ऋ गतौ' । 'अर्यः
स्वामिवैश्ययोः' (३. १. १०३) इति यत् । अर्यः । विश एव वैश्याः । स्वार्थे ष्यञ् ।
क्षेत्रसंस्काराय नित्यं भूमिं स्पृशन्तीति भूमिस्पृशः । विशेः क्तिप् । विद् शान्तः ॥

आजीवो जीविका वार्ता वृत्तिर्वर्तनवैतने ॥ १ ॥

क्षीर० — आजीवत्यनेनेति करणे भावे वा साधुः । जीवनं जीवि-
का । 'रोगाख्यायां —' (३. ३. १०८) इत्यत्र धातुमात्राद् भावे ण्वुल्
वक्तव्यः । कृष्यादिस्तूपचारात् । वर्तनं वृत्तिरस्त्यस्यां वार्ता । 'प्रज्ञाश्र-
द्धार्चा —' (५. २. १०१) इति णः । वर्तन्तेऽनया वृत्तिः । वेति
खादत्यनेन वैतनम् ॥

टीका० — आजीवषट्कं जीविकायाम् । 'अकर्तरि च —' (३. ३.

१. 'रो' ख. पाठः. २. 'त्' । 'ञ' पाठः. ३. 'जीवने' क. ग. घ. पाठः. ४.
'व्यः', ५. 'ति न खा' ख पाठः.

१९) इति घञि आजीवः । जीवयतीति जीविका । ण्वुल् । वृत्तिः प्राणधारणा, तद्योगात् 'प्रेक्षाश्रद्धार्चवृत्तिभ्यो णः' (५. २. १०१) । वार्ता । क्तिनि वृत्तिः । करणे ल्युट् । वर्तनजीवने ॥

स्त्रियां कृषिः पाशुपाल्यं वाणिज्यं चेति वृत्तयः ।

क्षीर० — कर्षणोत् कृषिः । 'इक् कृष्यादिभ्यः' (वा० ३. ३. १०८) । पशुपालस्य कर्म पाशुपाल्यम् । वाणिजः कर्म वाणिज्यम् । ब्राह्मणादित्वात् ण्यञ् । 'दूतवाणिभ्यां च' (५. १. १२६) इति वक्तव्याद् वाणिज्यापि वा ॥

टीका० — कृष्यादयस्त्रयः प्रत्येकं वैश्यानां वृत्तयः । 'इक् कृष्यादिभ्यः' (वा० ३. ३. १०८) इति इक् । कृषिः । पशून् गोमहिष्यादीन् पालयतीति पशुपालः । 'कर्मण्यण्' (३. २. १) । ततः कर्मणि ण्यञ् । वाणिज्येत्यपीत्यन्यः ॥

क्षीर० —

“ऋतामृताभ्यां जीवेतु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यामृताभ्यामथवा न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥”
(मनु० अ० ४. श्लो० ४)

इति ये षड् वृत्तिभेदाः, तानाह —

सेवा श्ववृत्तिः

शुन इव वृत्तिः । परपिण्डोपजीवित्वादवमेत्यर्थः ॥

टीका० — सेवाद्वयं शूद्रवृत्तौ । षेवृ सेवार्थो दण्डकः । 'गुरोश्च हलः' (३. ३. १०३) इत्यः । सेवा । सा च दैन्यादिना अतिनिकृष्टतया शुन इव वृत्तिः श्ववृत्तिरुच्यते । केवलं कृष्यादिरेव वृत्तिः । सेवा (श्च? च) वृत्तिरिति पाठे श्ववृत्तिशब्दस्यासङ्गः स्यात् । स चेप्यते । तथाच नाममाला — 'कर्षणयाचितसेवानृतमृतश्ववृत्त्याख्याः' ॥

अनृतं कृषिः

क्षीर० — न ऋतमनृतं पापिष्ठत्वात् । प्रमृतमिति तु सभ्यः पाठः ॥

टीका० — अनृतद्वयं कृष्याम् । सत्यमृतं, नञा अनृतम् ॥

उञ्छसिलं त्वृतम् ॥ २ ॥

क्षीर० — उञ्छो धान्यकणोच्चयः । सिलं धान्यमञ्जर्यार्जनम् ।
समस्तं व्यस्तं विपर्यस्तं चैतत् । ऋतधर्मत्वात् सत्यम् ॥

टीका० — उञ्छत्रयं सिञ्चोह इति ख्याते । ‘उछि उञ्छे’ । घञ् ।
उञ्छः । ‘शिल सिल उञ्छे’ । इगुपधलक्षणः कः । शिलम् ।

“छनकेदारशेषं तु शिलं सिलमिति स्मृतम् ।

उञ्छमक्षं च यच्चान्यन्निष्परिग्रहमादृतम् ॥”

इति नियमाख्यमभिधानम् ।

“प्रतिग्रहाच्छिलं श्रेयस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते”

इति । उञ्छशिलमिति समाहारद्वन्द्वः । तत्र शाल्यादिनिपतितपरित्यक्तमञ्जरी-
णामादानं शिलम् । एकैकशः कपोतवत् कणानां ग्रहणमुञ्छः । अन्ये तु
अल्पभेदादेकत्वं मन्यन्ते । तथाच प्रयोगः—

“शक्या न चेदुञ्छसिलेन वृत्तिः फलेन मूलेन च वारिणा च”

इति । सत्ये ऋतमुक्तम् ॥

द्वे याचितायाचितयोर्थथासङ्ख्यं मृतामृते ।

क्षीर० — मृतं निर्जीवमिव । अमृतम् अविनश्वरम् ॥

टीका० — यथाक्रमं याचिते मृतम्, अयाचितेऽमृतम् । द्वयं साधितम् ।
याचितं याचितलक्षणवृत्तिः । मरणसमदुःखतया मृतमित्युच्यते ॥

सत्यानृतं वाणिग्भावः

क्षीर० — किञ्चित् सत्यं किञ्चिच्चासत्यम् । अत्र मनुः—

“ऋतमुञ्छसिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।

मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेनापि खलु जीव्यते ।

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात् तां परिवर्जयेत् ॥”

(अ० ४. श्लो० ५. ६)

टीका० — सत्यानृतद्वयं वाणिज्ये । सत्यसहितमनृतं सत्यानृतम् ।

“वाणिज्यं सत्यानृतमाख्याता योषिद् वाणिज्या”

इति वोपाहितः ॥

स्यादृणं पर्युदञ्चनम् ॥ २ ॥

उद्धारः

क्षीर० — अर्यते स्म ऋणम् । ‘ऋणमाधमर्ण्ये’ (८. २. ६०)
इति साधुः । परित उदञ्चनम् उत्तमर्णादुद्धारत्वेन ग्रहणम् ॥

टीका० — ऋणादित्रयमृणे । ‘ऋणमाधमर्ण्ये’ (८. २. ६०) इति
निष्ठातो नः । अञ्चतेः कर्मणि ल्युट् । पर्युदञ्चनम् । उद्ध्रियते गृह्यत इत्यु-
द्धारः ॥

अर्थप्रयोगस्तु कुसीदं वृद्धिजीविका ।

क्षीर० — अर्थस्य प्रयोगः कलान्तरेणादानम् । कुत्सितं सीद-
न्त्यत्र कुसीदम् ॥

टीका० — अर्थप्रयोगत्रयं वृद्धिजीविकायाम् । ‘कुस श्लेषणे’ । ‘कुसे-
रूलोम्भोमे(दे)ताः कित्’ (उ० ४. १०८) इति ईदः । कुसीदं दन्त्यसमिति
काचिदुणादिवृत्तिः । वृद्ध्या जीविका वृद्धिजीविका ॥

याच्चयाप्तं याचितकं निमयादापमित्यकम् ॥ ४ ॥

क्षीर० — ‘अपमित्ययाचिताभ्यां कक्नौ’ (४. ४. २१) । मुनिस्तु—
“निमयः परिवर्तः स्यादुद्धारोऽप्यापमित्यकम्” ॥

टीका० — याच्नाप्राप्ते वस्तुनि जाइवार्था इति ख्याते याचितकम् ।
‘अपमित्ययाचिताभ्यां कक्नौ’ (४. ४. २१) इति कन् । निमयात् परिवर्तनाद-
वाप्ते वस्तुनि आपमित्यकम् । ‘मेङ् प्रणिदाने’ । अपपूर्वाद् ‘उदीचां माडो व्यती-

१. ‘ज्य वाणिज्यं स’ अ. पाठः. २. ‘र्युद’, ३. ‘र्थप्र’, ४. ‘ण दानात् । कु’
क.पाठः. ५. ‘दाः’ अ. पाठः. ६. ‘त्ता’ ड. पाठः. ७. ‘ति’ ख. पाठः.

हारे' (३. ४. १९) इति क्त्वाप्रत्ययः । क्त्वो ल्यप् । 'मयतेरिदन्यतरस्याम्' (६. ४. ७०) इति इत्त्वम् । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६. १. ७१) इति तुक् । 'अपमित्ययाचिताभ्यां ककनौ' (४. ४. २१) इति कक् । 'किति च' (७. २. ११८) इत्यादिवृद्धिः ॥

उत्तमर्णाधमर्णौ द्वौ प्रयोक्तृग्राहकौ क्रमात् ।

क्षीर० — उत्तम ऋणेन उत्तमर्णः प्रयोक्ता । अधम ऋणेन अधमर्णः ग्राहकः । 'सुप्सुपे'ति समासः ॥

टीका० — ऋणदातर्युत्तमर्णः । उपचयहेतुतया उत्तममृणमस्येति समासः । ऋणग्रहीतरि अधमर्णः । अपचयहेतुतया अधममृणमस्येति समासः ॥

कुसीदिको वार्धुषिको वृद्धयाजीवश्च वार्धुषिः ॥ ५ ॥

क्षीर० — कुसीदं शृङ्गातीति कुसीदिकः । 'कुसीददशैकादशाष्टनष्टचौ' (४. ४. ३१) । वृद्धिं गर्ह्य प्रयच्छति वार्धुषिकः । 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' (४. ४. ३०) इति ठक् वृद्धेर्वृधुषिभावश्च । लक्ष्यादिदन्तोऽपि । यन्मनुः —

“श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः” ।

(अ० ४. श्लो० २२४)

वृद्धिमाजीवति वृद्धयाजीवः । द्वैगुणिकश्च । वृद्धिर्लाभः कलान्तरम् ॥

टीका० — वृद्धयाजीविके कुसीदिकचतुष्कम् । 'कुसीददशैकादशाष्टनष्टचौ' (४. ४. ३१) इति ठन् । कुसीदिकः । 'वृद्धेर्वृधुषिभावश्च वक्तव्यः' (वा० ४. ४. ३०) इति ठक् । वार्धुषिकः । वार्धुषिरिति नैरुक्तोऽत्र ककारलोप इति टाकाकृतः ॥

क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषिकश्च कृषीवलः ।

क्षीर०—कर्षति कृषिकः । औणादिक इकः । कृषक इत्येके । कर्षति क्षमां कर्षकः । शिल्पिनि कार्षिकोऽपि । कृषिरंस्तस्य कृषीवलः । 'रजःकृष्यासुतिपर्षदो वलच्' (५. २. ११२) । 'वले' (६. ३. ११८) इति दीर्घः ॥

टीका० — क्षेत्राजीवचतुष्कं कृषके । ण्वुलि कर्षकः । 'कृषेवृद्धिश्चो-दीचाम्' (उ० २. ४०) इति कुन् वृद्धिश्च । कार्षिकः । अवृद्धिपक्षे कृषकः । 'रजःकृष्यासुतिपर्षदो वलच्' (५. २. ११२) । 'वले' (६. ३. ११८) इति दीर्घत्वम् । कृषीवलः ॥

क्षेत्रं व्रैहेयशालेयं व्रीहिशालयुद्धवोचितम् ॥ ६ ॥

क्षीर० — व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् । 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' (५. २. २) ॥

टीका० — व्रीहयो यवाद्याः, तत्क्षेत्रे व्रैहेयम् । 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' (५. २. २) । शालिभवने क्षेत्रे शालेयम् । व्रैहेयवद् ढक् ॥

यव्यं यवक्यं षष्टिक्यं यवादिभवनं हि तत् ।

क्षीर० — यवानां भवनं क्षेत्रं यव्यम् । 'यवयवकषष्टिकाद्यत्' (५. २. ३) । यवकोऽल्पयवः । 'षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' (५. १. ९०) । उपाध्यायो यवादिभवने हितमिति पाठं परिकल्प्यायस्तवान् चोद्यं करिष्यामीति, अशुद्धं पठामीति ॥

टीका० — यवादिभवने क्षेत्रे यव्यादिकम् । 'यवयवकषष्टिका-द्यत्' (५. २. ३) ॥

तिल्यतैलीनवन्माषोभाणुभङ्गाद् द्विरूपता ॥ ७ ॥

क्षीर० — तिलानां भवनं क्षेत्रं तिल्यं तैलीनम् । 'विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' (५. २. ४) इति यत्स्वञौ । एवं माषादीनां द्विरूपता ।

१. 'कः । कार्षिको' ड. पाठः. २. 'पि' ख. ड. पाठः. ३. 'त्यशुभं चोद्यं करिष्यामीत्यशुद्धं' ग. घ, 'त्यशुद्धं पाठमिति' ख. ड. पाठः. ४. 'दिति यत्' ग. पाठः.

माष्यं माषीणम् । उम्यमौमीनम् । उमा अतसी । अणव्यमाणवीनम् । भङ्ग्यं भाङ्गीनम् ॥

टीका० — तिलादिभवने क्षेत्रे तिल्यं तैलीनं च । यथा तिलक्षेत्रे तिल्यं तैलीनं च, तद्वन्माष्यं माषीणं च । उम्यमौमीनम् । अणव्यम् आणवीनम् । भङ्ग्यं भाङ्गीनम् । 'विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' (५. २. ४) इति यत् । पक्षे खञ् ॥

मौद्दीनकौद्रवीणादि शेषधान्योद्भवक्षमम् ।

क्षीर० — मुद्गानां कोद्रवाणां च भवनं क्षेत्रम् । 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (५. २. १) । आदिशब्दान्मासूरीणादि । शेषाणि व्रीह्यादिभ्योऽन्यानि । शाकक्षेत्रे द्वयं शाकशाकटं शाकशाकिनं, 'भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ वक्तव्यौ' (वा० ५. २. २९) इति वक्तव्यात् ॥

टीका० — व्रीह्यादिभङ्गान्तं यदुक्तं, तच्छेषम् । मुद्गकोद्रवादिधान्यभवने क्षेत्रे मौद्दीनकौद्रवीणादि । 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' (५. २. १) इति खञ् । आदिना कौलस्थीनादयः ॥

बीजाकृतं तृप्तकृष्टं

क्षीर० — अवीजं सवीजं सम्पन्नं बीजाकृतम् । 'कृजो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ' (५. ४. ५८) इति डाच् । आदावुप्तं पश्चात् कृष्टं क्षेत्रमुप्तकृष्टम् । 'पूर्वकाल —' (२. १. ४९) इति समासः ॥

टीका० — पूर्वमुप्तं पश्चात् कृष्टं यत् क्षेत्रं, तत्र बीजाकृतद्वयम् । 'कृजो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ' (५. ४. ५८) इति डाच् । बीजाकृतम् ॥

सीत्यं कृष्टं च हल्यवत् ॥ ८ ॥

क्षीर० — सीतया हललैखया समितं सङ्गतं सीत्यम् । 'नौवयो-धर्म —' (४. ४. ९१) इति सीतया समिते यत् । हलेन कृष्टं हल्यम् । 'मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु' (४. ४. ९७) इति यत् ॥

टीका० — सीत्यत्रयं कृष्टभूमौ । 'नौवयोधर्मविषमूलमूलसीता —' (४. ४. ९१) इत्यादिना यत् । सीत्यम् । कृषेः क्तः । कृष्टम् । 'मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु' (४. ४. ९७) इति यत् । हल्यम् ॥

त्रिगुणाकृतं तृतीयाकृतं त्रिहल्यं त्रिसीत्यमपि तस्मिन् ।

क्षीर० — त्रिगुणं कृष्टं क्षेत्रं त्रिगुणाकृतम् । ‘सङ्ख्यायाश्च गुणान्तायाः’ (५. ४. ५९) इति डाच् । त्रिहल्यं त्रिसीत्यमपि प्राग्वत् । ‘नौवयोधर्म —’ (४. ४. ९१) इत्यादिना ‘मतजन —’ (४. ४. ९७) इत्यादिना च यत् । रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ तदन्तविधिः ॥

टीका० — वारत्रयं कृष्टे त्रिगुणाकृतचतुष्कम् । आर्येयम् । ‘सङ्ख्यायाश्च गुणान्तायाः’ (५. ४. ५९) इति डाच् । त्रिगुणाकृतम् । बीजाकृतवत् तृतीयाकृतम् । ‘रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ तदन्तविधिरिष्यत’ इति वचनाद् हल्यवत् त्रिहल्यत्रिसीत्ये ॥

द्विगुणाकृते तु सर्वं पूर्वं शम्बाकृतमपीह ॥ ९ ॥

क्षीर० — सर्वं पूर्वं डाच् यच्च । द्वितीयाकृतं द्विहल्यं द्विसीत्यम् । शम्बाकृतं हि संम्याक् कृष्टा तिर्यक् कृष्टमाहुः ॥

टीका० — द्विगुणाकृते वारद्वयं कृष्टे सर्वं समानम् । तद्यथा — द्विगुणाकृतं द्वितीयाकृतं द्विहल्यं द्विसीत्यम् । अतिरिक्तं च शम्बाकृतमपीह । शम्बारिमिति यत्र प्रसिद्धिः । एवमत्र पञ्च नामानि । शम्बाकृतं दन्त्यादि ॥

द्रोणाढकादिवापादौ द्रौणिकाढकिकादयः ।

क्षीर० — द्रोणस्य वापः क्षेत्रं द्रौणिकम् । उप्यते अस्मिन्निति वापः । ‘तस्य वापः’ (५. १. ४५) इति ठक् । आदिशब्दात् प्रस्थादिभ्यः ‘सम्भवत्यवहरति पचति’ (५. १. ५२) इति प्रास्थिकादयः ॥

टीका० — उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम् । यथाक्रमं द्रोणस्य वापे क्षेत्रे द्रौणिकः, आढकस्य वापे आढकिकः । ‘तस्य वापः’ (५. १. ४५) इति ठक् । आदिना प्रास्थिकादि ॥

खारीवापस्तु खारीकः

क्षीर० — 'खार्या ईकन्' (५. १. ३३) ॥

टीका० — खारीवापे क्षेत्रे खारीको दीर्घमध्यः । 'खार्या ईकन्' (५. १. ३३) इति ईकन् ॥

उत्तमर्णादयस्त्रिषु ॥ १० ॥

क्षीर० — वाच्यलिङ्गत्वात् ॥

टीका० — उत्तमर्णादयः खारीकान्तास्त्रिषु ॥

पुन्नपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्

क्षीर० — उप्यतेऽस्मिन् वप्रम् । के जले दार्यते केदारः । क्षीयते धान्यैरुष्यतेऽत्र, हलैर्हिस्यते वा क्षेत्रम् । 'क्षि निवासे', 'क्षीप् हिंसायां' वा ॥

टीका० — वप्रत्रयं क्षेत्रे । वप्र उक्तः । के जले दरणमस्येति केदारः । क्षेः घृन् । क्षेत्रम् ॥

अस्य तु ।

कैदारकं स्यात् कैदार्यं क्षेत्रं कैदारिकं गणे ॥ ११ ॥

क्षीर० — अस्य क्षेत्रस्य समूहार्थे एते स्युः । 'केदाराद्यञ्च' (४. २. ४०) इति यञ् वुञ् च । 'ठञ् क्वचिनश्च' (४. २. ४१) इति ठञ् । क्षेत्राद् 'अचित्तहस्ति —' (४. २. ४७) इति ठकि प्राप्ते भिक्षादित्वादण् ॥

टीका० — क्षेत्रस्य समूहे कैदारकचतुष्कम् । 'केदाराद्यञ्च' (४. २. ४०) इति यञ् । चकाराद् वुञ् । कैदारककैदार्ये । 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४. २. ३८) । क्षेत्रम् । केदारानुवृत्तौ 'ठञ् क्वचिनश्च' (४. २. ४१) इति ठञि कैदारिकम् ॥

लोष्ठानि लोष्ठवः पुंसि

क्षीर० — लुप्यते लुपति वा लोष्टम् । लोष्टश्च मृत्खण्डः ॥

टीका० — मृत्तिकाखण्डे लोष्टद्वयम् । 'लोष्टपलितौ' (उ० ३. ९२) इत्यनेन लज्जः कृष्णगुणा निपात्यन्ते । 'लिश अल्पीभावे' । तुप्रत्ययेन लेष्टुरिति चान्द्राः । 'लेष्टुः खण्डेऽपि लोष्टः स्याद्' इति पुंस्काण्डे वोपालितः ॥

कोटिशो लोष्टभेदनः ।

क्षीर० — कोटिभिः कोणैः श्यति भिनत्ति कोटिशः ॥

टीका० — कोटिशद्वयं कोडणा इति ख्याते । कोटिरग्रभागः, तद्योगाल् लोमादिशः । 'लोष्टन्नः कोटीश' इति रत्नकोशे दीर्घमध्यः ॥

प्राजनं तोदनं तोत्रं

क्षीर० — प्राज्यते प्रेर्यतेऽनेन प्राजनम् । 'वा यौ' (२. ४. ५७) इति पक्षे अजेर्धातोर्वी । प्रवयणं च । तुद्यतेऽनेन तोत्रम् । प्रेषणं च ॥

टीका० — प्राजनत्रयं पाणाटीति ख्यातायाम् । अजेर्ल्युट् । प्राजनम् । वीभावपक्षे प्रवयणं चेति वृत्तिः । तुदेर्ल्युट् घ्नौ तोदनतोत्रे ॥

खनित्रमवदारणम् ॥ १२ ॥

क्षीर० — खन्यतेऽनेन खनित्रं कुदालादि ॥

टीका० — खनित्रद्वयं खनित्रे । अरित्रवत् खनेः खनित्रम् ॥

दात्रं लवित्रम्

क्षीर० — द्याति लुनाति चानेन । 'दाम्नी —' (३. २. १८२) इति घ्नन् । 'अर्तिलूधूसूखन —' (३. २. १८४) इत्यादिना इत्रः ॥

टीका० — दात्रद्वयं दात्रे । 'दाप् लवने' । घ्नन् । दात्रम् । अरित्रवल्लूजा लवित्रम् ॥

आबन्धो योत्रं योक्रम्

क्षीर० — आबध्यते यूयते युज्यते चानेनेति । चर्मरज्जुः ॥

टीका० — आबन्धत्रयं योत्रे । करणे घञा आबन्धः । यौतेर्युजेश्च
ष्टन् । योत्रयोक्ते ॥

अथो हलम् ।

क्षीर० — इतो हलप्रकरणमारब्धमित्यर्थः । अतो हलमित्येके
पठन्ति ॥

निरीषे कुटकं

निष्क्रान्ता ईषा अस्मानिरीषम् । कुटति कुटकं, यस्मिन् फालो
बध्यते ॥

फालः कृषकः

फलति विशीर्यते भूमिरनेनेति फालः । कृषति क्षमां कृषकः ।
'ध्वुन् शिल्पिसंज्ञयोः—' (उ० २. ३५) । हलादयः पञ्चैकार्था इत्येके ।
कृषिकः फलं च ॥

टीका० — फलपञ्चकं हले । 'फलं लभे फलेऽस्त्राङ्गे..... व्युष्टौ हेतु-
समुत्थे स्यादिति पवर्गादावजयः । फलशब्द उक्तः । ईषाया निर्गतं निरीषम् ।
कुट एव कुटकः साधितः । 'जिफला विशरणे' । णिजन्तादच् । फालः । 'वृश्चिकृषोः
किकन्' (उ० २. ४२) इति किकन् । कृषिकः । कचित् कृषक इत्यपि
पाठः ।

“उदित्रं योक्रमाबन्धः फालः कृषक उच्यते ।

ईषा लाङ्गलदण्डस्तु निरीषं कुटकं हलम् ॥”

इति वृष्काः । केचित्तु इहापि ऊष्मादि पठित्वा हलादित्रयं लाङ्गलमुण्डके,
फालद्वयं फाले वर्णयन्ति ॥

१. 'के' अ. पाठः. २. 'पि वा पा' ख. पाठः. ३. 'ठः । केचित्तु उ' वः पाठः.
'म्' इति वृष्काः । इ' ग. घ., 'म्' इति भागुरिः भृषकाः इ' अ. पाठः.

लाङ्गलं हलम् ॥ १३ ॥

गोदारणं च सीरः

क्षीर० — लङ्गति लाङ्गलम् । हलति विलिखति हलम् । गौर्भूदा-
र्यतेऽनेनेति गोदारणम् । सीर्यते बध्यते सीरः ॥

टीका० — लाङ्गलचतुष्कं लाङ्गले । 'हल विलेखने' । पचाद्यच् । गां
भूमिं दारयतीति गोदारणम् । नन्नादि । 'बिज् बन्धने' । 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च'
(उ० २. २७) इति क्रन् । सीरम् ॥

अथ शम्या स्त्री युगकीलकः ।

क्षीर० — शाम्यति शम्या ॥

टीका० — शम्याद्वयं युगकीले शामिल इति ख्याते । शाम्यतेर-
धन्यादियत् । शम्या ॥

ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात्

क्षीर० — ईषति ईषा । 'ईष उञ्छे' ॥

टीका० — ईषाद्वयदीर्घे । 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु'† । 'गुणेश्च हलः' (३. ३.
१०३) इत्यः । ईषा दीर्घादिर्मूर्धन्यषा ।

“प्रभुशङ्करयोरीशः स्त्रियां लाङ्गलदण्डके”
इति तालव्यान्ते रभसः ॥

सीता लाङ्गलपद्धतिः ॥ १४ ॥

क्षीर० — स्यति भुवं सीता हललेखा ॥

टीका० — सीताद्वयं लाङ्गलरेखायाम् ।

“सीता लाङ्गलरेखा स्याद् व्योमगङ्गा च जानकी”
इति दन्त्यादौ रभसः ।

१. 'द' क. ख. ग. पाठः.

† 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' इति मुद्रितधातुपाठः ।

“शीता नभस्सरिति लाङ्गलपद्धतौ च
 शीता दशाननरिपोः सहधर्मिणी च ।
 शीतं स्मृतं हिमगुणे च तदन्विते च
 शीतोऽलसे च बहुवारतरौ च दृष्टः ॥”

इति तालव्यादौ धरणिः ॥

पुंसि मेथिः खलेदारु न्यस्तं यत् पशुबन्धने ।

क्षीर० — मीयते क्षिप्यते मेथिः । मेध्यते सङ्गच्छतेऽस्मिन् वा ।
 खलेवाली च । खलं तु खलधानकम् । खलेदार्विति ‘हलदन्तात्—’
 (६. ३. ९) इत्यलुक् । पशुबन्धने पशुबन्धननिमित्तम् ॥

टीका० — खले धान्यमर्दनस्थाने पशुबन्धनार्थं मध्ये निहिते
 दारुणि मेथिः । ‘मेधु सङ्गमे च’ । ‘इन्’ (उ० ४. ११९) इति इन् ॥

आशुव्रीहिः पाटलः स्यात्

क्षीर० — अश्यते अश्नुते वा आशुः । शीघ्रपाको वा । यद्
 भुयः — ‘आश्वाख्या शालिश्रीघ्रयोः’ । व्रीणाति व्रीहिः षष्टिकादिधान्य-
 विशेषः । ‘व्री हरणे’ । यतः,

“व्रीहिर्यवो मसूरो गोधूमो मुद्गमाषतिलचणकाः ।

अणवः प्रियङ्गुकोद्रवपयुष्टकाः शालिकाढक्यः ।

किञ्च कलायकुलस्थौ शणश्च सप्तदश धान्यानि” ॥

टीका० — आशुत्रयम् आशुधान्ये । शब्दत्रयं साधितम् । ‘पादलोडी-
 मिराशु च’ इति तन्त्रान्तरम् ॥

शितशूकयवौ समौ ॥ १५ ॥

क्षीर० — शितस्तीक्ष्णः शूकः किंशारस्य शितशूकः । यूयते यवः ॥

टीका० — शितशूकद्वयं यवे । यौतेरच् । यवः ॥

तोकमस्तु तत्र हरिते

क्षीर० — तत्र नीले यवे । तुज्यते तोकमः । 'तुजि हिंसायाम्' ॥

टीका० — हरिते अपके यवे तोकमः ॥

कलायस्तु सतीनकः ।

हरेणुखण्डिकौ चास्मिन्

क्षीर० — कलामतिसारम् अयते कलायः । कं लाति वा । सीदन्त्यनेन सतीनकः । सातीनैकोऽपि । ह्रियते हरेणुः । खण्ड्यते खण्डिकः ॥

टीका० — कलायचतुष्कं कलाये । कं वातं लातीति कलायः । कृजः करेणुवद् हरेणुः । खण्डयोगात् खण्डिकः । 'पृखण्डिभ्यां ठन्' ।

“कलायस्त्रिपुटः प्रोक्तः सतीनो वर्तुलो मतः ।

हरेणुरङ्कटा ज्ञेया”

इति व्याडिः ॥

कोरदूषस्तु कोद्रवः ॥ १६ ॥

क्षीर० — कोरं भक्तं दूषयति कोरदूषः, कदन्नत्वात् । केनाम्भसा उद्यते क्लियते कोद्रवः । उद्दालकोऽपि ॥

टीका० — कोरदूषद्वयं कोद्रवे । कोरं रुधिरं दूषयतीति कोरदूषः ॥

मङ्गल्यको मसूरः

क्षीर० — 'मसी परिणामे' ॥

१. 'जिहि', २. 'थेः ॥' ग. पाठः. ३. 'नेऽपि' ख. पाठः. ४. 'मा' ग. च. ड. पाठः.

टीका० — मङ्गल्यकद्वयं भस्मरे । 'मसेश्व' (उ० १. ४६) इति उरन् ।
मसुरो ह्रस्वमध्य इति प्रथमपादीयोगाद्दिट्ठिः । ततो 'मसेरुरन्' (उ० ५. ३)
इत्यनेन तत्पञ्चमपादीयेन दीर्घमध्योऽपि साधितः । 'भस्मरो मसुरश्चापी'ति
द्विरूपकोशः ॥

अथ मकुष्ठकमयुष्टकौ ।

वनमुद्गे

क्षीर० — मङ्गयतेऽनेन मकुष्ठकः ॥

टीका० — मकुष्ठकत्रयमृषियुद्गे काठाइडा इति ख्याते । मयुष्टके
द्वितीयोऽन्तःस्थः ॥

सर्षपे तु द्वौ तुन्तुभकदम्बकौ ॥ १७ ॥

क्षीर० — सरति सर्षपः । तुदति तुन्तुभः । कुत्सितमश्वते कदम्बकः ॥

टीका० — सर्षपत्रयं सर्षपे । 'सर्तेरपः पुक् च' (उ० ३. १४१)
इत्यपः पुगागमश्च धातोः । सर्षपो दन्त्यादिमूर्धन्यमध्यः ।

“सर्षपः स्यात् सरिषपः कटुस्नेहश्च तुन्तुभः”

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

सिद्धार्थस्त्वेष धवलः

क्षीर० — सिद्धप्रयोजनो रक्षोघ्नत्वात् । श्वेतसर्षपः ॥

टीका० — सितसर्षपे सिद्धार्थः ॥

गोधूमः सुमनः समौ ।

क्षीर० — गुध्यति परिवेष्टयति गोधूमः, गां धुनोति वा । सुष्टु म-
न्यते सुमनोऽकारान्तः ॥

टीका० — गोधूमद्वयं गोधूमे । 'गुध परिवेष्टने' । 'गुधेरूमः' (उ०
५. २) इति ऊमः । सुमनोऽदन्तः ॥

स्याद् यावकस्तु कुलमासः

क्षीर० — यूयतेऽम्भसा यावकः । कौलति कुलेन मस्यति परिण-
मते वा कुलमासः, अर्धस्विन्नो यवादिः । धान्यविशेष इत्येके ॥

टीका० — यावकद्वयं मापपत्रायतपत्रे राजभाषे । कुलस्थे इत्यन्ये । यव-
को बोखधान्यमिति रक्षितः । कुलं मस्यतीति कुलमासः । 'मस परिणामे' । 'कर्म-
ण्यण्' (३. २. १) । पृषोदरादित्वान् कुलशब्दाकारलोपः । एवं धातुपारायणे
दन्त्यसः । कुत्सितो माषः कुलमाषः । पृषोदरादिरित्यन्यः ।

“कुलमाषं काञ्चिके क्लीवं यवके तु पुमानसौ”

इति मूर्धन्ये रुद्रः ॥

चणको हरिमन्थकः ॥ १८ ॥

क्षीर० — चणते दीर्यते चणकः । हरिभिर्मथ्यते हरिमन्थकः ॥

टीका० — चणकद्वयं चणके । 'चन च, नोच्यते' इत्यस्माद् धातोरौणा-
दिककुना धातुप्रदीपादौ चनकः साधितः । चणकस्तु चिन्त्यः । हरिमन्थके
स्वार्थिकः कः ॥

झौ तिले तिलपेजश्च तिलपिञ्जश्च निष्फले ।

क्षीर० — 'तिलान्निष्फलात् पिञ्जपेजौ वक्तव्यौ' (वा० ४. २. ३६) ।
'जर्तिलः स्याद् वनतिलः' ॥

टीका० — निष्फले तिले तिलपेजद्वयम् । 'तिलान्निष्फलात् पिञ्जपेजौ
वक्तव्यौ' (वा० ४. २. ३६) इति पिञ्जपेजौ ॥

क्षवः क्षुताभिजननो राजिका कृष्णिकासुरी ॥ १९ ॥

क्षीर० — क्षौत्यनेन क्षवः । क्षुतमभिजनयति क्षुताभिजननः । कृ-

ष्णसर्षपोऽयं राजसर्षपाख्यः । राजते राजिका । कृष्णा वर्णेन, कर्षति
विलिखति वा कृष्णिका । अस्यते असुरस्त्रीव वा आसुरी ॥

टीका० — क्षवपञ्चकं राजिकायाम् । क्षुवतेरपि क्षवः । क्षुधामभिजनय-
तीति क्षुधाभिजननः । नन्वादिः । ‘असुरी राजिकायां स्याद्’ इति रभसः ॥

स्त्रियौ कङ्कुप्रियङ्गू द्वे

क्षीर० — कुत्सितं कृत्वा अङ्गयते कङ्कुः । कङ्कुः कुङ्कुश्चेत्येके ।
प्रीणाति प्रियङ्गुः ॥

टीका० — कङ्कुद्वयं कामण इति ख्यातायाम् । कङ्कुः कङ्कुश्चेति द्वि-
रूपकोशः ॥

अतसी स्यादुमा क्षुमा ।

क्षीर० — न तस्यते अतसी । अवते उमा । ‘उङ् शब्दे’ । क्षौत्य-
नया भुक्तया क्षुमा ॥

टीका० — अतसीत्रयमिनीति ख्यातायाम् । ‘अत सातत्यगमने’ ।
‘अत्यमिचमि —’ (उ० ३. ११७) इत्यादिना असच् । गौरादिः ॥

मातुलानी तु भङ्गायां

क्षीर० — न तोल्यते मातुलानी । भङ्गयते भङ्गा । शणोऽपि ॥

टीका० — मातुलानीद्वयं कश्मीरेषु भङ्गा इति ख्यातायाम् । एत-
त्फलं कलायपरिमाणम् । द्वयं साधितम् ॥

व्रीहिभेदस्त्वणुः पुमान् ॥ २० ॥

क्षीर० — अणुरल्पकणत्वात् । अणाति पर्दत्यनेनेति वा । तुवरी
त्वरके । वल्लो निष्पावे । श्यामः श्यामाके च ॥

टीका० — कङ्कतो मनागुपचितो ब्रीहिविशेषोऽणुशब्देनैव केदारा-
दिदेशे ख्यातोऽर्णुः । अणोर्धातोः 'धान्ये निट्' (उ० १. ९) इति उः ॥

किंशारुः सस्यशूकं स्यात्

क्षीर० — कुत्सितं शृणाति किंशारुः । श्यति शूकम् ॥

टीका० — किंशारुद्वयं सस्यशूके । 'किंजरयोः श्रिणः' (उ० १. ४)
इत्युण् ॥

कणिशं सस्यमञ्जरी ।

क्षीर० — कणाः सन्त्यस्य कणिशम् । धान्यैयवादि शिलं,
सिलं च ॥

टीका० — अभिनवधान्यादिशीर्षे कणिशद्वयम् । कणिशं ताल-
व्यशम् ॥

धान्यं ब्रीहिः स्तम्बकरिः

क्षीर० — धन्यतेऽर्धते धान्यम् । स्तम्बं करोति स्तम्बकरिः ।
'स्तम्बशकृतोरिन्' (३. २. २४) । सीत्यं च ।

“कुसूलो बलकः कोष्ठागारं धान्यादिकोष्ठकः” ॥

टीका० — धान्यैत्रयं धान्ये । 'दधातेर्यङ् नुट् च' (उ० ५. ४८) इति
यक् नुडागमश्च प्रत्ययस्य । धान्यम् । स्तम्बं गुत्सं करोतीति स्तम्बकरिः ।
'स्तम्बशकृतोरिन्' (३. ३. २४) ॥

स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः ॥ २१ ॥

क्षीर० — तृणादेर्यः स्तम्बो नालं स गुच्छतेऽनेन गुच्छः । यं
प्रति स्तम्बोऽप्रसिद्धः, तं प्रत्यन्यथा विध्यनुवादौ कार्यौ । एवं सर्वत्रो-
न्नेयम् ॥

१. 'णुः । क्किन्नेत्यन्यः । अ' ग. पाठः. २. 'न्य' क. ग. पाठः. ३. 'स्य',
४. 'लः सवकः', ५. 'कम्' ख. पाठः, 'त' ग. पाठः. ६. 'न्यादित्र' क. ग. पाठः,
७. 'योज्यौ ।' ख. पाठः.

टीका० — तृणस्य गुत्से स्तम्बः । आदिना धान्यस्य । द्वयं साधितम् ।

“हस्तन्यूनाधिकं यस्य प्रमाणं न ततः परम् ।

नाभिमात्रश्च विस्तारो गुत्सः स इति कथ्यते ॥

पत्राणि येषामाकाशे सारं भूमौ तु वर्तते ।

तेऽपि गुत्सा इति प्रोक्ता यथा स्युर्मूलकादयः ॥

एकस्मादेव मूलात् लतापुञ्जाद् विनिर्गतः ।

एकोऽपिच प्ररोहैस्तु बहुभिः स्तम्ब उच्यते ॥”

इति निगमाख्यमभिधानम् ॥

नाडी नालं च काण्डोऽस्य

क्षीर० — अस्य गुच्छस्य यः कण्डन्यनेनेति काण्डः, सा नडति नाडी । ‘णल गन्धे’ ॥

टीका० — अस्य तृणादिनः काण्डे नाडीद्वयं, साधितम् ॥

पलालोऽस्त्री स निष्फलः ।

क्षीर० — स काण्डः । पलति पलालः ॥

टीका० — स एव तृणादिकाण्डो भृहीतधान्यः पलालाख्यः ॥

कडङ्गरो वुसं ह्लीवे

क्षीर० — कडत्थावृणोति कड् अङ्गं रूपमस्य कडङ्गरः । वुस्यते उत्सृज्यते वुसं तृणादिक्षोदः ॥

टीका० — कडङ्गरद्वयं पातानत इति ख्याते । ‘वुस उत्सर्ग’ । ‘इगु-पधज्ञाप्रीकिरः कः’ (३. १. १३५) । वुसो दन्त्यस इति धातुप्रदीपः । ‘वुषवेषतु-षारकाषा’ इति मूर्धन्यषभेदः ॥

धान्यत्वाच्च पुमांस्तुषः ॥ २२ ॥

क्षीर० — तुष्यत्यनेनाग्रिस्तुषः ॥

टीका० — धान्यत्वाच्च तुषः । ‘तुष तुष्टौ’ । इगुपधलक्षणः कः ॥

शूकोऽस्त्री श्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे

क्षीर० — इयति शूकम् । श्लक्ष्णं च तीक्ष्णाग्रं च तत् । सस्यादेर-
न्यत्र वृश्चिकादिकण्टकोऽपि शूक इति किंशारोः पृथङ्निर्देशः । शूक-
धान्यशमीधान्यभेदार्थं वा पुनरुक्तम् । धान्यतीक्ष्णाग्र इत्येके ॥

टीका० — सामान्येन श्लक्ष्णे मूक्ष्मे तीक्ष्णाग्रे शूकः । 'शूको-
ऽनुग्रहशुक्रयोरिति तालव्यादावजयः ॥

शमी शिम्बा

क्षीर० — शाम्यत्यस्यां शमी । शिनोति शिम्बा । शिम्बि-
रित्यपि ॥

टीका० — शमीद्वयं शिम्बडिकायाम् । शमी उक्तः ॥

त्रिष्टुप्त्वे ।

क्षीर० — रिद्धाद्याश्चत्वारो वाच्यलिङ्गाः ॥

टीका० — ऋद्धादयो बहुलीकृतान्तास्त्रिषु ॥

रिद्धमावसितं धान्यं

क्षीर० — रिद्धं सिद्धं राधेः । ऋद्धं सुसम्पन्नम् इत्येके, ऋधेर्वा ।
आवसितं रक्षार्थमाच्छादितम् । 'वस आच्छादने' । आ अवसितं
निष्पन्नमित्येके ॥

टीका० — ऋद्धे सम्पन्ने आवसितम् । आङ्गवपूर्वात् 'पो अन्तकर्मणि'
इत्यस्मात् क्तः । (न स्योत तत् स्थितमवकीर्णे श्रुतम्?) । ऋद्धमावसितमिति नाम-
मालायां दीर्घादिः ।

“अवसानं गते ज्ञाते ऋद्धेऽप्यवसितं त्रिषु”

१. 'विः शिविरि', २. 'चि' ख. पाठः. ३. 'न्य स रि', ४. 'रि' क. पाठः.
५. 'वसि' क. ख. पाठः. ६. 'न्द्' ख., 'न्दु' ग. पाठः.

इति ह्रस्वादौ रभसः ॥

पूतं तु बहुलीकृतम् ॥ २३ ॥

क्षीर० — पूयते स्म पूतं निर्मुसीकृतम् । बहु लाति बहुलं सारम् । मार्जनीशोधनमित्येके ॥

टीका० — पूतद्वयं बहुलीकृतधान्ये । पूतमुक्तम् ॥

माषादयः शमीधान्ये

क्षीर० — वर्तन्त इति शेषः । आदिशब्दान्मुद्गमसूरादयः ॥

टीका० — शमीसहिते धान्ये शमीधान्यम् ।

“मुद्गो माषो राजमाषः कुलस्थश्चणकस्तिलः ।

काकाण्डश्चरवश्चेति शमीधान्यगणः स्मृतः ॥”

इति रत्नकोषः ॥

शूकधान्ये यवादयः ।

क्षीर० — आदिशब्दाद् गोधूमादयः ॥

टीका० — शूकसहिते धान्ये शूकधान्यम् । ते यवगोधूमादयः ॥

शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी ॥ २४ ॥

क्षीर० — शालयते शालिः । कलयते कलमः । आदिशब्दाद् राजशाल्याद्याः जलजाः । ‘षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते’ (५. १. ९०) । आदिशब्दात् कटर्जाद्याः स्थलजाः । अमी इति पुल्लिङ्गनिर्देशान्माषाद्याः शाल्यन्ताः पुंसि ॥

टीका० — कलमाद्याः शूकधान्यविशेषाः शालिशब्दवाच्याः । प्रथमेनादिना रक्तशाल्यादेर्ग्रहणम् । द्वितीयेन कलनादिभ्योऽपकृष्टानां ग्रहणम् । अपकृषादेव षष्टिकस्य पृथक्करणम् । ‘शाट्टु श्लाघायाम्’ । ‘इन्’ (उ० ४. ११९)

१. ‘म्’ ओतः श्विः । मा’ ग. पाठः. २. ‘लुथश्च’ ठ. पाठः. ३. ‘दयः ज’ ख. पाठः.

४. ‘ला’ ख. पाठः.

इति इन् । लत्वम् । शालिः । 'षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते' (९. १. ९०)

इति कन्नन्तो निपातितः षष्टिकः । माषयवशालिषष्टिकाः पुंसि ॥

तृणधान्यानि नीवाराः

क्षीर० — नियतैर्व्रियन्ते नीवाराः, मुन्यन्नत्वात् । 'नौ वृ धान्ये' ।
(३. ३. ४८) इति घञ् । बहुवचनाच्छयाभाकादप्येऽपि ॥

टीका० — नीवारादयस्तृणधान्यानीत्युच्यन्ते । आदिना श्यानाकादि-
ग्रहणम् । 'नौ वृ धान्ये' (३. ३. ४८) इति घञ् । नीवारः ओडिति ख्यातः ॥

स्त्री गवेधुर्गवेधुका ।

क्षीर० — गवे अम्भसि धीयते । गवेधुर्नाम मुन्यन्नम् । गवे-
धुरित्येके ॥

टीका० — गवेधुद्वयं गवेधुक इति ख्याते । धुणुञ्जीति चास्याः प्रसि-
द्धिः । पुंसि च । 'गवेधु(र्न ? ना) गवेधुक' इति स्तनकोषः ॥

अयोग्रं मुसलोऽस्त्री स्याद्

क्षीर० — अयोऽग्रेऽस्य अयोग्रम् । अयोदिरित्येके षेठुः । मुस्यते
खण्ड्यतेऽनेनेति मुसलम् ॥

टीका० — अयोग्रद्वयं मुसले । अयो लोहोऽग्रे मुखेऽस्येति अयोग्रम् ।
मुसलिनि मुसलो व्युत्पादितः । मूर्धन्योऽपि दृश्यत इति वर्णदेशना ॥

उडूखलमुखलम् ॥ २५ ॥

क्षीर० — ऊर्ध्वं खं लाति । उडूणोद्वलवत् पृषोदरादित्वादुभयम् ।

टीका० — उडूखलद्वयमुखलम् । ऊर्ध्वं खमस्येत्युडूखलम् । पृषोदरादि-
त्वादूर्ध्वस्य उडूभावः, खस्य च खलः । एवमयं टवर्गतृतीयवान् । अतो
डलयोरैक्याद् उडूखलमित्यपि । तस्मात् तवर्गतृतीयोऽपपाठः ॥

१. 'ते त्रि' ड. पाठः. २. 'दी' ग. पाठः. ३. ४. 'धु' क. पाठः. ५. 'मु' । अख. ग.
पाठः. ६. 'जि' क., 'न्दि' ख. पाठः. ७. 'तः । मुषलइत्यपि ॥' ठ. पाठः. ८. 'ध्वं खं ला'
ख. क. पाठः. ९. 'द्वयम्' क. पाठः. १०. 'त' पदे उडूखलपाठो युज्यते । त' ज. पाठः.

प्रस्फोटनं शूर्पमल्ली

क्षीर० — प्रस्फोट्यते असारं बहिः क्रियतेऽनेनेति प्रस्फोटनम् । शीयते शीर्यते वानेन शूर्पम् । 'शूर्प माने' वा ॥

टीका० — प्रस्फोटनद्वयं कुल्लके । स्फुटतेत्युट् । 'श्यः सम्प्रसारण-
मूश्च' इति वर्तमाने 'सुशृभ्यां निच्' (उ० ३. २६) इति प्रत्ययः, ऊकारश्चान्ता-
देशः । शूर्पम् ॥

चालनी तितउः पुमान् ।

क्षीर० — चाल्यतेऽनेन । चालनमिति काल्यः ।

“क्षुद्रच्छिद्रसमोपेतं चालनं तितउ स्मृतम्” ।

तनोति सारं तितउः । 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' (उ० ५. ५२) । परि-
(वनः पव)नं च ॥

टीका० — चालनी । 'चालनं तितउ प्रोक्तम्' इति तु रत्नकोषः । अतः
पुमानिति मतान्तरमाश्रित्योक्तम् । अपपाठ इति केचित् । 'तनोतेर्डउः सन्वच्च'
(उ० ५. ५२) इति डउप्रत्ययः सन्वद्वावश्च । डउ इति विसन्धिनिर्देशात् संहि-
ताया अभावः । अन्यथा लाघवाद् डोरित्येव ब्रूयात् । तितउः ॥

स्यूतप्रसेवौ

क्षीर० — समानावित्येव । सीव्यते स्म स्यूतः । वस्त्राद्यावपनम् ।
प्रसीव्यते प्रसेवः ॥

टीका० — स्योनद्वयं धौतच्छटे । सीव्यत इति स्योनः । 'सिवु तन्तु-
सन्ताने' । बहुलवचनान्नः । ऊट् गुणश्च । स्योनः । स्यूत इति पाठे क्तः ।
'स्योनस्यूतप्रसेवका' इति रभसः । कर्मणि घञ् । प्रसेवः ॥

कण्डोलपिटौ

क्षीर० — कण्ड्यते कण्डोलः । पठ्यते पिटः वंशदलादिमयं भा-
ण्डम् । पिटकोऽपि ॥

टीका० — कण्डोलद्वयं कण्डोलके । 'कडि रक्षणे' । § 'कविकलिकण्डि-
गडिगण्डिकटिपटिम्य ओलच्' (उ० १. ६९) । कण्डोलः । 'पिट शब्दे' । इगु-
पधलक्षणः कः । पिटः ॥

कटकिलिञ्जकौ ॥ २६ ॥

समानौ

क्षीर० — कटत्यावृणोति कटः । किल्यते क्षिप्यतेऽस्मिन् किलि-
ञ्जकः । वीरणनडादिमयं कुणोलारुख्यम् ॥

टीका० — येन मरावो बध्यते, तत्र कटद्वयम् । गजावयवे कट
उक्तः ॥

रसवत्यां तु पाकस्थानमहानसे ।

क्षीर० — रस आस्वादोऽस्त्यस्यां रसवती । महदनोऽस्य महा-
नसम् । अनसा उपकरणं लक्ष्यते । 'अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः'
(५. ४. ९४) इति समासान्तष्ट्चत्त्ययः ॥

टीका० — रसवतीत्रयं महानसे । रसः संस्क्रियमाणोऽस्यामस्तीति
मनुपि रसवती । महच्चानश्चेति महानसम् । 'सन्महत्—' (२. १. ६१) इत्यादिना
कर्मधारयः । 'अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः' (५. ४. ९४) इति समासा-
न्तोऽच् ॥

पौरोगवस्तदध्यक्षः

क्षीर० — पुरो गौर्मांसं जलं वास्याः पुरोगुः, तस्या रसवत्या
अयं पौरोगवः ॥

टीका० — रसवत्यध्यक्षे पौरोगवः ॥

सूपकारास्तु वल्लवाः ॥ २७ ॥

१. 'ति टच्' क., 'समासान्तोऽच्' ख. पाठः. २. 'रसनगृहे । र' ज. पाठः.
३. 'गोमत् स्थलं' क. ग., 'गोमान् स्थल' ख. घ. पाठः.

§ 'कपिगडि.....' इति मुद्रितोणादिपाठः ।

क्षीर० — सूपं कुर्वन्तीत्युपलक्षणं मांसपाकादेः । वल्लिः सौत्रः प्रीत्यर्थः ॥

आरालिका आन्धसिकाः सूदा औदनिका गुणाः ।

क्षीर० — अरालम् अन्ध ओदनं च पण्यमेषाम् । सूदयन्ति तण्डुलान् सूदाः । गुणयन्ति गुणाः । रक्तकराश्च ॥

टीका० — सूपकारसप्तकं सूपकारे । सूपं व्यञ्जनं करोतीति सूपकारः । कर्मण्यण् । वर्णोऽधिकारः । तद्योगाद् वर्णवः । वप्रकरणे ‘अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति वक्तव्यम्’ (वा० १. २. १०९) इति वः । अरालं कुटिलं चरतीत्यारालिकः । अन्धो भक्तं तत्साधनं शिल्पमस्येति आन्धसिकः । ‘शिल्पम्’ (४. ४. ५५) इति ठक् । एवमौदनिकः । ‘सूद क्षरणे’ । दन्त्यादिः । पचादिः । सूदः । गुण उक्तः ॥

आपूपिकः कान्दविको भक्ष्यकारः

क्षीर० — अपूपाः कन्दुश्च पण्यमस्य । ‘इसुसुक्तान्तात् कः’ (७. ३. ५१) इति कान्दुक इति न्याय्यम् । खरविशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यम् ॥

टीका० — छन्दवारेति ख्याते आपूपिकत्रयम् । ‘तदस्य पण्यम्’ (४. ४. ५१) इति ठक् आपूपिकः । कन्दुः स्वेदनी, तत्र संस्कृतपिष्टादिकमप्युपचारात् कन्दुः, स पण्यमस्येति कान्दविकः । भक्षं करोतीति भक्ष्यकारः । भक्षशब्दो यकारान्त इति प्रमादपाठः ॥

इमे त्रिषु ॥ २८ ॥

क्षीर० — पौरोगेवाद्या वाच्यलिङ्गाः ॥

टीका० — पौरोगेवाद्या भक्ष्यकारान्तास्त्रिषु ॥

अश्मन्तमुद्गानमधिश्रयणी चुल्लिरान्तिका ।

क्षीर० — अश्नुतेऽश्मन्तम् । उद्धन्यतेऽत्रोद्धानम् । अधिश्रीयते-
ऽनया अधिश्रयणी । 'श्रीञ् पाके' । 'अन्त्यधिश्रयणी भवेदि'ति माला ॥

टीका० — अश्मन्तपञ्चकं चुल्लयाम् । अश्मनोऽप्यन्तमत्रेति अश्मन्त-
कम् । शकन्धवादिरिति गोवर्धनः । उत्पूर्वाद्धाजो ल्युट् । उद्धानम् । 'ध्मा शब्दा-
भिसंयोगयोरिति उद्धमानमिति कश्चित् । 'श्रीञ् पाके' । अध्यादिः । ल्युट् । अधि-
श्रयणी । 'चुल्ल भावकरणे' । 'इन्' (उ० ४. ११९) इति इन् । चुलिः । पक्षे
ङीष् । समीपे अन्तिक उक्तः । ततश्चाप् ॥

अङ्गारधानिकाङ्गारशकट्यपि हसन्त्यपि ॥ २९ ॥

हसन्त्यपि

क्षीर० — अङ्गारा धीयन्ते अस्याम् अङ्गारधानी । मग्नाग्निः । हस-
त्यङ्गारैर्हसन्ती, हसन्त्यपि ॥

टीका० — अङ्गारधानिकौचतुष्कम् अङ्गारशकटिकायाम् । माङ्ग-
लिका माङ्गलशकटिकेति यामाहुः । स्वेदायाङ्गारो धीयतेऽस्यामिति अङ्गा-
रधानी । ल्युट् । स्वार्थे कः । हसन्ती शत्रन्ता । ल्युटि हसनी ॥

अथ न स्त्री स्यादङ्गारः

क्षीर० — अङ्गचते अङ्गारः । लिङ्गार्थं विधिः ॥

अलातमुल्मुकम् ।

क्षीर० — अलन्ति वारयन्ति एतदलातम् । न लान्ति वा । उल्कां
मुञ्चत्युल्मुकम् अर्धदग्धं काष्ठम् । उलति वा । उलिः सौत्रः ॥

टीका० — ईषदग्धकाष्ठादिखण्डे साग्नौ निरग्नौ चाङ्गारत्रयम् ।
'अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते' इति साग्नौ प्रयोगः । 'कलङ्कस्तत्रत्यो व्रजति
मलिनाङ्गारतुलनामि'ति तु निरग्नौ प्रयोगः । 'अगि रगि लगि गत्यर्थाः' । मन्दार-

१. 'नी च ।' ख. पाठः. २. 'कादिच' ग. पाठः. ३. 'ज्ञा' झ. पाठः. ४, ५.
'ति' क. पाठः. ६. 'म् । उल्कां' ख. पाठः. ७. 'अ' ग. पाठः.

वदारन् । अङ्गारः । 'उच्च समवाये' । 'उल्लुमुकदर्विहोमि—' (उ० ३. ८४) इति मुकप्रत्ययो गुणाभावो लत्वं च चकारस्य निपात्यते ॥

क्रीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो वा

क्षीर० — अम्बयतेऽर्धयतेऽम्बरीषम् । भृज्ज्यतेऽस्मिन् भ्राष्ट्रः । अस्यम्बरीषमित्येके पठन्ति ॥

टीका० — यत्र कलायचणकादिकं भृज्ज्यवे, तत्राम्बरीषद्वयम् । 'भ्रस्जो पाके' । 'अम्बरीषः' (उ० ४. २७) इत्यनेन ईषन् अम्बर इत्ययं चादेशः । 'भ्राष्ट्रोऽम्बरीष उक्त' इति पुंस्काण्डे वोपालितः । 'भ्रस्जगामिहनिनमिवि*शां वृद्धि-श्च' (उ० ४. १११) इति घृन् वृद्धिश्च । भ्राष्ट्रम् ॥

कन्दुर्ना स्वेदनी स्त्रियाम् ॥ ३० ॥

क्षीर० — वेत्येव । विकल्पेन कन्दुर्ना पुमान् । पक्षे स्त्री । कन्दत्येनां कन्दुः । स्वेदयति स्वेदनी ॥

टीका० — अथोमुखीकृत(क ? घ) टर्कपालप्राये लोहादिमये पाकपात्रे कन्दुद्वयम् । 'स्कन्देः सलोपश्च' (उ० १. १४) इति कुः । कन्दुः । ल्युटि स्वेदनी ॥

अलञ्जरः स्यान्मणिकः

क्षीर० — अलं जीर्यत्यलञ्जरः महाकुम्भः । मणत्यम्भसा ध्रिय-माणो मणिकः ॥

टीका० — अलञ्जरद्वयं जाडीति ख्याते । मणिरेव मणिकः । स्वार्थिकोऽत्र कः ॥

१. 'मृ' ख. ग. ड. च. पाठः. २. 'कप्रा', ३. 'जी' ख., 'जला । म' ग. पाठः. ४. 'मि' ख. पाठः. ५. 'भालञ्चूर' ड. च. उ. पाठः. ६. 'धी' ख. ग. पाठः.

* 'विश्वशाम्' इति मुद्रितोणादिपाठः ।

कर्कर्याल्लर्गलन्तिका ।

क्षीर० — किरत्यम्बु कर्करी । आलोत्याल्लः । 'अड उद्यमने' । अ-
स्मादाल्लर्वा । गलत्यम्भोऽस्या गलन्तिको ॥

टीका० — कर्करीत्रयं भावाडिआ इति ख्याते । 'ऋ गतौ' । 'त्रो रश्च
लः' (उ० १. ९) इति बाहुलकाद् जुणलत्वे । आलुः । 'गड सेचने' । 'ह्वसी'-
त्यादिना झच् । स च षि(त्वा?)त् । डीप् । गलन्तिका ॥

पिठरः स्थाल्युखा कुण्डं

क्षीर० — पिठति पिठरः पिठरी च । 'पिठ अवयवे' । पिठेरमिति
सभ्याः । तिष्ठत्यस्यां स्थाली । स्थालं कुम्भी च । (उ०ओ)खत्युखा ।
कु(ड्य?ण्ड्य)ते पच्यतेऽस्मिन्निति कुण्डं कुण्डी च ॥

टीका० — पिठरचतुष्कं भाण्डीति ख्यातायाम् । पचतेः 'पचिव-
चिभ्यामिच्चोपधायाः' इत्यरः ठश्चान्तादेशः । पिठरः । 'स्थाचतिमृजे-
रालज्वालजालीयरः' (उ० १. १२१) इति आलः । स्थाली । 'उख णखे'-
त्यादौ इगुपधलक्षणः कः । उखा । कुण्ड उक्तः ॥

कलशस्तु त्रिषु द्वयोः ॥ ३१ ॥

घटः कुटनिपौ

क्षीर० — कं लाति कलयति वा कलशः । घटते घटः । कुटति
कौत्यम्भसा वा कुटः । निपिवन्त्यस्मान्निपः ॥

टीका० — कलशचतुष्कं कलशे । 'सकलशे कलशे वनमालिके'ति क-
प्फिणाभ्युदये यमकम् । 'सुक्षेत्रमिव सकलशालिकं स्नानागारमि'त्याश्चर्यमञ्जरी च ।
'कलशः कलसोऽपि च' इति तु रभसः । घटेरचि घटः । स्त्रियां घटी । कुटेः
कः । कुटः । निपिवन्त्यनेनेति निपः । 'घञर्थे कविधानम्' (वा० ३. ३. ९८)
इति कः ॥

१. 'अ' क. ख. पाठः. २. 'ल' क. ग. ड. पाठः. ३. 'दाङ्पूर्वा', ग., 'दाङ्
पूर्वा' ड. पाठः. ४. 'का । चालयतीत्यर्थः । पि' क. ग. ड. पाठः. ५. 'भाडि' ड. छ.
पाठः. ६. 'न्त्य' ख. ड. पाठः. ७. 'स्या' ग. पाठः.

अस्त्री शरावो वर्धमानकः ।

क्षीर० — शीर्यमाणमवति शरावः । वर्धते मृत्पिण्डाद् वर्धयते छिद्यते वा चक्राद् वर्धमानकः । शालाजिरोऽपि ॥

टीका० — शरावद्वयं शरावे । 'शृणातेराव' इत्यावः । शरावैः । 'अस्त्री सराव' इति तु विदग्धाः । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३. २. १२९) । स्वार्थे कन् । वर्धमानकः ॥

ऋचीकं पिष्टपचनं

क्षीर० — अर्च्यते पाकोत्कर्षादृचीकम् । ऋजीषमिति तान्त्रिकाः । 'ऋज भृजि भर्जने' । पिष्टकृतं भक्ष्यं पच्यतेऽस्मिन् पिष्टपचनम् ॥

टीका० — तेलावणीति स्वातायाम् ऋजीषद्वयम् । 'अर्ज षर्ज अर्जने' । 'अर्जेः किद् ऋज च' (उ० ४. २८) इति ईषन् ऋजादेशश्च धातोः । ऋजीषम् । मूर्धन्यषम् ॥

कंसोऽस्त्री पानभाजनम् ॥ ३२ ॥

क्षीर० — काम्यतेऽस्मात् कंसः । चषको मल्लिका पारी च ॥

टीका० — कंसद्वयं पानभाजने । रजतमयादावपि । 'कमेः सः' इति सः । कंसः ॥

कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं

क्षीर० — कुत्सितं तन्यते कुतूः । कृत्तेश्चर्मणः ॥

टीका० — कृत्तेश्चर्मणः स्नेहपात्रे कुडुआ इति ख्याते कुतूः । सैवेति निर्देशात् स्त्रियाम् ॥

सैवाल्पा कुतुपः पुमान् ।

क्षीर० — ह्रस्वा कुतूः कुतुपः । 'कुत्वा डुपच्' (५. ३. ८९) ॥

१. 'जी' ग. पाठः. २. 'को' ख. पाठः. ३. 'वः । शरावोऽस्त्री निरसरावरणे' क. च. छ., 'वः रावेणे' ख. ग. ट. पाठः. ४. 'काः । ऋषीकमित्येके । ऋ' ख. पाठः. ५. 'जेर्क-जश्च इ' क. ख. पाठः.

टीका० — अल्पा कुतूः कुतुपः । ‘कुत्वा डुपच्’ (१. ३. ८९)
इति कुतूशब्दाद् डुपच् ॥

सर्वमावपनं भाण्डं पात्रामत्रे च भाजनम् ॥ ३३ ॥

क्षीर० — आ उप्यते आधेयमस्मिन्नावपनम् । भण्डत्याधेयं भाण्डम् ।
‘भडि परिभाषणे’ । पात्र्याधेयं पीयतेऽस्माद्वा पात्रम् । अमत्याधेयमत्रामत्रम् ।
भज्यतेऽस्मिन्नावधेयं भाजनम् । भाण्डावपने पृथगाहुः । यन्मुनिः —

“उष्ट्रिकादि तु यद् भाण्डं सर्वमावपनं विदुः” ॥

टीका० — सर्वमावपनं वस्तुस्थापकं गोणीप्रसेवेकादिका कलशस्थाख्या-
दिकश्च भाण्डादिचतुष्कवाच्याः । आङ्पूर्वो वपिन्यासैने । ‘भडि परिभाषणे’ ।
पचाद्यच् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घः । भाण्डम् । पातेः घृन् । पात्रम् । अमत्रं ह्रस्वादि ।
भजेर्ण्यन्ताल् ल्युट् । भाजनम् ॥

दर्वी कम्बिः खजाका च

क्षीर० — दृणाति पाक्यं दर्वी । काम्यते कम्बिः । खजति मश्राति
खजाका ॥

टीका० — दर्वित्रयं दर्वीति ख्यातायाम् । ‘दृ विदारणे’ । ‘वृद्ध्यां विन्’
(उ० ४. ५४) । दर्विः । ‘उलमुकदर्विहोमिनः’ (उ० ३. ८४) इत्यनेन वा विप्र-
त्ययान्ता दर्विर्निपात्यते । कम्बेर्बाहुलकाद् विन् । कम्बिः । ‘खज मन्थे’ । ‘खजेराकः’
(उ० ४. १३) इत्याकः । टाप् । खजाका ॥

स्यात्तन्दूर्दारुहस्तकः ।

क्षीर० — ततं दूनोति खण्डयति तन्दूः, तनोति वी । तण्डू-
रिति सभ्यः पाठः । दारुमयी हस्तप्रतिकृतिः दारुहस्तकः । दर्वीभे-
दोऽयम् ॥

१. ‘त्रं’ ड. पाठः. २. ‘त्यते आधे’ ख. पाठः. ३. ‘दिमयं भा’ ग. पाठः.
४. ‘वका क’ ख. ड. ज., ‘बादिककरक’ ठ. पाठः. ५. ‘सि ।’ क. पाठः. ६. ‘दर्व्याम्’
ठ. पाठः, ‘दर्वीति’ ख. पाठः. ७. ‘दृवीभ्यां’ ख. ट. पाठः. ८. ‘बा । दा’ ग. पाठः.

अस्त्री शरावो वर्धमानकः ।

क्षीर० — शीर्यमाणमवति शरावः । वर्धते मृत्पिण्डाद् वर्धते छि-
द्यते वा चक्राद् वर्धमानकः । शालाजिरोऽपि ॥

टीका० — शरावद्वयं शरावे । 'शृणतेराव' इत्यावः । शरावैः ।
'अस्त्री सराव' इति तु विदग्धाः । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्'
(१. २. १२९) । स्वार्थे कन् । वर्धमानकः ॥

ऋचीकं पिष्टपचनं

क्षीर० — अर्च्यते पाकोत्कर्षादृचीकम् । ऋजीषमिति तान्त्रिकाः ।
'ऋज भृज भर्जने' । पिष्टकृतं भक्ष्यं पच्यतेऽस्मिन् पिष्टपचनम् ॥

टीका० — तेलावणीति स्वातायाम् ऋजीषद्वयम् । 'अर्ज पर्ज अर्जने' ।
'अर्जेः किद् ऋज च' (उ० ४. २८) इति ईषन् ऋजादेशश्च धातोः । ऋजीषम् ।
मूर्धन्यषम् ॥

कंसोऽस्त्री पानभाजनम् ॥ ३२ ॥

क्षीर० — काम्यतेऽस्मात् कंसः । चषको मल्लिका पारी च ॥

टीका० — कंसद्वयं पानभाजने । रजतमयादावपि । 'कमेः सः' इति सः ।
कंसः ॥

कुतूः कृत्तेः स्नेहपात्रं

क्षीर० — कुत्सितं तन्यते कुतूः । कृत्तेश्चर्मणः ॥

टीका० — कृत्तेश्चर्मणः स्नेहपात्रे कुडुआ इति ख्याते कुतूः । सैवेति
निर्देशात् स्त्रियाम् ॥

सैवाल्पा कुतुपः पुमान् ।

क्षीर० — ह्रस्वा कुतूः कुतुपः । 'कुत्वा डुपच्' (५. ३. ८९) ॥

१. 'जी' ग. पाठः. २. 'को' ख. पाठः. ३. 'वः' । शरावोऽस्त्री निरसरावरणेइ' क.
च. छ., 'वः रावेणेइ' ख. ग. ट. पाठः. ४. 'काः' । ऋषीकमित्येके । ऋ' ख. पाठः. ५. 'जेर्क-
जश्च इ' क. ख. पाठः.

टीका० — अल्पा कुतूः कुतुपः । 'कुत्वा डुपच्' (१. ३. ८९)
इति कुतूशब्दाद् डुपच् ॥

सर्वमावपनं भाण्डं पात्रामत्रै च भाजनम् ॥ ३३ ॥

क्षीर० — आ उप्यते आधेयमस्मिन्नावपनम् । भण्डत्वाधेयं भाण्डम् ।
'भडि परिभाषणे' । पात्र्याधेयं पीयतेऽस्माद्वा पात्रम् । अमत्याधेयमत्रामत्रम् ।
भज्यतेऽस्मिन्नावपनं भाजनम् । भाण्डावपने पृथगाहुः । यन्मुनिः —

“उष्ट्रिकादि तु यद् भाण्डं सर्वमावपनं विदुः” ॥

टीका० — सर्वमावपनं वस्तुस्थापकं गोणीप्रसेर्वकादिका कलशस्थाल्या-
दिकश्च भाण्डादिचतुष्कवाच्याः । आङ्पूर्वो वपिन्यासिने । 'भडि परिभाषणे' ।
पचाद्यच् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घः । भाण्डम् । पातेः घृन् । पात्रम् । अमत्रं ह्रस्वादि ।
भजेर्ण्यन्ताल् ल्युट् । भाजनम् ॥

दर्वी कम्बिः खजाका च

क्षीर० — दृणाति पाक्यं दर्वी । काम्यते कम्बिः । खजति मश्राति
खजाका ॥

टीका० — दर्वित्रयं दर्वीति ख्यातायाम् । 'दृ विदारणे' । 'द्विद्व्यां विन्'
(उ० ४. ५४) । दर्विः । 'उल्मुकदर्विहोमिनः' (उ० ३. ८४) इत्यनेन वा विप्र-
त्ययान्ता दर्विर्निपात्यते । कमेर्बाहुलकाद् विन् । कम्बिः । 'खज मन्थे' । 'खजेराकः'
(उ० ४. १३) इत्याकः । टाप् । खजाका ॥

स्यात्तन्दूदरुहस्तकः ।

क्षीर० — ततं दूनोति खण्डयति तन्दूः, तनोति र्वा । तण्डू-
रिति सभ्यः पाठः । दारुमयी हस्तप्रतिकृतिः दारुहस्तकः । दर्वीभे-
दोऽयम् ॥

१. 'त्रं' ड. पाठः. २. 'त्यते आधे' ख. पाठः. ३. 'दिमयं भा' ग. पाठः.
४. 'वका क' ख. ड. अ., 'बादिककर' ठ. पाठः. ५. 'सि ।' क. पाठः. ६. 'द्व्याम्'
ठ. पाठः, 'दावीति' ख. पाठः. ७. 'द्विद्व्यां' ख. ट. पाठः. ८. 'बा । दा' ग. पाठः.

टीका० — तर्द्धद्वयं परिवेषणोपयुक्तायाम् । ‘*त्रो डुक् च’ (उ० १. ९२) इति ऊः धातोर्ङुगागमश्च । तर्द्धः स्त्रियाम् । दारुणो हस्त इव दारुहस्तकः । ‘इवे प्रतिकृतौ’ (५. ३. ९६) इति कन् ॥

अस्त्री शाकं हरितकं शिशुः

क्षीर० — श्यति देहं, शक्यतेऽनेन भोक्तुं वा शाकम् । हरितकं नीलत्वात् । शिनोति शिशुः व्यर्थे, शौभाञ्जनं हरितकविशेषश्चेति ॥

टीका० — शाकत्रयं शाके । शाकशिशुशब्दावुक्तौ । हरितात् स्वार्थे कन् । हरितकम् ॥

अस्य तु नाडिका ॥ ३४ ॥

कदम्बश्च कलम्बश्च

क्षीर० — अस्य शाकस्य नाडी । कदति के लम्बति वा कदम्बः । शाकविशेषे इत्येके । प्राकृते ङस्य ङत्वात् कडम्ब इत्याहुः । कलम्बो वा ॥

टीका० — शाकनालिकायां कडम्बद्वयम् । नाला उक्ता । कनि नालिका । कडेर्बाहुलकः अम्बच् । कडम्बकलम्बौ ॥

वेषवार उपस्करः ।

क्षीर० — वेषं व्याप्तिं वृणीते वेषवारः । कासमर्दसुरसादिः । येन मांसाद्युपस्क्रियतेऽसौ उपस्करः । ‘समवाये च’ (६. १. १३८) इति सुट् ॥

टीका० — वेषवारद्वयं सर्पपादौ हिङ्गुजीरकाम्लवेतसादौ च । वर्णदेशनायां तु दन्त्यो वेषवारः । उपस्करोति व्यञ्जनमिति उपस्करः । पचादिः ॥

तद्भेदानाह—

तिन्तुण्डिकं च चुक्कं च वृक्षाम्लम्

१. ‘सौभञ्जनं हरितवि’, २. ‘लि’, ३. ‘ली’ ख. पाठः. ४. ‘ङस्य सत्त्वा’ ग. पाठः. ५. ‘माहुः’ ख. पाठः. ६. ‘ते स उप’, ७. ‘त्रि’ क. ख. पाठः.

* ‘त्रो डुक् च’ इति मुद्रितोणादिपाठः ।

क्षीर० — तिन्तृडीशैलजं तिन्तृडीकम् । चुक्रम् । 'चुक्र व्यथने' ।
वृक्षस्याम्लमम्लवेतसमाहुः ॥

टीका० — महाद इति ख्याते तिन्तृडीकद्वयम् । 'चक्र वृत्तौ' । 'चकि-
रम्योरुचोपधायाः' (उ० २. १६) इति रक् । चुक्रम् ॥

अथ वेल्लजम् ॥ ३५ ॥

मरिचं कोलकं कृष्णमूषणं धर्मपत्तनम् ।

क्षीर० — वेले वेलातटे जायते वेल्लजम् । वेलाख्यः शाखीत्येके ।
म्रियते मरिचम् । सौक्ष्म्यात् कोलकम् । 'कुल बाल्ये' । कृष्णं वर्णेन, कर्षति
तैक्ष्ण्याद्वा । ऊषति रुजत्यूषणम् । धर्मपत्तने भवं धर्मपत्तनम् । आह च —

“मरिचं वलितं श्यामं वेल्लजं कृष्णमूषणम् ।
यवनेष्टं शरं वृन्तं कोलकं धर्मपत्तनम्” ॥

टीका० — वेल्लजषट्कं मरिचे ।

“मरीचं कोलकं धर्मपत्तनं मरिचं समम्”

इति रभसः । कृष्णमुक्तम् । उषणं दीर्घादि चास्ति ॥

जीरको जरणोऽजाजिः कणा

क्षीर० — जीर्यतेऽनेनान्नं जीरको जरणश्च । अजं स्वाभाविकं
मन्दाग्नित्वमजति अजाजिः, स्त्री । कणाः सन्त्यस्यां कणा । अर्शआदित्वा-
दच् ॥

टीका० — जीरकचतुष्कं जीरके । 'स्यजाजिर्जीरणोऽजाजी' इति
वोपालितः । कणा उक्ता ॥

कृष्णे तु जीरके ॥ ३६ ॥

सुषवी कारवी पृथ्वी पृथुः कालोपकुञ्चिका ।

क्षीर० — कृष्णा तु पिप्पलीत्येके पेटुः । सुष्टु सुवति प्रेरयति दोषान्

१., २. 'न्नि' क. ख. पाठः. ३. 'म्' 'न्नि', ४. 'न। ऊ', ख. पाठः. ५.
भ्योऽच्' ड. पाठः.

सुषवी । कारोरियं कारवी । काला वर्णेन । उपकुञ्चयत्यल्पीकरोति
दोषान् उपकुञ्चिका । आह च —

“उत्कुञ्चिकोपकुञ्ची च कालिका चोपकालिका ।

सुषवी कुञ्चिका कुञ्ची पृथ्वीका कृष्णजीरकः” ॥

टीका० — कृष्णजीरके सुषवीषट्कम् । सुषवी तालव्यमध्या ।
अपरं साधितम् ॥

आर्द्रकं शृङ्गिवेरं स्याद्

क्षीर० — आर्द्रात् ‘संज्ञायां कन्’ (५. ३. ७५) । शृङ्गोपलक्षितं
वेरं देहोऽस्य शृङ्गिवेरम् । आह च —

“महौषधं शृङ्गिवेरं कटुभद्रं तथार्द्रकम्” ॥

टीका० — आर्द्रकद्वयमार्द्रके । आर्द्रायां नक्षत्रे जातमार्द्रकम् । कनि
‘केऽणः’ (७. ४. १३) इति ह्रस्वत्वम् । शृङ्गमिव वेरं वपुरस्येति शृङ्गिवेरम् ॥

अथच्छत्रा वितुन्नकम् ॥ ३७ ॥

क्षीर० — छत्राभा छत्रा, छादयति दोषान् वा । वितुदति
मन्दाग्नित्वं वितुन्नकम् ॥

कुस्तुम्बुरु च धान्याकम्

कुत्सितं तुम्बति कुस्तुम्बुरु । ‘तुवि लुवि अर्दने’ । पार-
स्करादित्वात् सुट् । धान्यमकति धान्याकम् । अलुका धान्यकं च ॥

टीका० — छत्राचतुष्कं धान्याके । छत्रा उक्ता । विपूर्वात् तुदेः क्तः ।
स्वार्थे कन् । वितुन्नकम् । कुत्सितं तुम्बुरु कुस्तुम्बुरु । ‘कुस्तुम्बुरुणि जातिः’ (६.
१. १४३) इति सुट् निपात्यते । धान्यात् स्वार्थे कनि धान्याकम् । धान्यकमपीति
हङुचन्द्रः ॥

१. ‘वी । बृहत्कारणात् का’ क, ‘वीत्करणात् का’ ग. पाठः. २. ‘त्राभपत्रा’
छादयति दोषान् वा छत्रा । ‘वि’ ग. ङ. पाठः. ३. ‘मित्वाद् वि’ ख. पाठः. ४. ‘श्यामाके’
ग. पाठः.

अथ शुण्ठी महौषधम् ।

स्त्रीनपुंसकयोर्विश्वं नागरं विश्वभेषजम् ॥ ३८ ॥

क्षीर० — शुण्ठति शुष्यति शुण्ठी । नगराख्ये देशे भवं नागरम् ।
विश्वभेषजम् अनेकदोषजित् । विश्वं विश्वा च, भीमवत् ॥

टीका० — शुण्ठापञ्चकं शुण्ठ्याम् । 'शुठि शोषणे' । पचादिगौरादी ।
स्त्रीनपुंसकयोर्विश्वम् । देवभेदे पुमानुक्तः ॥

आरनालकसौवीरकुलमाषाभिषुतानि तु ।

अवन्तिसोमधान्याम्लकुञ्जलानि च काञ्चिकम् ॥ ३९ ॥

क्षीर० — अरनालो भक्तं, तज्जमारनालम् । सुवीरेषु प्रायभवं सौ-
वीरम् । 'षुब् अभिषवे', अस्माद्वा पृथक् कुलमाषाख्या नास्ति । अस्ति चेद्
भीमवत् स्यात् । कुलमाषैर्यवादिभिरर्थस्विन्नैरभिषूयते परिवास्यते स्म कुलमा-
षाभिषुतम् । अवन्तिषु सूयते अवन्तिसोमम् । कुञ्जं लाति, तथा कुत्सि-
तं जलमस्त्यस्य वा कुञ्जलम् । काञ्चयति दीपयत्यग्निं काञ्चिकं, बध्नाति
दोषान् वा काञ्च्यां पुरि भवं वा । आह च —

“काञ्चिकं काञ्चिकं वीरं कुन्माषाभिषुतं तथा ।

अवन्तिसोमं धान्याम्लमारनालं महारसम् ॥

सौवीरकं सुवीराम्लं तथा कुक्रं तुषोदकम्” ॥

टीका० — आरनालाष्टकं काञ्चिके । सौवीरं दन्त्यसम् । यवके कुलमाष
उक्तः । दन्त्योऽपि कुलमासः । स च यवविकारवाचीति वर्णदेशना । अभिषुतं
मूर्धन्यषम् । अवन्तिसोमेतिच्छेदः । केन जलेन अञ्जिका अभिव्यक्तिरस्येति
काञ्चिकम् ॥

सहस्रवेधि जतुकं बालिहकं हिङ्गु रामठम् ।

क्षीर० — सहस्रं बहु विध्यति सहस्रवेधि । जायते जतुकम् । बालिह-
करामठौ उदग्देशौ । हिनोति हिङ्गु । अत्युग्रं भूतनाशनं गूढगन्धं च ॥

१. 'म्' शुष्यति शुण्ठी शती । न', २. 'दि' । गौरादिः । स्त्री' ग. पाठः. ३. 'पु-
जोऽभिषवार्थाद्वा' क. पाठः. ४. लातीति कु' ख. पाठः. ५. 'मि' बध्नाति दोषान् वा का-
ञ्चिकम् । का' ग. ङ. पाठः. ६. 'धि' बा' ख. पाठः.

टीका० — सहस्रवेधिपञ्चकं हिङ्गुनि । ताच्छीलिकणिनौ सहस्रवेधी । जतुकं चवर्गादि प्रागुक्तम् । बालहीकोऽप्युक्तः । न स्त्री हिङ्गुरित्यन्यतन्त्रम् । रमठ-देशे भवो रामठः ॥

तत्पत्री कारवी पृथ्वी बाष्पिका कवरी पृथुः ॥ ४० ॥

क्षीर० — तस्य हिङ्गोः पत्री । कारोरियं कारवी संस्कर्त्री । बाष्पं स्रवति बाष्पिका । कवर्याकृतिः कवरी । करवीति पाठभेदः ॥

टीका० — हिङ्गुतरूप्यां कारवीपञ्चकम् ॥

निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी ।

क्षीर० — निशाख्या रात्रिपर्याया, नानार्थे रजनीत्वात् । काञ्चनवर्णा काञ्चनी । हरिं पीतं वर्णं द्राति हरिद्रा । वरो वर्णोऽस्त्यस्या वरवर्णिनी । आह च—

“हरिद्रा पीतिका पिण्डा रजनी रजना निशा ।

गौरी वर्णवती पीता हरिता वरवर्णिनी” ॥

टीका० — निशाह्वापञ्चकं हरिद्रायाम् । निशाह्वा रात्रिपर्यायाभिधाना । ‘कचि दीप्तौ’ । ल्युट् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घत्वम् । काञ्चनी । पीत उक्तः । टापि पीता । वरः श्रेष्ठो वर्णः पीतः । तद्योगाद् वरवर्णिनी ॥

सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीवं वशिरं च तत् ॥ ४१ ॥

क्षीर० — लुनाति जाड्यं लवणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युः, णत्वं च । अक्ष्णोति व्याप्नोति अक्षीवम् । उश्यते वशिरम् । ‘वश कान्तौ’ ॥

टीका० — समुद्रवेलाभवे कडकश्चेति ख्याते लवणे अक्षीवद्वयम् । अक्षीवं ह्रस्वादि ॥

सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं माणिमन्थं च सिन्धुजे ।

क्षीर० — सिन्धुनद्युपलक्षितं सैन्धवम् । तत्र भवः । ‘कच्छादिभ्यश्च’ (४. २. १३३) इत्यण् । शीतं शिनोति शीतशिवम्, उष्णवीर्यत्वात् । आह च—

“मणिमन्थं च सिन्धूत्थं नादेयं सिन्धुजं शिवम् ।

शुद्धं शीतशिवं च ॥”

अन्यदेव वस्तकम् ॥

१. ‘ल्वि’ ग. पाठः. २. ‘रितं पी’, ३. ‘त’ ख. पाठः. ४. ‘दिदी’, ५. ‘दिल्युः’ ग. पाठः. ६. ‘तु। वल्लं तु रौमके। सि’ ड. पाठः.

टीका० — सिन्धुदेशभवे लवणे सैन्धवत्रयम् । शैलवदणि सैन्धवः, अस्त्री । सितं शुभ्रं शुभं कल्याणमिति कर्मधारयः । मणिमन्थपर्वते भवो माणिमन्थः ॥

रौमके वस्नकं

क्षीर० — रुमायामाकरे भवं वस्नकं नाम लवणम् । 'रौमके वसुकं वस्वि'ति च माला ॥

टीका० — लुमा नाम समहरिदेशे लवणाकरः, तत्र प्राविष्टं दार्वपि चिरालवणं स्यात् । तद्भवे लवणे रौमकद्वयम् ॥

पाक्यं विडं च कृतके द्वयम् ॥ ४२ ॥

क्षीर० — पाके साधु पाक्यं पक्तव्यं वा कलुराख्यम् । विडति भिनत्ति मलान् विडम् । कृतकलवणस्य द्वे नामनी । पाक्यविडलवणयोर्भेदेऽपि कृतकत्वादौक्यम् । व्यर्थे पाक्यं, विडलवणं यवक्षारः क्षारश्चेति ॥

टीका० — लवणमृत्तिकां सिक्त्वा निष्पादिते लवणे पाक्यम् । पचतेर्ण्यत् ॥

सौवर्चलेऽक्षुरुचके

क्षीर० — सुवर्चलाकरभवं सौवर्चलं, सुवर्चस्येदं सौवर्चम् अग्निदीपनं लाति वा । 'वर्च दीप्तौ' । अच् । अक्ष्णोति व्याप्नोत्यर्हं । अक्षमित्येके । रोचतेऽनेन रुचकम् । हृद्यगन्धं च ॥

टीका० — सौवर्चलत्रयं सौवर्चले । अक्षद्वयं साधितम् ॥

तिलकं तत्र मेचके ।

क्षीर० — तिलति स्निह्यति तिलकम् तत्र तस्मिन् मेचके कृष्णे लवणे वर्तते । पूर्वं तु मधुवर्णम् । अगन्धं कृष्णवर्णं तिलकमित्येके । यद्वैद्याः —

१. 'वस्नकं रौमके र' ग. पाठः. २. 'वि' ग. ड. पाठः. ३. 'वि' ग. पाठः.
४. 'क्षुः रो' क. ग. पाठः. ५. 'ष्णे व' ख. पाठः. ६. 'ष्णलवणं ति' ग. पाठः.

“कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिते” ॥

टीका० — कृष्णे सौवर्चले तिलकं, साधितम् ॥

मत्स्यण्डी फाणितं खण्डविकारे

क्षीर० — मदं स्यन्दयते मत्स्यण्डी सामान्यशर्करा । मत्स्या-
नमति मत्स्यान्दीति वा । मत्स्याण्डीति वैद्याः । यद्वन्वन्तरिः—

“शर्करोक्ता तु मीनाण्डी श्वेता मत्स्याण्डिका सिता ।”

“मत्स्याण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तराः”

इति तु बाह्यः । फण्यते द्रवत्वात् फाणितम् । खण्ड्यते इच्योतः । क्षौद्रकं
त्विक्षुरसविकारः खण्डवत् ॥

टीका० — इक्षुविशेषस्य रसपाके खण्डयोग्ये या सारभूता गुडि-
काकारा जायते सा मत्स्यण्डी खण्डशाल्कम् । अर्धावर्तितं फाणितम् । (अनः
खण्डविकारौ ?) ॥

शर्करा सिता ॥ ४३ ॥

क्षीर० — शीर्यते शर्करा । सीयते सिता, खण्डशर्कराख्या ॥

टीका० — शर्कराद्वयं शर्करायाम् । शर्करोक्ता ।

“शर्करायां सिता शुक्ले बद्धे चावसिते त्रिषु”

इति दन्त्यान्ते रभसः ॥

कूर्चिका क्षीरविकृतिः स्याद्

क्षीर० — कूर्चस्तन्मस्तु, तदस्त्यस्यां कूर्चिका । कुचति कुचिके-
त्येके । किलाटिकाख्या ॥

टीका० — कथितक्षीरविकारे खिरिस इति ख्याते कूर्चिका ।

१. 'न्दते', २. 'ति भजति मत्स्यण्डी' क. ग. ड. पाठः. ३. 'रे' ज. पाठः.
४. 'चोऽस्त्य' ख., 'चैस्तमस्तद' ग., 'चस्तद' क. पाठः. ५. 'कूचिके' ख., 'कुचीत्ये'
क. पाठः.

“दध्ना सह पयः पङ्कं यत् तत् स्याद् दधिकूर्चिका ।
तत्रेण पङ्कं यत् क्षीरं सा भवेत् तत्तदूर्चिका” ॥

रसाला तु मार्जिता ।

क्षीर० — रसमलति रसाला । मार्ज्यते मार्जिता दधिसितामरि-
चादिकृतं लेह्यम् । यत् सूदशास्त्रम् —

“अर्धाढकं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः
खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य ।
सर्पिः पलं मधु पलं मरिचं द्विकर्षं
शुण्ठ्याः पलार्धमपि वार्धपलं चतुर्णाम् ॥
श्लक्ष्णे पटे ललनया मृदुपाणियुक्ता
कर्पूरधूलिसुरभीकृतभाण्डसंस्था ।
एषा वृकोदरकृता सरसा रसाला
यास्वादिता भगवता मधुसूदनेन” ॥

टीका० — रसालाद्वयं शिखरिण्याम् ।

“स चान्तर्जातकाजाजीसगुडाद्रकनागरम् ।

रसाला स्याच्छिखरिणी सैष्टुतं सरसं दधि ॥”

इति रत्नमाला । आग्ने रसाल उक्तः । ततष्ठाप् । मृजोऽङ्गि ‘मृजेरजादौ संक्रमे
विभाषा वृद्धिरिष्यत’ इति वृद्धौ मार्जा । ततस्तत्करोतीति णिजन्तात् क्तः ।
मार्जिता ॥

स्यात् तेमनं तु निष्ठानं

क्षीर० — निम्न्यत्यार्द्राभवत्यनेन तेमनम् उपसेचनं कौपनाख्यम् ।
नितिष्ठत्यन्नमनेन निष्ठानम् । व्यञ्जनं च । सूपादय उपचारात् ॥

टीका० — त्रिषण इति ख्याते तेमनद्वयम् । ‘तिम ष्टिम आर्द्रभावे’ ।
ल्युट् । तेमनम् । तिष्ठतेत्युट् । निष्ठानम् ॥

त्रिलिङ्गा वासितावधेः ॥ ४४ ॥

क्षीर० — इतः प्रभृति वासितान्ता वाच्यलिङ्गाः ॥

टीका० — अतः परं वासितावधेः प्राग् वाच्यलिङ्गाः ॥

शूलाकृतं भट्टिन्नं च शूल्यम्

क्षीर० — ‘शूलात् पाके’ (५. ४. ६५) इति डाच् । भट्टत्यनेन भट्टिन्नम् । ‘भट्ट भृतौ’ । शूले संस्कृतं शूल्यम् । ‘शूलोस्वाद्यत्’ (४. २. १७) । भरुटकं भृष्टं च ।

“संस्कृतं सर्पिषा दध्ना सार्पिष्कं दाधिकं क्रमात् ।

उदलावणिकं तत् स्याद् यत् सिद्धं लवणाम्भसा” ॥

टीका० — शूलाकृतत्रयं भडित इति ख्याते तेमनविशेषे । शूलाकृतम् । ‘शूलात् पाके’ (५. ४. ६५) इति डाच् । ‘भट्ट भृतौ’ । ‘अशिन्नादिभ्य इन्नोन्नौ’ (उ०४. १७४) इति इन्नः । भट्टिन्नम् । ‘शूलोस्वाद्यत्’ (४. २. १७) इति यत् । शूल्यं मांसम् । शूल्यो मत्स्यः । शूल्या वार्त्ताकुः ॥

उख्यं तु पैठरम् ।

क्षीर० — उखायां स्थाल्यां संस्कृतम् उख्यम् । पिठरे संस्कृतं पैठरम् । ‘संस्कृतं भक्षाः’ (४. २. १६) इत्यण् ॥

टीका० — स्थाल्यां संस्कृते उख्यद्वयम् । शूल्यवदुख्यम् । ‘संस्कृतं —’ (४. २. १६) इत्यण् । पैठरम् ॥

प्रणीतमुपसम्पन्नं

क्षीर० — रूपरसादिनिष्पन्नमन्नं प्रणीयते स्म प्रणीतम् ॥

टीका० — पाकरूपरसादिभिः सम्पन्ने व्यञ्जने प्रणीतद्वयम् । नयतेः पदेश्च क्तः ॥

प्रयस्तं स्यात् सुसंस्कृतम् ॥ ४५ ॥

क्षीर० — परिव्ययपाकादिना प्रयत्ननिष्पन्नमन्नं प्रयस्तम् । संस्कृतम् । अनित्ये साधुः । प्रयतमिति केचित् । यदुक्तं—‘प्रयतं संस्कृते पूते’ ॥

टीका० — तैलपरिव्ययादियोगेन सुष्ठु संस्कृते व्यञ्जनादौ प्रयस्तम् । ‘यसु प्रयते’ । क्तः ॥

स्यात् पिच्छिलं तु विजिलं

क्षीर० — पिच्छा आचामोऽस्य पिच्छिलम् । पिच्छादित्वादिलच् । विजते चलति विजिलम् । विज्येमिति वैद्याः । ‘स्यात् पिच्छिलं तु विजलमि’त्येके ॥

टीका० — पिच्छिलद्वयं पिच्छिले । पिच्छादीलचि पिच्छिलम् । ‘ओ-विजी भयचलनयोः’ । ‘कुटादिभ्यः कित्’ इति इलच् । स च कित् । विजिलम् ॥

सम्मृष्टं शोधितं सजे ।

क्षीर० — वालमसिकादिरहितं सम्मृष्टम् । ‘भृज् शुद्धौ’ ॥

टीका० — अपनीतकेशमसिकाद्यवकरे सम्मृष्टद्वयम् । मृजेः शुध्यतेश्च क्तः । सम्मृष्टं शोधितम् ॥

चिक्रणं मसृणं स्निग्धे

क्षीर० — चिगित्यव्यक्तं कणति चिक्रणम् । मस्यति मसृणम् ॥

टीका० — चिक्रणत्रयं चिक्रणे । ‘चिती संज्ञाने’ । ‘चितः कः कणच्’ (उ० ४. १७७) इति कणच्, तकारस्य ककारः । चिक्रणम् । ‘ऋण गतौ दीप्तौ च’ । सम्पूर्वात् कः । पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययः । मसृणम् ॥

तुल्ये भावितवास्तिते ॥ ४६ ॥

१. ‘धुः ॥ स्यात्’ क. ग. ड. पाठः. २. ‘य’ क., ‘ज्ययमि’ घ. प. :. ३. ‘थ्य’ क. ट. पाठः. ४. ‘क्तः ॥’ क. ख. ट. पाठः. ५. ‘मसृण’ ठ. पाठः. ६. ‘णमिति धातुप्रदीपः । ऋ’ क. ख. ग. घ. ङ. पाठः.

क्षीर० — भाव्यते मिश्रीक्रियते स्म भावितम् । 'ध्रुवोऽवकल्कने' ।
णिच् । वास्यते द्रव्यान्तरेण मिल्यते धूपपुष्पादिना बाधिवास्यते वासि-
तम् । यन्मुनिः — 'धूपितं वासितं विदुः' ॥

टीका० — व्याघ्राङ्गारादिना धूपिते तेमनादौ भावितद्वयं, मनुष्य-
वर्गे साधितम् ॥

आपकं पौलिरभ्यूषः

क्षीर० — ईषद्रष्टुं कलायादि आपकं खलभर्जिताख्यम् । * पुलति
वर्धते पौलिः । 'पुल महत्त्वे' । ऊषो रुजार्थादभ्यूषः । उषो दाहार्थादभ्योष
इत्येके ॥

टीका० — पाकावस्थे यवशीर्षादौ अग्निना ईषद्गधे ह्यदुस इति ख्याते
आपकत्रयम् । ओलभेति चास्य प्रसिद्धिः । पचेः क्तः । 'पचो वः' (८. २. ५२) ।
आपकम् । 'ऊष रुजायाम्' । घञर्थे कः । अभ्यूषः ।

“भृष्टयवो धानाः स्त्री तोक्मो हरितो यवोऽभ्यूषः पकः ।”
इति रत्नकोषार्यादौ ह्रस्वमध्यश्च । पौलिर्ना ॥

लाजाः पुम्भूम्नि चाक्षताः ।

क्षीर० — लज्यन्ते लाजाः । 'लज भर्जने' । न क्षण्यन्ते अक्षताः ।
चाङ् भिन्नक्रमात् ते पुंसि बहुत्वे च । 'अक्षता यवाः' इति पुराणम् ।
तन्मते पुंवहुत्वार्थो विधिः ॥

टीका० — लाजद्वयं लाजेषु । 'लाज लाजि भर्जने' । पचादिः । लाजाः ।
न क्षता अक्षताः । दारा इव लाजाः । 'लाजाः स्त्रियामि'ति वार्तः ।

१. 'प्रया' च. पाठः. २. 'बलवर्जि' क. ग. पाठः. ३. 'भा' ग. पाठः. ४. 'त
ते' ख. पाठः. ५. 'यं भी इति ख्यातायाम् । लाज' क. ख. ग. घ. पाठः.

* पुलतेः क्षीरस्वामिपक्षे तुदादित्वमपि । तथाच पुलधातौ क्षीरतराङ्गिणी — “पोलति.....
तुदादौ पुलति” इति ।

“लाजाः पुंसि बहुत्वे वा स्त्रियां लाजापि चाक्षतम्”
इति संसारावर्ते एकवचनान्तापि ॥

पृथुकः स्याच्चिपिटकः

क्षीर० — आर्द्रभृष्टं सस्यं तद्विपाकात् पृथु भवति, चिपिटीभवति च । नीलधान्यं वा भृष्टमुल्लखलक्षोदाच्चिपिटीभूतं तण्डुलम् ॥

टीका० — पृथुकद्वयं चिड इति ख्याते । निशब्दाद् ‘इनच्पिट-
च्चिकचि च’ (९. २. ३३) इति पिटच्प्रत्ययश्चिरादेशश्च नेः । ‘चिपिटस्तु
चिपुटः स्यादिति’ उकारमध्योऽपि ॥

धाना भृष्टयवे स्त्रियः ॥ ४७ ॥

क्षीर० — धीयन्ते धानाः । भृष्टयव इति जात्याख्यायामेक-
त्वम् । धानाश्चूर्णिताः सक्तयः स्युः । ‘वस्तिः स्यादंसशङ्कुली’ ।
धूस्तीरिति द्रमिडाः ॥

टीका० — भृष्टयवे धाना निलबहुवचनान्ताः । ‘धापृवस्यज्यतिभ्यो नः’
(उ० ३. ६) ॥

पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्

क्षीर० — पुनाति पूषः । न पूयतेऽपूपः पिष्टातकभयो मण्डका-
ख्यः । ‘पूयी विशरणे’ । अद्भिरुप्यत इति नैरुक्ताः । ‘पिष्टाच्च’ (४. ३.
१४६), ‘संज्ञायां कन्’ (४. ३. १४७) । मुनिस्तु—

“अपूपः पिष्टपूपः स्यात् पूषा भक्ष्याः प्रकीर्तिताः” ॥

टीका० — पूषत्रयं पिष्टके । पिष्टानां तण्डुलानां विकारः पिष्ट-
कः । ‘पिष्टाच्च’ (४. ३. १४६) इत्यनुवृत्तौ ‘संज्ञायां कन्’ (४. ३.
१४७) इति कन् ॥

करम्भो दधिसक्तवः ।

१ ‘ति रभसकोषार्थ उ’ क. ख. ग. घ. ङ., ‘ति रत्नकोषार्थ उ’ ज. घ.
२. ‘र्णस’ क. ग. पाठः. ३. ‘अस्तिरि’ ख. पाठः.

क्षीर० — केन रभ्यते† (मी?मि)ल्यते कार्यते वा करम्भः ।
दध्युपसिक्ताः सक्तवः ॥

टीका० — दध्युपसिक्ताः सक्तवः करम्भः, भान्तः । तथाच —

“साम्भः कुम्भं करम्भं नवमथितघटीककैरी शर्करा च”

इति बाणानुप्रासः । यस्तु पकारान्तः, स मिश्रसामान्यवाची । करंकुक्कोककल-
हंसकाम्बविक’ इति विदग्धमुखमण्डनम् (?) ॥

भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री स दीदिविः ॥४८॥

क्षीर० — भस्यते भक्ष्यते भिस्सा । भ्यसेः सम्प्रसारणं वा ।
‘ब्राह्मणभिस्से’ति भाष्यम् । भज्यते भक्तम् । अनित्यनेनान्धः, सा-
न्तम् । अद्यतेऽन्नम् । उन्नतिं क्षिद्यत्योदनम् । भृशं दीव्यत्यनेन दीदिविः ।
स इति विशेषणात् पुंसि ॥

टीका० — भिस्सापट्कं भक्ते । भिस्सा दन्त्यसा । ‘अदेर्नुम् धश्च’
(उ० ४. २०७) इत्यसुन् नुं धान्तादेशश्च । अन्धः । ‘अन्नाणः’ (४. ४.
८५) इति निपातनादन्नम् । ‘पन अन च व्यवहारे’ । ‘कृवृद्वसिद्वुपन्य-
निस्त्वपिभ्यो नित्’ (उ० ३. ९) इति वा अनेर्नः । ‘उन्देर्नलोपश्च’
(उ० २. ७९) इति युच् । ओदनम् । ‘दिवो द्वे दीर्वश्चाभ्यासस्य’ (उ०
४. ५६) इति किन् । ‘लोपो व्योर्वलि’ (६. १. ६६) इति वलोपः । ओदन-
शब्दो दीदिविसहितोऽस्त्री, न तु सदीदिविशब्दः ॥

भिस्सटा दाघिका

क्षीर० — कुत्सिता भिस्सा भिस्सटा । यथा — ओदनभिस्सटा ।
लक्ष्यानुरोधाट्टः । यथा — स्वर्गग्रामटिका, वधूटिका ॥

टीका० — दाडीति ख्यातायां भिस्सटाद्वयम् ॥

१. ‘त’ ड. छ. पाठः. २. ‘विः ॥’ छ. पाठः.

† ‘मिल श्लेषणे’ इति मिलधातोः श्लिष्यतेरिव सकर्मकत्वात् कर्मणि लट् ।
मेल्यत इति वा पाठ्यम् । मेल्यते कार्यते इति रभेरर्थद्वयकथनं, ‘परिरभत’ इत्यादौ मेलनार्थस्य
‘तन्तुना पटमारभते’ इत्यादौ करणार्थस्य च दर्शनात् ।

सर्वरसानां मण्डमास्त्रियाम् ।

क्षीर० — सर्वरसानां द्रवद्रव्याणामग्रं मुखं, मण्डयति मण्डः ॥

टीका० — सर्वेषां रसानां घृतौदनादीनामग्ररसे मण्डः । 'मडि भूषायाम्' । अच् ॥

मासराचामनिस्त्रावा मण्डे भक्तसमुद्भवे ॥ ४९ ॥

क्षीर० — मस्यति परिणमते मासरः । आचम्यते आचामः । निस्त्राव्यते निस्त्रावः ॥

टीका० — भक्तमण्डे मासरत्रयम् । 'चमु अदने' । आङ्पूर्वात् कर्मणि घञ् । आचामः । मूत्रं निस्त्रावयतीति निस्त्रावः ॥

यवागूरुष्णिका श्राणा विलेपी तरला च सा ।

क्षीर० — गूयते पिष्टादिना यवा । आगूयतीत्यागूः । संज्ञिता उष्णा उष्णिका । 'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' (५. २. ७१) । श्रायते श्राणा । 'श्रा पाके' । विलिम्पति विलेपी । तरला लेहत्वाच्चपला ।

"अदक्षणाभ्यञ्जने तैलं कृसरौऽत्र तिलौदनः" ॥

टीका० — यवागूपञ्चकं यवाग्वाम् । वैद्यके तु विलेपनादिर्यवागूविशेष इत्युक्तम् । यौतेः 'स्युवचिभ्योऽन्युजागूजकनुचः' (उ० ३. ८१) इत्यागूच् । यवागूः । 'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' (५. २. ७१) इति कना निपातितत्वादुष्णिका । 'श्रा पाके' । क्तः । 'संयोगोदेरातो धातोर्यण्वतः' (८. २. ४३) इति निष्ठातो नः । श्राणा, तालव्यादिः । विलेपी पचादिः, गौरादिः । तरलशब्द उक्तः ॥

गव्यं त्रिषु गवां सर्वं

१. 'का' ग. ङ. पाठः. २. 'म्' इति कन् प्रत्ययमनिपात्यते । श्रा' ख. पाठः.
३. 'उक्षणा' क. ख. पाठः. ४. 'लो' ग. पाठः.

क्षीर० — गोरिदं गवि भवमित्यादिषु सर्वेष्वर्थेषु गव्यं क्षीरादि
'सर्वत्र गोरजादिभ्यः प्रसङ्गे यत्' (वा० ४. १. ८५) ॥

टीका० — गोर्विकारोऽवयवो वा गव्यम् । तत्र भवे इत्याद्यर्थे 'सर्वत्र
गोरजादिप्रसङ्गे यद् वक्तव्यः' (वा० ४. १. ८५) इति यत् । अवयवार्थे 'उग-
वादिभ्यो यत्' (५. १. २) ॥

गोविद् गोमयमस्त्रियाम् ॥ ५० ॥

क्षीर० — गोर्विष्ठा गोविद् । 'गोश्च पुरीषे' (४. ३. १४५) ।
मयद् ॥

टीका० — गोविद् द्वयं गोमये । गोविद् षान्ता स्त्रीलिङ्गा च । 'गोश्च
पुरीषे' (४. ३. १४५) इति मयद् ॥

तद्विशुष्कं करीषोऽस्त्री

क्षीर० — करोत्यग्निं करीषं शुष्कं गोमयम् ॥

टीका० — गोमये विशुष्के करीषः । 'कृ विश्वे' । 'कृतृभ्यामीषन्'
(उ० ४. २६) ॥

दुग्धं क्षीरं पयः समम् ।

क्षीर० — दुह्यते दुग्धम् । घस्यते क्षीरम् । 'घसेः क्विच्' (उ०
४. ३४) इतीरन् । 'गमहनजनघन—' (६. ४. ९८) इत्युपधालोपः ।
'खरि च' (८. ४. ५५) इति चत्त्वम् । 'शासिवसिघसीनां च' (८.
३. ६०) इति षत्वम् । पीयते पयते वा सैरसत्वात् पयः । असुन् ।
सममिति पयसो नपुंसकत्वार्थम् ॥

टीका० — दुग्धत्रयं दुग्धे । दुहेः क्तः । दुग्धम् । पय उक्तम् ॥

१. 'दिष्य' ख. ग. ङ. पाठः. २. 'वाद्य' क. ख. पाठः. ३. 'रसवत्त्वात्' क. पाठः.

पयस्यमाज्यदध्यादि

क्षीर० — पयसो विकारः पयस्यम् । 'गोपयसोर्यत्' (४. ३. १६०) । आदिशब्दान्नवनीतादि ॥

टीका० — आज्यदधितक्रादि पयस्याख्यम् । गव्यवद् यत् ॥

द्रप्सं दधि घनेतरत् ॥ ५१ ॥

क्षीर० — दृष्यति द्रप्सम् । घनादन्यद्, अघनमित्यर्थः । यन्माला — 'द्रप्सं दध्यघनं तथा' । एतच्च द्रप्सं 'सरमि'ति भागुरिपाठः । सरमिति बुद्ध्वा मालाकारो भ्रान्तः । 'केचिन्नेटैस्तु नतशेता' इति * अयमपि मालापाठेन विप्रलब्धः । यदाहं भुग्नः — 'वाणद्रप्सौ शरौ' इति । इत्थं सामर्थ्यं — तरत् उपरि प्लवमानं घनं दधि द्रप्सम् ॥

टीका० — घनेतरद् अघनं दधि द्रप्सं द्रगड इति ख्यातम् ॥

घृतमाज्यं हविः सर्पिः

क्षीर० — जिघर्ति घृतम् । 'अञ्जिसिघृभ्यः क्तः' (उ० ३. ८९) आ अञ्जनीयम् आज्यम् । 'आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायाम् —' (वा० ३. १. १०९) । क्यप् । हूयते हविः, हविष्यं च । सर्पति सर्पिः । इसन्तौ ॥

टीका० — घृतचतुष्कं घृते । 'घृ क्षरणदीप्त्योः' । 'अञ्जिघृभिभ्यः क्तः' (उ० ३. ८९) । घृतम् । 'आङ्पूर्वादञ्जेः संज्ञायाम् —' (वा० ३. १. १०९) । क्यप् । आज्यम् । 'अर्चिशुचिहुसृच्छर्दिच्छादिभ्य इतिः' (उ० २. १०८) । हविः, सर्पिश्च । तद्विवसीयाद् दध्नो दुग्धाद् वा समुद्भूतं घृतम् ॥

नवनीतं नवोद्धृतम् ।

क्षीर० — दध्नो मथितान्नवं तत्कालं नीतमुद्धृतं नवनीतं घृतयोनिः ॥

१. 'तु ॥ घ' क घ. पाठः. २. 'तेन ना', ३. 'हुः वा' ख. पाठः. ४. 'सम-
र्थं तत्' क. पाठः. ५. 'व्यान्तरम् । उ' ख. पाठः.

* अयमपि भागुरिपाठोऽपि । मालापाठेन विप्रलब्धः, मालापाठविग्रहमेव पाठकैर्नाशित इति तात्पर्यम् ।

टीका० — नागिस्पृष्टं नवनीतम् । नवाद् दध्यादेर्नीतं प्राप्तम् ॥

तत् तु हैयङ्गवीनं यद् व्योमोदोहसमुद्भवम् ॥ ५२ ॥

क्षीर० — व्योमोदे हस्य विकारो हैयङ्गवीनम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' (५. २. २३) इति साधुः । कात्यो नवनीतमित्याह ॥

टीका० — व्यो गतादिनं, तद्वोदोहभवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' (५. २. २३) इति खञ् निपातितः । व्योमोदोहशब्दस्य हियङ्गवादेशः । तस्य च विकारे खञ् ॥

दण्डाहतं कालशेयमरिष्टमपि गोरसः ।

क्षीर० — मन्थदण्डेनाहतम् । कलश्यां घर्घर्या भवं कालशेयम् । 'दतिकृत्तिकलशि—' (४. ३. ५६) इति ढञ् । न रिष्यति न निहन्त्यरिष्टं, सर्वरोगजिच्चात् ॥

टीका० — सामान्यगोरसे दण्डाहतचतुष्कम् । मन्थानदण्डेन हतं दण्डाहतम् । कलश्यां भवं कालशेयं, तालव्यशम् । आह्वयवङ् ढञ् । अरिष्टमुक्तम् ॥

क्षीर० — तद्विशेषानाह—

तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादास्वर्धाम्बु निर्जलम् ॥ ५३ ॥

तश्चाति द्रुतं गच्छति तक्रं, चतुर्भागांस्तु । उदकेन श्वयत्युदश्विद्, अर्धाम्बु । दध्ना मथनमात्रसाध्यं मथितं, निर्जलम् ।

“द्विगुणांस्तु श्वतरसमर्थोदकमुदश्वितम् ।

तक्रं त्रिभागहीनं तु केवलं मथितं स्मृतम् ॥”

इति धन्वन्तरिः ॥

टीका० — यथाक्रमं पादाम्बु घोलं तक्राख्यम्, अर्धाम्बु उदश्चित्, निर्जलं तु मथिताख्यम् । 'तच्च सङ्कोचने' । 'स्फायितञ्चि—' (उ० २. १३) इत्यादिना रक् । न्यङ्कादिकृत्वम् । तक्रम् । बहूदकत्वाद् उदकेनैव श्वयति वर्धत इत्युदश्चित् । 'दुओश्चि गतिवृद्धोः' । क्तिप् । तुक् च । 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' (६. ३. ५७) इत्युदकस्योदभावः । 'उदश्चितोऽन्यतरस्याम्' (४. २. १९) इति निपातनान्न सम्प्रसारणम् । 'मथे विलोडने' । क्तः । मथितम् ॥

मण्डं दधिभवं मस्तु

क्षीर० — दध्नो मण्डं द्रवो भागः । मस्यति परिणमते मस्तु ॥

टीका० — दध्नो मण्डे मस्तु । 'मस परि(माणेऽणामे)' । सेतुवत् तुन् ॥

पीयूषोऽभिनवं पयः ।

क्षीर० — पीयते पीयूषः । 'नवप्रसूतगवीक्षीरं कथितं सत् पीयूषमिति सज्जनः ॥

टीका० — गोप्रसवानन्तरे सप्तरात्रपर्यन्ते दुग्धे(पेष्टेषु) । 'अथ पेष्टपिष्टनवं(?) सप्तदिनावधी'ति शब्दार्णवः ॥

अशनाया बुभुक्षा क्षुद्

क्षीर० — अशनेच्छा अशनाया । 'अशनायोदन्य—' (७. ४. ३४) इति साधुः । भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा । 'क्षुध बुभुक्षायाम्' । क्तिप् क्षुत् । रुचिश्च ॥

टीका० — अशनायात्रयं बुभुक्षायाम् । अशनशब्दादिच्छायां क्यप् । 'अ प्रत्ययात्' (३. ३. १०२) इत्यः । 'अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु' (७. ४. ३४) इत्यात्वम् । अशनाया । भुजेः सन् । बुभुक्षा । क्षुधेः क्तिप् । क्षुत् ॥

ग्रासस्तु कबलार्थकः ॥ ५४ ॥

१. 'ञ्चि गतौ । स्फा' ग. पाठः. २. 'न व' क. ग. पाठः. ३. 'वान्त', ४. 'षष्टम् । अथ पेष्टपि' क. ख. पाठः. ५. 'प्' क. ख. पाठः.

क्षीर० — ग्रस्यते ग्रासः । के तालुनि वलते कवलः ॥

टीका० — ग्रासद्वयं कवले । 'ग्रसु ग्लसु अदने' । कर्मणि घञ् । ग्रासः ।
केन तोयेन वलनमस्येति कवलः ॥

सपीतिः स्त्री तुल्यपानं

क्षीर० — सहपानं सपीतिः ॥

टीका० — तुल्यपाने सहपाने सपीतिः । समाना पीतिः, स्त्रीलिङ्गा ।
'समानस्यच्छन्दस्यमूर्ध्वप्रभृत्युदकेषु' (६. ३. ८४) इति सभावः । छान्दसा अपि
लोके प्रयुज्यन्ते, 'दिवसावसानताम्यत्तामरसमधुसपीतिप्रीते धुतपक्षराजिवीजि-
तरजसि राजहंसयूथे' इति बाणप्रयोगात् । स्त्रिया योषिता सह पीतिरिति
नादरणीयम् ॥

सग्धिः स्त्री सहभोजनम् ।

क्षीर० — सहादनं सग्धिः । क्तिन् । 'बहुलं छन्दसि' (२. ४. ३९)
इति घस्त्वृ । 'घसिभसोर्हलि च' (६. ४. १००) इत्युपधालोपः । 'झलो झलि'
(८. २. २६) इति सलोपः । 'झपस्तथोर्धोऽधः' (८. २. ४०) । 'झलां जश
झशि' (८. ४. ५३) ॥

टीका० — सहभोजने सग्धिः । समाना ग्धिः सग्धिः । अदेः क्तिन् ।
'बहुलं छन्दसि' (२. ४. ३९) इति घस्त्वदेशः । 'घसिभसोर्हलि च' (६. ४.
१००) इत्युपधालोपः । 'झलो झलि' (९. २. २६) इति सकारलोपः । ततस्तकारस्य
घत्वं, जश्त्वं च । पूर्ववत् सभवः ॥

उदन्या तु पिपासा तृद् तर्षः

क्षीर० — उदकेच्छोदन्या । 'अशनायोदन्य—' (७. ४. ३४) इति
साधुः । तर्षणं तृद् तर्षश्च । 'जितृषा पिपासायाम्' । तृष्णा नानार्थे ॥

१. 'तिः स्त्री' क. छ. पाठः. २. 'झ' क. पाठः. ३. 'जग्धिः स', ४. 'ने क्तिन्'
घ. पाठः.

टीका० — उदन्याचतुष्कं पिपासायाम् । उदकशब्दात् क्यच् ।
‘अशनाय—’ (७. ४. ३४) इत्यादिनोदन्भावः । उदन्या । पातुमिच्छा पि-
पासा । ‘बितृषा पिपासायाम्’ । भावे क्तिप् । तृट् पान्ता । घञि तर्षः ॥

जग्धिस्तु भोजनम् ॥ ५५ ॥

जेमनं लेपं आहारो निघसो न्याद इत्यपि ।

क्षीर० — अदनं जग्धिः । ‘अदो जग्धिर्यप् ति किति’ (२.
४. ३६) । जमेर्जेमनमाहुः । जमनं जवनं वा । यद् भुङ्गः — ‘जमनं भोजनं
कचित्’ । न्यदनं निघसः । ‘नौ ण च’ (३. ३. ६०) इत्यप् । ‘घञपोश्च’
(२. ४. ३८) इति घस्लादेशः । णे न्यादः । प्रत्यवसानमभ्यवहारश्च ॥

टीका० — जग्धिसप्तकं भोजने । अदेः क्तिन्जग्ध्यादेशौ । जग्धिः ।
भुजेर्ल्युटि भोजनम् । ‘चमु छमु जमु झमु अदने’ इत्यत्र जिमिरप्यूह-
नीयः । जेमनम् । लिपेरच् । लेपः । हरतेर्घञि आहारः । ‘नौ ण च’ (३. ३.
६०) इति चकाराद् निपूर्वाददेरप् । ‘घञपोश्च’ (२. ४. ३८) इति घस्लादेशः ।
निघसः । ‘नौ ण चे’त्यनेनैव णप्रत्ययेन अदेर्न्यादः ॥

सौहित्यं तर्पणं तृप्तिः

क्षीर० — सुहितस्य भावः सौहित्यम् ॥

टीका० — सौहित्यत्रयं तृप्तिः । सुहितस्तृप्तः । तद्भावः सौहित्यम् ।
तृपेर्युट् । तर्पणम् । क्तिनि तृप्तिः ॥

फेला भुक्तसमुज्झितम् ॥ ५६ ॥

क्षीर० — फलति विशीर्यते फेला । ‘फेल् चलने’ अस्माद्वा ॥

टीका० — पूर्वं भुक्तं पश्चात् समुज्झितं भुक्तसमुज्झितम् । तत्र फेला ॥

कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम् ।

क्षीर० — काम्यते कामम् । पर्याप्तिः पर्याप्तम् । इष्यते इष्टम् ।
ईप्सितमनतिक्रम्य यथेप्सितम् । प्रायः क्रियाविशेषणान्येतानि । अतः

१. ‘ह’ क. ख. पाठः. २. ‘गर्गः—ज’ ख. पाठः. ३. ‘प्’ । णप्रत्ययश्च । अप् ।
घ’ घ. पाठः.

एव अव्ययत्वे एषां श्रीभोजो भ्रान्तः । यच्छाश्वतः — 'कामे निकामे कामाख्या' ॥

टीका० — कामषट्कं यथेष्टे । 'कमेर्णिङ्' (३. १. ३०) इति णि-
ङन्तात् कमेरच् । कामं प्रकामं निकामं च । क्रियाविशेषणतया चैते क्लीबलिङ्गाः ।
आप्नोतेः क्तः । पर्याप्तम् । 'इषु इच्छायाम्' । क्तः । इष्टम् । ईप्सितस्यानति-
क्रमो यथेप्सितम् । क्लीबाव्ययम् ॥

गोपे गोपालगोसङ्ख्यगोधुगाभीरवल्लवाः ॥ ५७ ॥

क्षीर० — गाः पाति गोपैः । गाः पालयति गोपालः । गाः
सङ्ख्याति गोसङ्ख्यः । गां दोग्धि गोधुक् । आ अभित ईरयत्याभीरः ।
वल्लति गाः वल्लवः । वल्लिः सौत्रो वा ॥

टीका० — गोपषट्कं गोपे । गां पातीति गोपः । 'आतोऽनुपसर्गे
कः' (३. २. ३) । कर्मण्यणि गोपालः । गां सञ्चष्टे गोसङ्ख्यः । 'सभि ख्यः'
(३. २. ७) इति कः । 'चक्षिङः ख्याञ्' (२. ४. ५४) इति ख्याञादेशः ।
गां दोग्धीति किप् । गोधुक्, हान्तः । आ भियं राति समन्ताद् भीतिं ददात्या-
भीरः, कप्रत्ययान्तः । गोमहिष्यादिकं वल्लमानाः संवृण्वन्तो वान्ति गच्छन्तीति
वल्लवाः । 'बद स्थैर्ये' । किप् । वत् स्थैर्यम् । लुनातेरच् । लवः । बदो लवा
वल्लवा इति सनातनः ॥

गोमहिष्यादिकं पादबन्धनं

क्षीर० — पादे बन्धनमस्य पादबन्धनम् । आदिशब्दात् स्वरा-
दि । जीववद् धनमित्येके पेठुः ॥

टीका० — गोमहिष्यादिकं धनं यादवाख्यम् । यदूनामिदं यादवम् ।
ते ह्येवंधना अभवन् ।

"क्षोभमाशु हृदयं नयदूनां रागवृत्तिमकरोन्न यदूनाम् ।"

(स० १०. श्लो० ९०)

इति माघः ॥

१. 'त्वेन श्रुतेरेषां', २. 'पः । पा' ग. ड. पाठः. ३. 'गा' क. पाठः. ४.
'कं धनं' ख. पाठः. ५. 'तु स्कान्धिकादिवन्धनं' क. ग. ड. पाठः. ६. 'न ॥ गर्वा' ड.
पाठः.

टीका० — उक्षनवकं बलीवर्दे । ‘श्वन्नुक्षत्रा’दिसूत्रे उक्षा नान्तो निपातितः । भद्रवृषावुक्तौ । ‘ऋषिवृषिभ्यां कित्’ (उ० ३. १२३) इत्यभचि ऋषभवृषभौ । ‘अनसि वहेः कित्, अनसो डश्चे’ति अनउपपदाद् वहतेः कित्, सकारस्य च डः । सम्प्रसारणम् । ‘सावनडुहः’ (७. १. ८२) इति नुम् । ‘चतुरनडुहोरासुदात्तः’ (७. १. ९८) इत्यामागमः । अनड्वान् । ‘इतश्चानिजः’ (४. १. १२२) इति ढकि सौरभेयः । गच्छतीति गौः । ‘गमेर्डोः’ (उ० २. ७०) इति डोप्रत्ययः । तत्रानडुहादित्रयं स्त्रियां च । ‘अनडुहः स्त्रियां वेति वक्तव्यम्’ (वा० ७. १. ९८) इत्याम्बिकल्पेन अनड्वाही अनडुही च । गौरादिपाठान्डीष् । ‘टिड्ढाणञ् —’ (४. १. १५) इत्यादिना डीप् । सौरभेयी । गौरित्यत्र तु विशेषणे परं विशेषो न रूपे ॥

उक्षणां संहतिरौक्षकम् ।

क्षीर० — ‘गोत्रोक्षोष्ट्र —’ (४. २. ३९) इति वुञ् ॥

टीका० — बलीवर्दानां संहतौ औक्षकम् । राजकवद् वुञ् ॥

गव्या गोत्रा गवां

क्षीर० — संहतिरित्येव । ‘खलगोरथात्’ (४. २. ५०) इति यः । ‘इनित्रकट्यचश्च’ (४. २. ५१) इति त्रः ॥

टीका० — गवां संहतौ गव्याद्वयम् । ‘खलगोरथात्’ (४. २. ५०) इति यत् । गव्या । ‘इनित्रकट्यचश्च’ (४. २. ५१) इति त्रः । गोत्रा ॥

वत्सधेन्वोर्वात्सकधैनुकम् ॥ ६० ॥

क्षीर० — वत्सानां समूहो वात्सकम् । ‘गोत्रोक्ष —’ (४. २. ३९) इति वुञ् । धेनूनां समूहो धैनुकम् । ‘अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्’ (४. २. ४७) ॥

टीका० — यथाक्रमं वत्ससंहतौ वात्सकम् । राजकवद् वुञ् । धेनुसंहतौ धैनुकम् । हास्तिकवत् ठक् । ‘इसुसुक्तान्तात् कः’ (७. ३. ९१) इति ठस्य कः ॥

उक्षा महान् महोक्षः स्यात्

क्षीर० — महान्श्चासावुक्षा च महोक्षः । 'अचतुर —' (५. ४. ७७)
इत्यादिना साधुः । एवं वृद्धोक्षजातोक्षौ । मालात्र —

“महोक्षः स्यादुक्षतरः स्कान्धिकः स्कन्धवाहकः ।

षोडन् षड्दशनोऽथ स्यात् कूटो भग्नविषाणकः” ॥

टीका० — अतिमहति वलीवर्दे महोक्षः । 'अचतुर —' (५. ४.
७७) इत्यादिना समासान्तोऽच् ॥

वृद्धोक्षस्तु जरद्भवः ।

क्षीर० — जरन्श्चासौ गौश्च जरद्भवः । 'गोरतद्धितलुकि' (५. ४.
९२) इति टच् ॥

टीका० — वृद्धोक्षद्वयं वृद्धवृषे । पूर्ववत् समासान्ताच्च वृद्धोक्षः ।
'गोरतद्धितलुकि' (५. ४. ९२) इति समासान्तोऽच् । जरद्भवः ॥

उत्पन्न उक्षा जातोक्षः

क्षीर० — प्रसूतमात्रो जातोक्षः ॥

टीका० — उत्पन्न उक्षा सम्प्राप्तवलीवर्दभावः, तत्र जातोक्षः । अच-
तुरादिना समासान्तोऽच् ॥

सद्यो जातस्तु तर्णकः ॥ ६१ ॥

क्षीर० — तृणोत्पत्ति केवलं तर्णकः ॥

शकृत्करिस्तु वत्सः स्यात्

क्षीर० — शकृत् करोति शकृत्करिः । स्तम्बशकृतोर्ब्रीहिवत्सयो-
रुपसङ्ख्यानाद् इन् । वसति वत्सः ॥

दम्पदन्तुयरो सखी ॥

क्षीर० — दम्पदो दम्पः । वत्सत्वं तन्तुयरो वत्सतरः । 'वत्सो-
क्षाश्वर्षेभ्यश्च तन्तुये' (५. ३. ९१) इति प्रत्ययः । तन्तुत्वं द्वितीया-
प्राप्तिः ॥

टीका० — हृष्टवत्ये दाभ्योडेति क्यते दम्पद्वयम् । 'शोरदुषवात्'
(३. १. ९८) इति यति दम्पः । 'वत्सोक्षाश्वर्षेभ्यश्च तन्तुये' (५. ३. ९१)
इति प्रत्ययः वत्सतरः ॥

आर्षभ्यः षण्डतायोग्यः

क्षीर० — अण्डाकर्षणोचितः । षण्ड इत्येके । अत एव ऋषभस्य
प्रकृतिरार्षभ्यः । 'ऋषभोपातहोर्ज्यः' (५. १. १४) ॥

टीका० — षण्डतायोग्यो ऋषिभ्यश्च षण्डो वत्स आर्षभ्याख्यः । 'ऋष-
भोपातहोर्ज्यः' (५. १. १४) ॥

षण्डो गोपतिरिदं चरः ॥ ६२ ॥

क्षीर० — सन्त्यते उत्सृज्यते षण्डः । एषणमिदं, इषा चरति इद-
चरः स्वेच्छाचारी । इत्वर इत्येके पेटुः ॥

टीका० — षण्डत्रयं षण्डे । 'पणु दाने' । 'जनन्ताडुः' (उ० १. ११९) ।
षण्डः । '(षा ? सा) षण्डत्रिवत्सः सोमक्रयणः' इति वेदपाठात् साण्डो गोपतिरिदं चर
इति युज्यते पाठ इति देवेश्वरः । 'गोपतिनपुंसकयोः शण्डः' इति नामानुशासनम् ।
एषणम् इदं, तथा चरतीत्यच् । इदचरः ॥

स्कन्धदेशस्तत्त्ववहः

क्षीर० — वहन्त्यनेन वहः । 'गोचर—' (३. ३. ११९) इति
साधुः ॥

१. 'ण्डं त्रिवत्सं सो' छ. ज. पाठः. २. 'ति उज्ययु', ३. 'ति वारणसेवो दे' क. ख.
ग. घ. ङ. च. पाठः.

युगादीनां तु वोढारो युग्यप्रासङ्ग्यशाकटाः ।

क्षीर० — युगं प्रासङ्गं शकटं च वहति । 'तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४. ४. ७६) इति यत् । 'शकटादण्' (४. ४. ८०) ॥

टीका० — युगप्रासङ्गशकटानां वोढृषु युग्यत्रयम् । जूमाळेति ख्यातो युगः । दमनार्थमदम्यानां स्कन्धे यद् वक्रं काष्ठमासज्यते, स प्रासङ्गः । 'तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४. ४. ७६) इति यत् । 'शकटादण्' (४. ४. ८०) इत्यण् । शाकटः ॥

खनन्ति तेन तद् वोढास्येदं हालिकसैरिकौ ॥ ६४ ॥

क्षीर० — हलेन खनति । 'तेन दीव्यति—' (४. ४. २) इति ठक् । हलं वहति हलस्येदं चेति 'हलसीराट्ठक्' (४. ४. ८१, ४. ३. १२४) ॥

टीका० — तेन खनतीत्याद्यर्थत्रये हालिकसैरिकौ । अयमर्थः — लाङ्गलेन खनतः लाङ्गलं वहतः लाङ्गलस्येश्वरस्य च, तथा सीरेण खनतः सीरं वहतः सीरस्येश्वरस्य च यथाक्रमं नामद्वयम् । तत्र तेन खनतीत्यर्थे 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (४. ४. २) इति ठक्, तद्ववहत्यर्थे तस्येदमित्यर्थे च ॥

धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरंधराः ।

क्षीर० — धुरं वहति । 'धुरो यड्ढजौ' (४. ४. ७७) । 'खः सर्वधुरात्' (४. ४. ७८) इति योगविभागात् खः । धुरं धारयति धुरंधरः । कथञ्चित् संज्ञात्वात् खच् । धूर्धरोऽप्युक्षा स्यात् ॥

टीका० — धूर्वहपञ्चकं सामान्येन यो धुरं वहति तत्र । वहतेः पचाद्यच् । धूर्वहः । 'धुरो यड्ढजौ' (४. ४. ७७) इति यत् । 'न भकुर्लुगाम्' (८. २. ७९) इति प्रतिषेधाद् 'हलि च' (८. २. ७७) इति न दीर्घः । धुर्यः । खः सर्वधुरात्' (४. ४. ७८) इत्यत्र ख इति योगविभागात् खः । धुरीणः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' (६. ३. ६९) इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् धुरंधर इति न्यासकारः । पृषोदरादित्वाद् धूर्धरोऽपीत्यन्यः ॥

उभावेकधुरीणैकधुरावेकधुरावहे ॥ ६५ ॥

क्षीर० — 'एकधुराळुक् च' (४. ४. ७९) इति खः लुक् च ।
लुक्पक्षे 'ऋक्पूरब्धुः —' (५. ४. ७४) इत्यच् समासान्तः ॥

टीका० — एकस्यैव रथस्य लाङ्गलस्य वा यो धुरं वहति तत्र
एकधुरीणत्रिकम् । एका चासौ धूश्चेति एकधुरा । 'ऋक्पूरब्धुः पथामानक्षे' (५.
४. ७४) इति समासान्ताकारप्रत्ययः । स्त्रीत्वाद्वाप् । तां वहतीत्यर्थे 'एकधुराळुक्
च' (४. ४. ७९) इति खः लुक् च । लुक्पक्षे 'लुक् तद्धितलुकि' (१. २.
४९) इति स्त्रीप्रत्ययनिवृत्तिः । वहेः पचाद्यच् । एकधुरावहः ॥

स तु सर्वधुरीणो यो भद्रः सर्वधुरावहः ।

क्षीर० — 'खः सर्वधुरात्' (४. ४. ७८) ॥

टीका० — यः सर्वधुरां रथसम्बन्धिनीं लाङ्गलसम्बन्धिनीं च
वहति स सर्वधुरीणः । 'खः सर्वधुरात्' (४. ४. ७८) इति खः ॥

माहेयी सौरभेयी गौरुस्त्रा माहाँ च शृङ्गिणी ॥ ६६ ॥

अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी

क्षीर० — मद्यते पूज्यते माहा, तस्या अपत्यं माहेयी । सुरभ्या
अपत्यं सौरभेयी । वसति क्षीरमस्यामुस्त्रा । शृङ्गिण्यादयः सामान्यं
हित्वा विशेषे वर्तन्ते । अर्जुनी हि शुक्लगवी । न हन्त्यघ्न्या । 'अघ्न्या-
दयश्च' (उ० ४. ११३) इति साधुः । रोहिणी शबला । अनङ्गाही गौ-
रनङ्गुही च । प्रशस्ता गौर्गोमतल्लिको । सुरभिर्नानार्थे ॥

टीका० — माहेयीनवकं स्त्रीगवि । मद्या भूमेरपत्यं माहेयी । 'स्त्रीभ्यो
ढक्' (४. १. १२०) । एवं सौरभेयी । गोशब्द उक्तः । किरणे उक्तः ।

१. 'न्तोऽच् । स्त्री' क. ख. घ. च. छ. ज. झ. ञ. ट ठ., 'न्तः अः । स्त्री' इ.
पाठः. २. 'णः स्याद् यो हि स' ख. पाठः. ३. 'ता' ग. पाठः. ४. 'का ॥ स्या'
क. पाठः.

‘अपरिमाणविस्ताचित—’ (४. १. २२) इति ङीव् नास्ति, कालः सङ्ख्या च न परिमाणमिति ॥

टीका० — द्विसंवत्सरायां गवि द्विहायनीद्वयम् । ‘दामहायनान्ताच्च’ (४. १. २७) इति ङीपि द्विहायनी । द्वे वर्षे भूता द्वे वर्षे स्वसत्तया व्यासवती द्विवर्षा । ‘तमधीष्टो भूतो भूतो भावी’ (५. १. ८०) इति ठञ् । ‘चित्तवति नित्यम्’ (५. १. ८९) इति लुक् ॥

एकाब्दा त्वेकहायनी ।

चतुरब्दा चतुर्हायण्येवं त्र्यब्दा त्रिहायणी ॥ ६८ ॥

क्षीर० — ‘त्रिचतुर्भ्यां हायनाद् वयसि’ (वा० ४. १. २७) इति णत्वम् ॥

टीका० — एकवर्षायां गवि एकाब्दाद्वयम् । पूर्ववन्ङीष् ॥

वशा बन्ध्या

क्षीर० — वष्टि कामयते एवं वशा । वध्नाति (प्रेस्तौति?) बन्ध्या, बन्धनीया वा ॥

टीका० — वशाद्वयं बन्ध्यायाम् । वशोक्ता । अधन्यादित्वाद् यक्, उपधालोपाभावश्च । बन्ध्या ॥

अवतोका तु स्रवद्रर्भा

क्षीर० — अवच्छुतं तोकमपत्यमस्याः अवतोका । ‘अवस्रवन्ती मृतवत्सा स्रवद्रर्भे’ति माला ॥

टीका० — यस्याः दैववशाद् गर्भः स्रवति सा अवतोका । अव-
गलितं तोकमपत्यमस्या इति बहुव्रीहिः ॥

अथ सन्धिनी ।

१. ‘व’ शब्दाद् ‘व’ क. ग. घ. ङ. पाठः. २. ‘प्राप्नोति’ ख. पाठः. ३. ‘अव-
प्रसुवती मृ’ क. ग. ङ. पाठः.

आक्रान्ता वृषभेण

क्षीर० — सन्धानं सन्धा गर्भग्रहणमस्त्यस्याः सन्धिनी । ‘अ-
दुग्धा दोहकाले तु सन्धिनी’ इति कात्यः ।

“सन्धिन्यङ्गुलिदुग्धा गौर्वृषाक्रान्ता च सन्धिनी”
इति शाश्वतः ॥

टीका० — ऋषभेण या ऋतुमती आक्रान्ता सा सन्धिनी । गर्भः
सन्धीयतेऽस्यामिति सन्धिनी । दधातेर्ल्युट् । वृषोदरादित्वान्मध्यस्याकारस्य
इकारः ॥

अथ वेहद्रभोपघातिनी ॥ ६९ ॥

क्षीर० — विहन्ति गर्भं वेहते, ‘वेह प्रयत्ने’ अस्माद्वा । ‘वेहद् वृष-
भोपगते’ति भागुरिः ॥

टीका० — अनृतावपि वृषोपगमनवशाद् यस्या गर्भपातो भवति
तत्र वेहद्वयम् । ‘संश्चतृपद्वेहत्’ (उ० २. ८६) इति वेहेरुपधेत्वातिप्रत्ययाभ्यां
वेहन्निपातिता । वृषोपगमननिमित्तो गर्भघातोऽस्यामस्तीति गर्भोपघातिनी ॥

काल्योपसर्या प्रजने

क्षीर० — प्रजने गर्भग्रहणे प्राप्तकाला वृषेणोपसरणीयोपसर्या ।
‘उपसर्या काल्या प्रजने’ (३. १. १०४) इति साधुः ।

टीका० — प्रजने प्रथमगर्भग्रहणे काल्या प्राप्तकाला ऋतुमती या
सा उपसर्या । कालः प्राप्तोऽस्या इति ‘कालाद् यत्’ (५. १. १०७) इति
यत् । काल्या । उपात् सतेः ‘उपसर्या काल्या प्रजने’ (३. १. १०४) इति
यत् ॥

पष्ठौही बालगर्भिणी ।

१. ‘वु’ क. पाठः. २. ‘तु गर्भोपघातिनी । वे’ ख. पाठः. ३. ‘दि’ क. ख. पाठः.

क्षीर० — पठं वहति पष्ठौही । 'वहश्च' (३. २. ६४) इति ण्विः । 'वाहः' (४. १. ६१) इति ङीप् । 'वाह ऊट्' (६. ४. १३२) । 'एत्येधत्तूट्सु' (६. १. ८९) इति वृद्धिः । 'पष्ठौही कालगर्भिणी' इति सभ्याः । 'असिक्री बालगर्भिणी'ति भागुरिः । 'मलिनी बालगर्भिणी'ति माला ॥

टीका० — या बाला प्रथमगर्भिणी च सा पष्ठौही । 'वाहः' (४. १. ६१) इति ङीप् । 'वाह ऊट्' (६. ४. १३२) इत्यूट् । 'एत्येधत्तूट्सु' (६. १. ८९) इति वृद्धिः ॥

स्यादचण्डी तु सुकरा

क्षीर० — अचण्ड्यकोपनेत्यर्थः । बद्धादित्वाद् वा ङीप् । सुखेन क्रियते सुकरा । 'सुकुचे'त्यागमः ॥

टीका० — सुशीलायां गवि अचण्डीद्वयम् ॥

बहुसूतिः परेष्टुका ॥ ७० ॥

क्षीर० — परमिच्छति परेष्टुः । सकृत् प्रसूता तु गृष्टिः ॥

टीका० — बहुसूतिः भूरिप्रसवा परेष्टुकाख्या ॥

चिरसूता वष्कायिणी

क्षीर० — वस्कं (व्य?)तेऽतिक्रामति । वस्कयश्चिरकालः औणादिकात् षत्वम् । सोऽस्त्यस्या वष्कायिणी ॥

टीका० — चिरकालप्रसूतायां गवि वष्कायिणी । मूर्धन्यषः । 'वष्क-यस्त्वेकहायनो वत्स' इति शाकटायनः । तद्योगादिनिङीषौ ॥

धेनुः स्यान्नवसूतिका ।

क्षीर० — धयन्त्येनां धेनुः ॥

१. 'पड्क्ती वा' ख., 'सिक्ती वा' घ. पाठः. २. ३. 'षु' ख. घ. ङ. पाठः.
४. 'वर्क्यते' क. ग. घ. ङ. पाठः. ५. 'र' क. पाठः. ६. 'जः' ग. पाठः. ७. 'ले' ख. पाठः.

टीका० — प्रत्यग्रप्रसूतायां गवि धेनुः ॥

सुवृत्ता सुखसन्दोह्या

क्षीर० — सुशीलेत्यर्थः ॥

टीका० — सन्दानमन्तरेण या सुखेन दुहते सा सुव्रता ॥

पीनोद्गी पीवरस्तनी ॥ ७१ ॥

क्षीर० — पीनमूधोऽस्याः पीनोद्गी । ‘ऊधसोऽनङ्’ (५. ४. १३१) । ‘बहुव्रीहेरूधसो ङीष्’ (४. १. २५) । पीवरस्तनीति । ‘स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् —’ (४. १. ५४) इति ङीष् ॥

टीका० — बृहद्दूधःप्रदेशायां गवि पीनोद्गीद्वयम् । पीनमूधोऽस्योः पीनोद्गी । ‘ऊधसोऽनङ्’ (५. ४. १३१) इत्यनङ् । ‘बहुव्रीहेरूधसो ङीष्’ (४. १. २५) । ‘स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् —’ (४. १. ५४) इति ङीषि पीवरस्तनी ॥

द्रोणक्षीरा द्रोणदुघा

क्षीर० — द्रोणं दोग्धि द्रोणदुघा । ‘दुहः कब् घश्च’ (३. २. ७०) ॥

टीका० — द्रोणपरिमितक्षीरदायिन्यां गवि द्रोणक्षीराद्वयम् । द्रोणदुग्धं प्रसवतीति द्रोणदुघा । ‘दुहः कब् घश्च’ (३. २. ७०) इति कब् घैश्चान्तादेशः ॥

धेनुष्या बन्धके स्थिता ।

क्षीर० — ‘संज्ञायां धेनुष्या’ (४. ४. ८९) इति साधुः । आ ऋणशुद्धेर्या बन्धके स्थापिता सा पीतदुग्धाख्या ॥

१. ‘यां धेनुका ॥’ क. ख. ड. ठ. पाठः. २. ‘व्रता सु’ ख. पाठः. ३. ‘तु — ङी’ क. ग. घ. ड. पाठः. ४. ‘स्यां’ ख., ‘स्याम् इति पी’ ग. पाठः. ५. ‘घकारश्चा’ ग. पाठः. ६. ‘न्धस्या’ ख., ‘न्धे स्था’ ग. घ. ड. पाठः.

टीका० — गौर्महिषी वा दुग्धवन्धकं स्थिता धेनुप्या, मूर्धन्यषा ।
‘संज्ञायां धेनुप्या’ (४. ४. ८९) इति यत्पुगागमौ ॥

समांसमीना सा धैव प्रतिवर्षं प्रसूयते ॥ ७२ ॥

क्षीर० — ‘समां समां विजायते’ (५. २. १२) इति खः । समां
समामिति वीप्सा । विजायत इति प्रत्ययार्थः । गर्भधारणेन समावा-
प्य ? इति ‘कालाध्वनोः —’ (२. ३. ५) इति द्वितीया । समां समां
विजायते समांसमीना गौः । ‘पूर्वपदे सुपोऽलुक् वक्तव्यः’ (वा० ५.
२. १२) ॥

टीका० — वर्षे वर्षे प्रसवित्र्यां समांसमीना । समायां समायां विजा-
यत इत्यर्थे ‘समां समां विजायते’ (५. २. १२) इति खः । पूर्वपदे यलोपः ।
परिशिष्टस्य चालुक् ॥

ऊधस्तु क्लीबमापीनं

क्षीर० — उनत्सूधः । आप्यायते आपीनम् । ‘प्यायः पी’ (६.
१. २८) अनुपसर्गस्य । ‘सोपसर्गान्न’ (वा० ६. १. २८) । आङ्पूर्व-
स्यान्धूधसोर्वक्तव्यात् सोपसर्गस्य । ओदित्वान्निष्ठानत्वम् । हुम्भा-
रावो गवां ध्वनिः ॥

टीका० — गोस्तने ऊधोद्वयम् । ऊधः सान्तं क्लीबं दीर्घादि च । आङ्-
पूर्वात् प्यायेः क्तः । ‘आङ्पूर्वस्यान्धूधसोः’ (वा० ६. १. २८) इति वक्तव्येन
पीभावः । ‘ओदितश्च’ (८. २. ४५) इति नत्वम् । आपीनम् । अरुणस्तु पुंसि
पठति ॥

समौ शिवककीलकौ ।

क्षीर० — शिवात् कन्, शिनोति वा शिवकः । कीलयते बध्य-
तेऽस्मिन् कीलकः ॥

टीका० — गोष्ठे गवां बन्धनार्थं काष्ठे शिवकद्वयम् । शिव उक्तः ।

१. ‘ने’ ज. पाठः. २. ‘खः ॥’ क. ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘न्यां’ ग. ठ. पाठः.
४. ‘पी सो’, ५. ‘दोदि’ ग. घ. पाठः. ६. ‘वाधन्धू’ क. ख. ग. घ. ज. ठ. पाठः.
७. ‘कण्डूयना’ ग. पाठः.

‘कील बन्धने’ । ‘हलश्च’ (३. ३. १२१) इत्यधिकरणे घञ् । उभयत्र स्वा-
र्थे कः ॥

न पुंसि दाम सन्दानं

क्षीर० — दीयते रक्ष्यतेऽनेन, द्यति वा दाम । दामा स्त्री । सन्दी-
यते रक्ष्यतेऽनेन सन्दानं बन्धनरज्जुः ॥

टीका० — यत्रैकस्मिन् बहुप्रग्रहयुक्ते बहवो गावो बध्यन्ते, तत्र
दामद्वयम् । ‘दो अवखण्डने’ । मनिन् । दाम । स्त्रियां (टा ? डा)प् दामा सीमा-
वत् । सम्पूर्वो दाँः संयमैनार्थः । करणे ल्युट् । सन्दानम् ॥

पशुरज्जुस्तु दामनी ॥ ७३ ॥

क्षीर० — ‘नित्यं संज्ञाच्छन्दसोः’ (४. १. २९) इति ङीप् ॥

टीका० — वत्सरूपाश्वादीनां चरणपाशो दामनी । तथाच —

“वत्सानां रोषितैः कीलैर्दामनी पाशपाशितैः”

इति हरिवंशः । दामैव दामनी । प्रज्ञादेराकृतिगणत्वादण् । क्वचित् ‘पशुरज्जुस्तु
बन्धनी’ इति पाठः ॥

वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके ।

क्षीर० — विशाखासु जातो वैशाखः । ‘विशाखाषाढादण् मन्थ-
दण्डयोः’ (५. १. ११०) । विशाखस्यायं वा । मथ्यतेऽनेन मन्थः ।
‘पुंसि संज्ञायां घँः प्रायेण’ (३. ३. ११८) । मथ्नातीति मन्थार्थः । ता-
च्छील्ये चानञ् । मथिन्शब्दस्य ‘इतोऽत् सर्वनामस्थाने’ (७. १. ८६) ।
‘थो न्थः’ (७. १. ८७) । मन्था इत्येकत्वे । मन्थनार्थो दण्डो मन्थदण्डः ।
कः संज्ञायाम् । खजाकः कुण्डोऽपि ॥

टीका० — वैशाखपञ्चकं मन्थनदण्डे । ‘विशाखाषाढादण् मन्थदण्डयोः’
(५. १. ११०) इत्यण् । वैशाखः । करणे घञि मन्थः । मन्थानः, अद-

१. ‘स्य’ ग. पाठः. २. ‘न्धर’ क. ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘वो व’ ग. घ. ङ.
पाठः. ४. ‘दा सं’ ग. घ. पाठः. ५. ‘मार्थः’ क. ख. ज. ठ. पाठः. ६. ‘न्थ्य’ ग. पाठः.
७. ‘घः । म’ क. ख. पाठः. ८. ‘नः । चा’ क. ग. घ. ङ. पाठः. ९. ‘थ’ ख. पाठः.
१०. ‘ण्डकः ।’ क., ‘ण्डः ॥ ख’ ख. पाठः.

न्तोऽयम् । 'मन्थ विलोडने' । 'परमे कित्' (उ० ४. १०) इत्यनुवृत्तौ 'मन्थः' (उ० ४. ११) इत्यनेन सूत्रेण इनिः, स च कित् । एवं मथिन् । पथिञ्छब्द-
वद्रूपम् । 'अङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चे'ति वचनाद् द्वन्द्वेऽपि 'थो न्थः' (७. १. ८७) इत्यादि कार्यम् ॥

कुटरो दण्डविष्कम्भे

क्षीर० — कुटति कुटरः कुटको वा दण्डकुटके वर्तते । दण्डं वि-
ष्कम्भाति बध्नाति दण्डविष्कम्भः, यस्मिन् बद्ध्वा मन्थ आकृष्यते । म-
ञ्जीरोऽपि । दण्डकौटकमित्येके ॥

टीका० — यत्र स्तम्भेऽवकर्षणार्थं रज्ज्वा मन्थदण्डो बध्यते तत्र
कुटरः । दण्डस्य विष्कम्भो निबन्धको दण्डविष्कम्भः । मूर्धन्यषः ॥

मन्थनी गर्गरी समे ॥ ७४ ॥

क्षीर० — मथ्यैतेऽस्यां मन्थनी । गिरति दधि गर्गरी । कलशी
च ॥

टीका० — मन्थनकुम्भिकायां मन्थनीद्वयम् । अधिकरणे ल्युटि मन्थ-
नी । गर्गशब्दं रातीति गर्गरी, गौरादिः ॥

उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः

क्षीर० — उष्यते दह्यते मरावुष्ट्रः । क्रमादेलयति क्रमेलकः ।
मीनात्यर्हान् मयः, मयते गच्छति वा । यैम इत्येके ।

“दासेरको दीर्घजङ्घो ग्रीवी रणकधूम्रकौ” ॥

टीका० — उष्ट्रचतुष्कमुष्ट्रे । 'उष दाहे' । 'उषिखनिभ्यां कित्' (उ०
४. १६३) इति ष्टून् । उष्ट्रः । 'मय गतौ' । पचाद्यच् । मयः । महान्ति अङ्गा-
न्यस्येति महाङ्गाः ॥

करभः शिशौ ॥

क्षीर० — कं शिरो रभते उन्नमयति करभो बालोष्ट्रः ॥

१. 'जि' क. 'जी' २. 'काष्टक' ख. पाठः. ३. 'न्थ्य' घ. ङ. पाठः. ४.
'हि म' ख. पाठः. ५. 'मय इ' ग. घ. ङ. पाठः. ६. 'जिह्वो गीती उरणधू' ग.
घ. पाठः.

टीका० — उष्ट्रशिशौ करभः । किरतेः शरभवद् अभच् ॥

करभाः स्युः शृङ्खलका दारवैः पादबन्धनैः ॥ ७५ ॥

क्षीर० — ‘शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे’ (५. २. ७९) इति कन् । विकारे
‘नित्यं वृद्धशरादिभ्यः’ (४. ३. १४४) इति मयया दारुमयैरिति युक्तम् ॥

टीका० — दारुविकारैः पादबन्धनैर्लक्षिताः करभाः शृङ्खलकाः ।
‘शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे’ (५. २. ७९) इति कन् ॥

अजा छागी

क्षीर० — अजति गच्छति व्यायामशीलत्वादजा । ‘अजाद्यत-
ष्टाप्’ (४. १. ४) । छचति रोगान् छागी । ‘जातेरस्त्रीविषयादयो-
पधातु’ (४. १. ६३) इति ङीप् । स्त्रीप्रत्ययविशेषार्थं पृथक् पाठः ॥

टीका० — अजाद्वयं छाग्याम् ॥

शुभच्छागवस्तच्छगलका अजः ।

क्षीर० — शोभते शुभः । स्त(नो?भ्नो)ति स्त(भे?भो) निघण्डुषु ।
वस्ते वस्तः । छचति रोगान् छागः छगलश्च । छगोऽपि ॥

टीका० — तुभपञ्चकं छागे । ‘णभतुभ हिंसायाम्’ । इगुपधलक्षणः
कः । तुभः । ‘छो छेदने’ । खङ्गवद् गन् । छागः । ‘गन्ध वस्त अर्दने’ । कर्मणि
घञ् । वस्तः । ‘छो गुक् ह्रस्वश्च’ (उ० १. ११८) इति कर्लः । धातोर्गुणागमो
ह्रस्वश्च । छगलः । ‘जनी प्रादुर्भावे’ । ‘जनस्तो रश्च’ इत्यनुवृत्तौ ‘डोऽट् च’ इति डः
अडागमश्च धातोः । अजः ॥

मेढोरुभ्रोरणोर्णायुमेघवृष्णय एल्लकाः ॥ ७६ ॥

क्षीर० — मेहति मेहः । उरु भ्रमत्युरेभ्रः । उच्चैरभते वा ।
उः स्वरप्रतिरूपको निपातः । एवमुच्चै रणोऽस्य उरणः । उरण्याति

१. ‘त्’ । अजाद्य क. पाठः. २. ‘त्’ । ङी क. ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘थे’ क. ख.
पाठः. ४. ‘लः’ । ज’ क. ख. ङ. च. छ. ज. ट. पाठः. ५. ‘ण्डोरभ्रो’ क. ‘डोरभ्रो’ ग. घ.
ङ. पाठः. ६. ‘ण्ड’ ख. पाठः. ७. ‘काः’ ॥ एडशब्दार्थाः । मे’ ख. च., ‘काः’ ॥ एडशब्दा-
र्थत्वे मे’ ग. घ. ङ. पाठः. ८. ‘ण्डकः’ । उ’ क. ‘डकः’ । उ’ ग. ‘ण्डः’ । उ’ घ. पाठः. ९.
‘र’ क. पाठः. १०. ‘को वा नि’ ख. पाठः.

देवताः प्रीणातीति श्रीभोजः, कण्ड्वादिपाठात् । ऊर्णास्त्यस्योर्णायुः ।
'ऊर्णाया युम्' (५. २. १२३) । मेषते वाशते मेषः । पचाद्यच् । वर्षति
वृष्णिः । आ ईड्यन्तेऽनेन देवाः एडकः । हुडुश्च । अविर्नानार्थे ॥

टीका० — मेण्डसप्तकं मेण्डे । उरभ्रोरणौ ह्रस्वादी । ऊर्णा मेषलेम,
तद्योगाद् 'ऊर्णाया युम्' (५. २. १२३) । ऊर्णायुर्दीर्घादिः । 'मिष स्पर्धायाम्' ।
पचाद्यच् । मेषः । 'वृषु सेचने' । 'सृष्टिभ्यां कित्' (उ० ४. ९०) इति निः ।
वृष्णिः । स्त्रियामेडका ॥

उष्ट्रोरभ्राजवृन्दे स्यादौष्ट्रकौरभ्रकाजकम् ।

क्षीर० — 'गोत्रोक्षोष्ट्र' (४. २. ३९) इति वुञ् ॥

टीका० — यथाक्रममुष्ट्रादिसमूहे औष्ट्रकत्रयम् । 'गोत्रोक्षोष्ट्र' (४.
२. ३९) इत्यादिना वुञ् ॥

चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः ॥ ७७ ॥

क्षीर० — चक्रमस्त्यस्य तैलिकादिचक्रभ्रमणाच्च । 'आसन्दीवद-
ष्टीवच्चक्रीवद् —' (८. २. १२) इति साधुः । 'चक्रवालस्तु बालेय'
इति माला । बालेभ्यो हितो बालेयः । बाले वलने भवो वा । रासते
रासभः । 'रासृ शब्दे' । गर्दति गर्दभः । 'गर्द शब्दे' । शङ्कुकर्णोऽपि । खं
शब्दं राति खरः, खमस्त्यस्य वा । 'खमुखकुञ्जेभ्यो रः' (वा० ५. २.
१०७) । कूरो वा ।

"षट्त्वे पशुनामभ्यः षड्गवमथ गोयुगं द्वित्वे" ।

यथा मेषषड्गवम् । 'षट्त्वे षड्गवच्' (वा० ५. २. २९) इति वक्तव्यात्
षड्गवच् । गोगोयुगम् । 'पशुनामभ्यो द्वित्वे गोयुगच्' । (वा० ५. २. २९) ।

"अविसोढमविमरीसं तथाविदूसं पयो मेण्याः" ।

'अवेर्दुग्धे सोढदूसमरीसचः' (वा० ४. २. ३६) ॥

१. 'अधिर्ना' क. ग. घ. ङ. पाठः. २. 'वा' क. पाठः. ३. 'वम् । यथा
मेषषड्गवम् । षट्त्वे षड्गवच् इति वक्तव्यात् षड्गवच् । अथ गोयुगं द्वित्वे । यथा गोगोयुगम् ।
'पशुनामभ्यो द्वित्वे गोयुगच्' । अविसोढमविमरीसं दुग्धं तथाविदूसमवेः । 'अवेर्दुग्धे प्रत्यया
वक्तव्याः सोढदूसमरीसचः ॥' क. ख. च. छ. पाठः.

टीका० — चक्रीवत्पञ्चकं गर्दभे । मनुपि चक्रीवान् । ‘आसन्दीवर्दष्टीवच-
क्रीवद् —’ (८. २. १२) इत्यादिना चक्रीभावो निपात्यते । ‘रामृ शब्दे’ । ‘रामि-
वलिभ्यां चै’ (उ० ३. १२५) इत्यभच् । रासभः । ‘गर्द शब्दे’ । शलभवद-
भच् । गर्दभः ॥

वैदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक् ।

पण्याजीवो ह्यापणिकः क्रयविक्रयिकश्च सः ॥ ७८ ॥

क्षीर० — विदेहे उपचये भवो वैदेहः । सार्थान् सधनान् सरतो
वा पान्थान् वहति सार्थवाहः । निगमे आगमे भवो नैगमः । निगमो
वणिक्पथमस्य निवासो वा । पणते वणिक् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् ।
(वाणिजः) । आपणः प्रयोजनमस्य आपणिकः । क्रयविक्रयाभ्यां जीवति
क्रयविक्रयिकः । ‘वस्नक्रयविक्रयाट्टन्’ (४. ४. १३) इति सङ्घातवि-
गृहीतोऽट्टन् ॥

टीका० — वैदेहकाष्टकं वणिजि । वसिष्ठमुनिना राजा निमिर्ऋत्विङ्नि-
मित्तं विदेहो भवेति शप्तः । एतन्निमित्तं विदेह इत्यस्य नामाभूत् । विदेहेन च
वणिज्याशास्त्रं प्रणीतम् । अतो वणिजस्तच्छिष्याः । ‘धूमादिभ्यश्च’ (४. २.
१२७) इति शैषिको वुञ् । वैदेहकः । सार्थं वणिक्संघातं वहति देशान्तरं प्राप-
यतीति कर्मण्यणि सार्थवाहः । निगमः पुटभेदनं, तत्र भवो जातो वा नैगमः ।
पणत इति वणिक् । ‘पणेरिज्यादेश्च वः’ (उ० २. ७३) इतीजिप्रत्ययः आदेश्च
वः । इकार उच्चारणार्थः । वणिगेव वाणिजः । प्रज्ञादिः । पण्येनाजीवतीति
पण्याजीवः । ‘आङि पणिपतिखनिभ्यश्च’ (उ० २. ४५) इति इकन् । आप-
णिकः । क्रयविक्रयाभ्यां जीवतीति क्रयविक्रयिकः । ‘वस्नक्रयविक्रयाट्टन्’
(४. ४. १३) ॥

विक्रेता स्याद् विक्रयिकः

क्षीर० — विक्रीणीते भाण्डेन मूल्यं गृह्णाति ॥

१. ‘चक्रीवदष्टीवद्’ क. ख. च. ज. ठ. पाठः. २. ‘चित् इ’ क. ख. च. छ.
पाठः. ३. ‘फ’ क. पाठः. ४. ‘तार्धाट्टक् ॥’ ग. पाठः. ५. ‘द्वाष्ट’ क. ख. ज.
ठ. पाठः.

टीका० — विक्रेतृद्वयं विक्रेतरि । तृचि विक्रेता । पूर्ववद्वनि विक्रयिकः ॥

क्रायकः क्रयिकः समौ ।

क्षीर० — क्रीणाति मूल्यानं भाण्डं गृह्णाति क्रायकः । क्रयेण जीवति क्रयिकः ॥

टीका० — क्रायकद्वयं क्रेतरि । ण्वुलि क्रायकः । 'क्रय इकन्' (उ० २. ४६) इतीकन् । क्रयिकः ॥

वाणिज्यं तु वणिज्या स्याद्

क्षीर० — वणिजो भावः । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । 'दूतवणिग्भ्यां च' (वा० ५. १. १२६) इति वक्तव्याद् यच्च ॥

टीका० — वणिजां कर्मणि वाणिज्यद्वयम् । वाणिज्यमुक्तम् । दूत्यवद् यत् । टापि वणिज्या ॥

मूल्यं वस्तोऽप्यवक्रयः ॥ ७९ ॥

क्षीर० — मूलेनानाम्यं मूल्यम् । 'नौवयोधर्म —' (४. ४. ९१) इति यत् । वसत्यस्मिन् पण्यं वस्तः । अवक्रीयतेऽनेन अवक्रयः ॥

टीका० — मूल्यत्रयं मूल्ये । पटादीनामुत्पत्तिकारणं हिरण्यं मूलं, तदधिकं हिरण्यं मूल्यम् । 'नौवयोधर्मविषमूल —' (४. ४. ९१) इत्यादिना यत् । अधिकत्वाद् मूलेन नाभिभूयते । मूलाद् विक्रयार्थस्याल्पत्वे अभिभवनीयं स्यात् । वसतेः 'धातृवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ० ३. ६) । वस्तः । क्लीबं चैतदित्यन्यः ॥

नीवी परिपणो मूलधनं

क्षीर० — नीवीव परहस्तेऽप्यमाणत्वात् । परिपण्यते वृद्धयर्थं प्रयुज्यते परिपणः । मूलं लाभकारणम् ॥

१. 'ण्डं का' क. ग. घ. ङ. पाठः. २. 'चायच' क. पाठः. ३. 'लं नौ' ठ. पाठः. ४. 'त्वम्' क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. ङ. पाठः. ५. 'पृ' ठ. पाठः. ६. 'स्तेर्यमा' क. ख. ग. पाठः. ७. 'त्य' ग. घ. ङ. पाठः. ८. 'मे' ख. पाठः.

टीका० — नीवीत्रयं मूलधने भाण्डा इति स्याते । निपूर्वाद् व्यञः
'नौ व्यो यलोपः पूर्वपदस्य च दीर्घः' (उ० ४. ३७) इति इण्प्रत्ययः डिच्
यलोपः पूर्वपदस्य दीर्घत्वम् । ङीषि नीवी । घप्रत्यये परिपणः ॥

लाभोऽधिकं फलम् ॥ ८० ॥

क्षीर० — मूलधनाद् यदधिकं निष्पन्नं, स लाभः । फलं च
कैलान्तरादि ॥

टीका० — मूलधनविक्रयादधिकं यद् धनं लभ्यते, स लाभः ।
घञन्तः ॥

परिदानं परीवर्तो नैमेयनिमयावपि ।

क्षीर० — परिवृत्त्या दानं परिदानम् । निमेये परिवर्तनीये भवो
नैमेयः । निमानं निमयः । 'मेङ् प्रणिदाने' ॥

टीका० — प्रतिदानचतुष्कं परीवर्ते । ल्युटि प्रतिदानम् । दीर्घत्व-
विकल्पात् परिवर्तोऽपि । 'मेङ् प्रणिदाने' । विपूर्वः । 'अचो यत्' (३. १. ९७) ।
विमेयः । प्रज्ञाद्यणि वैमेयः । मिञ एरचि निमयः ॥

पुमानुपनिधिर्न्यासः

क्षीर० — उप समीपे निधीयते गुप्तं स्थाप्यते उपनिधिः । उप
समीपे निधेर्वा । न्यस्यते निक्षिप्यते न्यासः । निक्षेपोऽपि । स्मार्ते त्वेषां
भेदोऽस्ति —

“वांसनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्पितम् ।

द्रव्यं तूपनिधिर्न्यासः प्रकाश्य स्थापितं तु यत् ॥

निक्षेपः शिल्पिहस्ते तु भाण्डं संस्कर्तुमर्पितम् ।”

१. 'ने' ठ. पाठः. २. 'ङ्' ख. ग. च. ङ., 'ङच्प्र' क. ड. छ. ट. पाठः.
३. 'वद् दी' क. ख. ड. च. छ. ट. ठ. पाठः. ४. 'ददी' ज. पाठः. ५. 'का' क. ख.
घ. ड. पाठः. ६. 'वै', ७. 'वि', ८. 'वै' ख. पाठः. ९. 'भाजन' क. ख. पाठः.
१०. 'तदुपधि' ग. पाठः.

टीका० — उपनिधिद्वयं निक्षेपे । निधिरुक्तः । उपपूर्वादुपनिधिः ।
‘असु क्षेपणे’ । घञ् । न्यासः ॥

प्रतिदानं तदर्पणम् ॥ ८१ ॥

क्षीर० — तस्य न्यासस्य निक्षेत्रे प्रतीपं दानं प्रतिदानम् । परि-
दानमित्येके ।

“प्रत्यक्षदानात् स्वीकारोऽवक्रयः कृतकं च तत्” ॥

टीका० — निक्षेपार्पणे परिदानम् । परिपूर्वो ददातिन्यासार्पणे ॥

क्रये प्रसारितं क्रय्यं

क्षीर० — क्रयनिमित्तमापणे न्यस्तं क्रय्यम् । ‘क्रय्यस्तदर्थे’ (६.
१. ८२) इति साधुः ॥

टीका० — क्रयोऽस्य भवत्विति यद् घट्टादौ प्रसारितं वस्तु, तत् क्रय्या-
ख्यम् । क्रीणातेः ‘अचो यत्’ (३. १. ९७) । ‘क्रय्यस्तदर्थे’ (६. १. ८२)
इत्यादेशः ॥

क्रयं केतव्यमात्रके ।

क्षीर० — यथा क्रयो गौर्वर्तते न च क्रयोऽस्ति ॥

टीका० — केतव्यमात्रे वस्तुनि न तु प्रसारिते क्रयम् । ‘अचो यत्’
(३. १. ९७) ॥

विक्रेयं पणितव्यं च पण्यं

क्षीर० — ‘अवद्यपण्य —’ (३. १. १०१) इति साधुः ॥

टीका० — विक्रेयत्रयं विक्रयणीये । ‘क्रय्यस्तदर्थे’ (६. १. ८२)
इत्यनुपसर्गनिर्देशाद् विक्रय्यमसाधुरिति श्रीकण्ठः । पणेस्तव्यत् । पणितव्यम् ।
‘अवद्यपण्यवर्या —’ (३. १. १०१) इत्यादिना यति पण्यम् ॥

क्रयादयस्त्रिषु ॥ ८२ ॥

क्षीर० — वाच्यलिङ्गा इत्यर्थः ॥

टीका० — क्रय्यादयस्त्रिषु ॥

क्लीबे सत्यापनं सत्यङ्कारः सत्याकृतिः स्त्रियाम् ।

क्षीर० — अवश्यं मयैतद् विक्रेयमिति सत्यस्य करणं सत्यापनम् । 'सत्यापपाश —' (३. १. २५) इति णिच् । 'अर्थवेदसत्यानामापुक्' (वा० ३. १. २५) । 'कारे सत्यागदस्य' (६. ३. ७०) इति मुम् । 'सत्यादशपथे' (५. ४. ६६) इति डाच् ॥

टीका० — अवश्यं सत्यमिदं कर्तव्यमित्याख्याने सत्यापनत्रयम् । 'सत्यापपाश —' (३. १. २५) इत्यादिना ण्यन्ताल्ल्युट् । सत्यापनम् । पवर्गवत् । 'सत्यापनां सत्याकृतिरिति स्त्रीकाण्डे वोपालितः । सत्यङ्कार इति 'कारे सत्यागदस्य' (६. ३. ७०) इति मुम् । सत्यस्य कृतिः सत्याकृतिः । 'सत्यादशपथे' (५. ४. ६६) इति डाच् ॥

विपणो विक्रयः

क्षीर० — विपणनं विपणः । चुराद्यं(द)न्तादच् । अन्यथा विपाणः स्यात् ॥

टीका० — विपणद्वयं विपणक्रियायाम् । 'नित्यं पणः परिमाणे' (३. ३. ६६) इत्यप् ॥

सङ्ख्याः सङ्ख्येये द्वादश त्रिषु ॥ ८३ ॥

क्षीर० — एकाद्या दशान्ताः संख्याः सङ्ख्येये वर्तमानास्त्रिलिङ्गाः । एका शाटी एकः पटः एकं कुण्डम् । दश स्त्रियः दश पटाः दश कुण्डानि । आदशेत्सष्टादशान्ताः ॥

टीका० — आदशं दर्शश्रुतिपर्यन्तम्, आ अष्टादशभ्य इति यावत् । एकादिसङ्ख्याशब्दाः सङ्ख्येयवस्तुनि वर्तमानास्त्रिषु । एतेषां च संख्यासंख्येययोः सामानाधिकरण्यं भवति । एको ब्राह्मणः एका स्त्री एकं ब्राह्मणकुलम् । दश

ब्राह्मणाः दश स्त्रियः दश ब्राह्मणकुलानि इत्यादि । एतस्य चाभिधेयलिङ्गतया त्रिष्वित्युक्तं, न तु ब्राह्मणानामित्यादिवैयधिकरण्यं भवति । 'अनश्च' (१. ४. १०८) इति समासान्ताचि आदशमकारान्तम् । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' (२. १. १३) इति समासः ॥

विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।

क्षीर० — विंशत्याद्याः सर्वा एव संख्याः संख्येये संख्यायां (च) नित्यमेकवचनान्ता वर्तन्ते । यद् भाष्यम् — 'आ दशभ्यः संख्याः संख्येये वर्तन्ते । अत ऊर्ध्वं संख्याने संख्येये च' । विंशतिः पटाः विंशतिः पटानाम् । शतं गावः शतं गवाम् ॥

टीका० — विंशत्याद्याः सर्वे एव संख्याशब्दा बहुवचनविशिष्टसंख्येयवचना अपि एकत्ववृत्तय एव । तद् यथा विंशतिर्गावः । संख्यावचनत्वे तु गवां विंशतिः । भेदनिबन्धना षष्ठी ॥

संख्यार्थे द्विवहुत्वे स्तः

क्षीर० — संख्यामात्रेऽर्थे वर्तमानाया विंशत्यादेः संख्याया द्विवचनबहुवचने अपि स्तो भवतः, एकशेषात् । द्वे विंशती तिस्रो विंशतयः । गवां विंशती गवां विंशतयः ॥

टीका० — यदा तु संख्यान्तरस्यार्थेऽभिधेये विंशत्यादयो वर्तन्ते, तदा द्विवचनबहुवचने अपि भवतः । द्वे विंशती तिस्रो विंशतयः । पञ्च शतानीति ॥

तासु चा नवतेः स्त्रियः ॥ ८४ ॥

क्षीर० — विंशत्याद्या नवत्यन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

टीका० — तासु विंशत्यादिषु । आ नवतेः नवतिं व्याप्य । विंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवत्यो भिन्नलिङ्गैनापि समानाधिकरणाः ।

१. 'नि । अष्टादश ब्राह्मणा इ' ग. पाठः. २. 'न्ते । ऊ', ३. 'दिस', ४. 'स्तः, ए' ख. पाठः. ५. 'षो द्वे' क. ग. घ. ङ. पाठः. ६. 'तिः' ख. घ. ङ. पाठः. ७. 'ङ्गा अपि' ग. पाठः.

स्त्रियः स्त्रीलिङ्गाः । यथा — विंशत्या^१ पुरुषैः विंशतिः कुण्डानि एकविंशतिः कुण्डानीति ॥

पङ्क्तेः शतसहस्रादि क्रमाद् दशगुणोत्तरम् ।

क्षीर० — द्वौ पञ्चतौ^२ पङ्क्तिर्दशाख्या । ‘पङ्क्तिर्विंशतित्रि-
शत् —’ (५. १. ५९) इति साधुः । दश पङ्क्तयः शतं, दश शतानि^३
सहस्रं, दश सहस्राण्ययुतम् । इत्थं परार्थान्तान्यष्टादश गणितस्थानानि ।
यथाहुः —

“एकदशशतसहस्राण्ययुतप्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम् ।

अर्बुदकोटिन्यर्बुदपञ्चे खर्वं निखर्वमिति दशभिः ॥

गुणनान्महाब्जशङ्कू समुद्रमध्यान्तमथ परार्थं च ।

स्वहतं परार्थममितं तत्स्वहतं भूर्यतोऽसङ्ख्यम् ॥”

प्रयुतसंज्ञं लक्षम् । अर्बुदसंज्ञा कोटिरित्यर्थः ॥

टीका० — पङ्क्तिशब्देन दशसंख्योच्यते । पङ्क्तेः प्रभृति दशगुणोत्तरक-
मेण शतसहस्रादि । तद् यथा — दश दशगु (णं?णाः) शतं, शतं दशगुणं सहस्रं,
सहस्रं दशगुणमयुतमित्यादि । तदुक्तम् —

“एकं दश शतमस्मात् सहस्रमयुतं ततः परं लक्षम् ।

प्रयुतं कोटिमथार्बुदमब्जं खर्वं निखर्वं च ॥

तस्मान्महासरोजं शङ्कूं सरितां पतिं ततस्त्वन्यम् ।

मध्यं परार्थमाहुर्न्यथोत्तरं दशगुणं तज्ज्ञाः” ॥

पौतवं हुवयं पाय्यमिति मानार्थकं त्रयम् ॥ ८५ ॥

क्षीर० — पुनातीति पोतुर्मानभाण्डशोधकः पोतवाध्यक्षाख्यः ।
तस्येदं पौतवम् । द्रोर्विकारो हुवयम् । ‘द्रोश्च’ (४. ३. १६१) । ‘माने
वयः’ (४. ३. १६२) । पाति पाय्यम् । ‘पाय्यसाम्नाय्य—’ (३. १. १२९)
इति साधुः । मीयतेऽनेनेति मानम् । पौतवं तुलादि, हुवयं प्रस्थादि, पाय्यं
हस्तादीति गौडो भ्रान्तः ॥

१. ‘त्या कुपु’ क. ख. पाठः. २. ‘कौ’ क. ग. घ. पाठः. ३. ‘नि तु स’
ग. पाठः.

टीका०— यौतवत्रयं मानसामान्ये । केचित्तु अनन्तरं 'मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैरिति' वक्ष्यति, तदृष्ट्या यथाक्रमं यौतवं तुलादि, द्रुवपं वितस्त्यादि, पाठ्यं प्रस्थादीति सम्बन्धन्ति । तन्न युज्यते । तथाच वोपालितः —

“प्रस्थः सानौ द्रुवपे चराचरे जङ्गमे भवने”

इति । यदि यथाक्रमं सम्बन्धः, तदा द्रुवपे प्रस्थ इति न स्यात् । 'यु मिश्रणे' । बहुलवचनाद् भावे 'वसेस्तुन्' (उ० १. ७८) इति तुन् । योतुः शोधनं, तदर्थतया तस्येदं यौतवं तुलादिशोधनोपाय इति यौतवाध्यक्ष इत्यध्याये चाणक्यटीकाकृतोक्तम् । द्रुवक्षः, तद्विकारो द्रुवपम् । 'द्रोश्च' (४. ३. १६१) इत्यनुवृत्तौ 'माने वपः' (४. ३. १६२) इति वपः । यथाकथञ्चिद् व्युत्पात्तिरियम् । रूढशब्दोऽयम् । मीयतेऽनेनेति पाठ्यम् । 'पाठ्यसान्नाय्य —' (३. १. १२९) इत्यादिना ण्यद् आदिपत्वं युगागमश्च निपात्यते । एवं पवर्गादिर्द्वितालव्यश्चेत्युपदेशपरम्परा ॥

मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैः

क्षीर० — मीयते मानं मीयतेऽनेन च । तत्र तुलाद्युन्मानम्, अङ्गुल्यादि प्रमाणं, प्रस्थादि परिमाणम् । यदाहुः —

“ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।

आयामस्तु प्रमाणं स्यात् सङ्ख्या भिन्ना तु सर्वतः ॥”

‘संख्या बाह्या तु सर्वतः’ इति पाठभेदः ॥

टीका० — तन्मानं वस्तुतस्त्रिधा, तुलाङ्गुलिप्रस्थभेदात् । तुलाग्रहणेनोन्मानाद्युपलक्ष्यते, अङ्गुल्या हस्तादि, प्रस्थेन द्रोणकादि ॥

गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः ।

क्षीर० — गुञ्जा रक्तिका । आद्यो मुख्यः । ‘धान्यकणा दश माषकः । तथा द्वे कृष्णले रूप्यमाषे’ इति दर्शनात् । अस्मिन् कालेऽद्य इत्येके । यदाहुः — “माषकं सप्त कृष्णलाः” ॥

१. 'बाह्या तु', २. 'भिन्ना तु' क. पाठः. ३. 'न्यु', ४. 'न्ते' ड. पाठः.
५. 'न' ख. पाठः. ६. 'सामक' ड. पाठः.

‡ अत्र सर्वत्र वप इत्यस्य स्थाने वय इत्येव पठितव्यं भाति ।

टीका० — पञ्च गुञ्जाः काकचिञ्चिकाः । आद्यः प्रथमः, शास्त्रीयो मा-
षक इत्यर्थः । माषो मूर्धन्यषः । 'संज्ञायां कन्' (५. ३. ७९) । दशकृष्णलापेक्षया
आद्यत्वम् ॥

ते षोडशाक्षः कर्षोऽस्त्री

क्षीर० — अक्षणोत्यक्षः । कर्षति कर्षः ॥

टीका० — ते माषकाः षोडश अक्षद्वयवाच्याः । अक्ष उक्तः । कृ-
षोऽच् । कर्षः । अस्त्री ॥

पलं कर्षचतुष्टयम् ॥ ८६ ॥

क्षीर० — 'पल रक्षायाम्' ॥

टीका० — कर्षचतुष्टये पलम् ॥

सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे

क्षीर० — सुवर्णमस्त्यस्य, अर्शआदित्वादच् । विस्यते विस्तः ।

'विस उत्सर्गे'† । अक्षे षोडशमाषके माने द्वौ वर्तेते । यत् स्मृतिः—

“पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश” ॥

टीका० — हेम्नोऽक्षे कर्षे सुवर्णद्वयम् । हेमजातिवचनस्तु सुवर्णशब्दः
स्त्रीवे । विस्तः सकारतकारवान् ॥

कुरुविस्तस्तु तत्पले ।

क्षीर० — कुरुदेशे प्रसिद्धो विस्तः कुरुविस्तो हेमपलम् । यन्मा-
ला — 'पलेन हि सुवर्णस्य कुरुविस्तः' ॥

टीका० — तत्पले कुरुवि(न्दः? स्तः) ॥

तुला स्त्रियां पलशतं

क्षीर० — तोल्यते तुला । 'चिन्तिपूजि—' (३. ३. १०५) इति
चकारादङ् । डित्करणसामर्थ्याद् गुणाभावः ॥

१. 'क्षो' घ. पाठः. २. 'स्य' क. ग. घ. ङ. पाठः.

† उत्सर्ग इत्यर्थेलेखनं बुसधातुभ्रान्त्या, यतो 'विस प्रेरणे, विस्यति' इत्येव तरङ्गिण्यां
क्षीरस्वाम्याह ।

टीका० — कपित्थतुलेत्यर्थशास्त्रप्रयोगाद् यस्यकस्यचित् पलशतं तुला ।
'तुल उन्माने' । चुरादिणिचोऽनित्यत्वाद् ह्युपधलक्षणः कः, ततश्चाबिति धातु-
प्रदीपः ॥

भारः स्याद् विंशतिस्तुलाः ॥ ८७ ॥

क्षीर० — भ्रियते भारः । पुंसां हि द्वे पलसहस्रे वोढुं शक्येते ॥

टीका० — विंशत्या तुलाभिर्भारः । भृजो घञ् । भरश्चात्र । 'भरोऽतिश-
यभारयोः' इति रुद्रः ॥

आचितो दश भाराः स्युः शकटो भार आचितः ।

क्षीर० — आचीयते आचितः । स च शकटेन वोढुं शक्यः । अन्ये
तु विंशतिपलसहस्राण्याचितमाहुः । शकटभारस्ततोऽतिरिक्तोऽप्याचित
एवेति । अत एव शकटाख्योऽप्याचित इति पुनराचितग्रहणेन द्योत्यते ॥

टीका० — दश भारा आचितम् । रूपभेदात् क्लीबम् । 'शकटभरोऽप्या-
चितः प्रोक्तः' इति रत्नकोषार्या । अतो दीर्घादिः । 'आचितो दशभिर्भरैरिति'
पुंस्काण्डे अमरमाला । प्रसङ्गादनेकार्थतां चाचितस्याह — शकटस्य यो भारः
शकटोन्मेयः सोऽप्याचितः, पुमान् ॥

कार्षापणः कार्षिकः स्यात्

क्षीर० — कर्षसंबन्धिना आपण्यते व्यवहियतेऽनेन रूप्यरूपकेण
स कार्षापणः । कर्षः प्रमाणमस्यै कार्षिकः ॥

टीका० — सुवर्णताम्रादेः शास्त्रीयपञ्चकृष्णलो माषः । रजतस्य द्विकृष्ण-
लः । तथाच मनुः —

“द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रूप्यमाषकः” ।

एवम्भूतषोडशमाषकैर्यो रजतकर्षः, तत्कृतो व्यवहारः कार्षिकः ताम्रकार्षापणः ।
कर्षस्यायं कार्षिकः । अध्यात्मादित्वाट्टञ् ।

“स्यात् कार्षिकः पुराणः कार्षापणमुभयतो नृशण्डत्वम्”

इति वोपालितः । अतः पुराणोऽप्यस्य पर्यायः । आद्यव्यवहारे रजतकृष्णलाया

१. 'न्ये वि' घ. पाठः. २. 'दि' क. पाठः. ३. 'स्य स का' घ. पाठः.
४. 'णोऽस्य' क. पाठः.

दश गण्डका मूल्यं, द्वात्रिंशता च रजतकृष्णलाभी रजतकर्षः, मिलित्वा षोडशकपर्दकपणा एव मूल्यम् । अत्रैव च लोके उपचारात् पुराणकार्षापणयोः प्रयोगः ॥

कार्षिके ताम्रिके पणः ॥ ८८ ॥

क्षीर० — ताम्रमयं कर्षप्रमाणं रूप्यं पणः । तन्मूल्यं चोपचाराद् अशीतिः श्वेतकाः ॥

टीका० — पञ्चकृष्णलकारब्धताम्रकार्षिके पणः । साधितः प्राक् । आद्य-
व्यवहारेण हि पञ्चगुञ्जामाषसङ्ख्यया ताम्रपलस्याशीतिगण्डका मूल्यं, कर्षस्य च
विंशतिगण्डकाः । अत्रैव च लोकैरुपचारात् पणशब्दः प्रयुज्यते । कार्षिकवत्
ताम्रिकः ॥

अस्त्रियावाढकद्रोणौ खारी वाहो निकुञ्चकः ।

कुडुबः प्रस्थ इत्याद्याः परिमाणार्थकाः पृथक् ॥ ८९ ॥

क्षीर० — पृथगिति एषामपर्यायत्वम् । परिमाणविशेषा एते ।
यदाहुः—

“पलं प्रकुञ्चकं मुष्टिः कुडुबस्तच्चतुष्टयम् ।
चत्वारः कुडुवाः प्रस्थश्चतुष्प्रस्थमथाढकम् ॥
अष्टाढको भवेद् द्रोणो द्विद्रोणः शूर्प उच्यते ।
स च शूर्पो भवेत् खारी द्विशूर्पा गोण्युदाहता ॥
तामेव भारं जानीयाद् वाहो भारचतुष्टयम् ।
शुष्कमेयेष्विदं मानं द्विगुणं तद् द्रवेषु तु ॥”

तत्तद्देशभेदात् सङ्ख्यान्यथात्वम् । तथाच कचिच्चतुराढको द्रोणः ।
षोडशद्रोणा खारी । विंशतिद्रोणः कुम्भः । दशकुम्भो वाहः ॥

टीका० — आढकादयः सप्त प्रत्येकं परिमाणार्थकाः । दशाङ्गुलं वा
सर्वतोमानमाढकम् । अपचयविवक्षायामाढकी । चतुराढको द्रोणः । षोडशद्रोणा
खारी । वाहो विंशतिखारीकः । खारीपादो मानी । मानीपादो द्रोणः । द्रोणपाद
आढकः । आढकपादः प्रस्थः । प्रस्थपादः कुटवः । कुटवपादो निकुञ्जः । अयं

च प्रसृतं इति ख्यातः । इतिशब्देनाद्य(त्वे ? र्थे) न मानी । प्रवर्तिकादय आद्याः । पृथग् भेदेन परिमाणार्थवाचकाः द्रव्याणां लौहानां दारवाणां वाचकाः, न तु पर्याया इत्यर्थः । प्रवर्तिश्च खारीपञ्चकम् । तथाच गणिते —

“बाहो विंशतिखारीभिर्भरिका स्यादनेन तु ।

प्रवर्तिः पञ्चखारीभिः सस्यमानं प्रकीर्तितम् ॥

निकुञ्जं यावदाखार्याः पादं पादावशेषितम् ।

मानीद्रोणाढकप्रस्थकुटुवेषु भवेदिति ॥”

ये तून्मानार्थाः कुटुवादयः, पलचतुष्टयं कुटुवः, कुटुवैश्चतुर्भिः प्रस्थः, प्रस्था-
श्चत्वार आढकाः, चत्वार आढका द्रोणः, षोडश द्रोणाः खारी, विंशतिद्रोणाः
कुम्भः, कुम्भैर्दशभिर्बाह इत्यादयः शास्त्रान्तरे परिभाषिताः, ते तुलामात्र एवा-
न्तर्भूताः ॥

अंशस्तुरीयः पादः स्याद्

क्षीर० — रूपकादेश्चतुर्थोऽंशः पादः । ‘पदरुज —’ (३. ३. १६)
इति कर्तरि घञ् ॥

टीका० — तुरीयो भागश्चतुर्थोऽंशः पादाख्यः । ‘अंशस्तुरीयो भागः
स्यादि’ति प्रमादपाठः । तथा च —

“पादा ब्रह्माङ्घ्रितुर्यांशरश्मिप्रत्यन्तपर्वताः” ।

नहि तुर्यभागोऽंशशब्दे दृश्यते ॥

अंशभागौ तु वण्टकः ।

क्षीर० — अंशतैः अंशः । भज्यते भागः । वक्ष्यते विभज्यते वण्टकः ॥

टीका० — अंशत्रयं भागे । स्कन्धे अंश उक्तः । भजेर्घञ् । भागः ।
‘वटि विभाजने’ । घञ् । वण्टः । स्वार्थे कन् ॥

द्रव्यं वित्तं स्वापतेयमुक्थं रिक्थं धनं वसु ॥ ९० ॥

हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरविभवा अपि ।

क्षीर० — ‘द्रव्यं च भव्ये’ (५. ३. १०४) इति साधुः । विन्द-
न्त्यनेन वित्तम् । ‘वित्तो भोगप्रत्यययोः’ (८. २. ५८) इति साधुः ।

स्वापतेयं, 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्दञ्' (४. ४. १०४) । ऋच्यते स्तूयते ऋक्थम् । एवं रिक्थम् । दधन्ति धनम् । वस्ते छादयति वसु, वसतीश्वर-गृहे वा । ह्रियते हिरण्यम् । द्रवति द्रविणम् । द्यूयते द्युम्नम् । 'द्यु अभि-गमने' । अर्ह्यतेऽर्थः । रान्त्येनां राः । स्त्रीत्येके । विभवति विभवः ॥

टीका० — द्रव्यत्रयोदशकं धने । 'द्रोश्च' (४. ३. १६१) इति यत् । द्रव्यम् । 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' (८. २. ५८) इति निपातनाद् विदेर्लभार्था-दुत्तरस्य निष्ठातो नत्वाभावः । वित्तम् । स्वपतौ धनपतौ साधु स्वापतेयम् । पाथे-यवद्धञ् । स्वागतादित्वादैन्यनिषेधः । 'रिचिर् विरेचने' । 'पातृतुदिर्वचिरचिसिचि-भ्यः कथन्' (उ० २. ७) । रिक्थम् । 'ऋच स्तुतौ' । बाहुलकात् कथन् । ऋक्थम् । बाहुलके नकि ऋक्नमिति गोवर्धनः । 'धन धान्ये' । अच् । धनम् । वस्तेः स्वरुवद् उः । वसु । 'हर्ष्य गतिकान्त्योः' । हर्ष्यतेः क्यन् हिरणादेशश्च धातोः । हिरण्यम् । 'द्वुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २. ५३) । द्रविणम् । दिवि आन्नायत इति द्युम्नम् । 'झा अभ्यासे' । 'घञर्थे कविधानम्' (वा० ३. ३. ५८) इति कर्मणि क इति धातुप्रदीपः । अर्तेः कुष्ठवत् थन् । अर्थः । 'रातेर्दैः' (उ० २. ६९) इति डैः । (रैः राः) । विभव उक्तः ॥

स्यात् कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते ॥ ९१ ॥

क्षीर० — कूयते शब्द्यते कोशः । कुष्यते आकूष्यते आयस्था-नेभ्यः कोष इत्येके । हेम कृताकृतं घटितमघटितं च ॥

टीका० — कृताकृतं हेमरूप्यं च मिलितं कोष(त्र?द्र)यवाच्यं, न तु यथाक्रमं सम्बन्धः । तथाच भागुरिः —

“कोषमाहुर्हिरण्यं च हेमरूप्यं कृताकृतम् ”

इति । तत्र पिण्डीकृतमाहरीकृतम् आदितं(?)कृतम् । आकरोत्थम्, अजातक-र्म चूर्णादिरूपमकृतम् । कोशस्तालव्यशो मूर्धन्यषश्चेत्युक्तं प्राक् । अनेकार्थो-ऽयम् ॥

ताभ्यां यदन्यत् तत् कुप्यं

क्षीर० — हेमरूप्याभ्यामन्यत् ताम्रादि । गोपनीयं कुप्यम् ।
'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्य —' (३. १. ११४) इति साधुः ॥

टीका० — ताभ्यां हेमरूप्याभ्यां यदन्यत् तैजसं द्रव्यं ताम्रकांस्यादि
यच्चतैजसं राजपट्टदारुवि(षया?षा)दिकम् असारद्रव्यं, तत् सर्वं कुप्यम् ।
तथाहि — कुप्याध्यक्षप्रचारे लोहवर्गश्चर्मवर्गो विषादिवर्गश्च दर्शितः । 'कुप्य-
मसारं द्रव्य'मिति तैट्टीकाकृतश्च । 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्यान्यध्याः'
(३. १. ११४) इति गुपेः क्यप् आदिकत्वं च निपात्यते । कुप्यम् ॥

रूप्यं तद्वयमाहतम् ।

क्षीर० — रूपमाहन्यते स्म रूप्यम् । 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्'
(५. २. १२०) । द्वयं कृप्याकुप्यम् ॥

टीका० — तद्वयमिति हेमरूप्यम् आहतं च परापरपुरुषरूपमुत्थापयितुं
निघातिकया ताडितं दीनारादिकं रूप्यशब्दवाच्यम् । 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्'
(५. २. १२०) इति यप् ॥

गारुत्मतं मरतकमश्मगर्भो हरिन्मणिः ॥ ९२ ॥

क्षीर० — गारुत्मत इदं जातं विषं हन्तुं गारुत्मतम् । मरं * तक्-
न्यनेन मरतकम् । अश्मनो गर्भोऽश्मयोनिः । हरिन्नीलवर्णो मणिः ॥

टीका० — गारुत्मतचतुष्कं मरतके । गरुडप्रभवत्वाद् गारुत्मतम् ॥

शोणरत्नं लोहितकः पद्मरागः

१. 'रं, कुद्र' ग. ड. पाठः. २. 'तु टीका' क. पाठः. ३. 'रु' घ. ड. पाठः.
४. 'प्यं प' ग. ठ. पाठः. ५. 'नि' ठ. पाठः. ६. 'कतम्' क. ग. घ. पाठः. ७. 'लो म'
ख. पाठः. ८. 'भत्वा' क. ख. ड. पाठः.

* 'तक सहने । हसन इति दुर्गः ।' इति क्षीरतरङ्गिणी ।

क्षीर० — शोणं च तद् रत्नं च । लोहितं एव लोहितकः । लो-
हितान्मणौ' (५. ४. ३०) । कन् ॥

टीका० — शोणरत्नत्रयं पद्मरागे । लोहितो मणिर्लोहितकः । 'लोहि-
तान्मणा' (५. ४. ३०) इति कन् ॥

अथ मौक्तिकम् ।

मुक्ता

क्षीर० — विनयादित्वात् स्वार्थे वा ठक् ॥

टीका० — मौक्तिकद्वयं मुक्तायाम् । विनयादित्वात् स्वार्थे ठकि मौ-
क्तिकम् ॥

अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्नपुंसकम् ॥ ९३ ॥

क्षीर० — विशिष्टो द्रुमो विद्रुमः, विद्रवत्यर्थान् । प्रवते प्रब-
लते वा(र्थे? व्येः) ऊर्ध्वे प्रवालम् ।

“सूर्यकान्तस्त्वग्निमणिवैदूर्यं वालवायजम्” ॥

टीका० — विद्रुमद्वयं प्रवाले ॥

रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च ।

क्षीर० — रमन्तेऽस्मिन् रत्नम् । मण्यते शब्द्यते मणिः । पुंस्त्री-
लिङ्गः । अश्मजातीयं मरतकेन्द्रनीलादि । आदिशब्दाद् विद्रुमादि वज्रपद्म-
रागादि वा पानीयभाण्डत्वात् ॥

टीका० — अश्मजातौ मरतकपद्मरागस्फटिकादौ मुक्तावज्रादौ च रत्न-
द्वयम् । 'रमेस्त च' (उ० ३. १४) इति तः नोऽन्तादेशश्च । रत्नम् ॥

स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् ॥ ९४ ॥

१. 'तमेव', २. 'कम् ।', ३. 'थे ठ' ख. पाठः. ४. 'लः', ५. 'कः ॥',
६. 'लः ।' क. पाठः. ७. 'कतेन्द्र' क. ख. पाठः. ८. 'दि प' क. पाठः.

तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्तुरम् ।

चामीकरं जातरूपं लहारजतकाञ्चने ॥ ९५ ॥

रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोज्ज्वियाम् ।

क्षीर० — शोभनो वर्णोऽस्य स्वर्णम् । समासे वर्णस्य(वा)वल्लोप-
माहुः । यथा पञ्चार्णो मन्त्रः । कनति कनकम् । 'कन दीप्तौ' । हिनोति
हेम । हटति हाटकम् । 'हट दीप्तौ' । ण्वुल् । तप्यते तपनीयम् । शतकुम्भे
गिरौ भवं शातकुम्भम् । शातकौम्भमित्येके । तत्पक्षे अनुशुतिकादि-
त्वादुभयपदवृद्धिः । गङ्गाया अपत्यं गाङ्गेयम् । भ्रियते भार्यते वा भर्म ।
कर्षति लोहमर्ध्यं दृष्यति कर्तुरं नानारूपं वा । चमीकरकृतस्वरावाकरौ ।
भवेऽण् । जातरूपम् अकृतकरूपं कुङ्कुदेशजम् । महच्च तद् रजतं रञ्ज-
कम् । कञ्चति काञ्चनम् । 'काचि दीप्तौ' । रोचते रुक्मम् । जम्बूनदे
जम्बूफलरसोत्थे नदे जातं जाम्बूनदम् । अष्टासु लोहेषु पदं प्रतिष्ठास्या
ष्टापदम् । 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६. ३. १२५) दीर्घः । कल्याणम् अर्जुनं
कलधौतं गैरिकं भूरिचन्द्रं वसु च ॥

टीका० — स्वर्णादय एकोनविंशतिः स्वर्णे । सुष्ठु दीप्यत इति स्व-
र्णम् । 'ऋणु दीप्तौ' । पचाद्यच् । शोभनं वर्णमस्येति सुवर्णम् । 'कर्नी दीप्तौ' ।
क्वुन् । कनकम् । हिरण्यमुक्तम् । 'हि गतौ' । मनिन् । हेम । 'हट दीप्तौ' ।
ण्वुल् । हाटकम् । तपनं दाहमर्हतीति तपनीयम् । 'अर्हे कृत्यतृचश्च' (३. ३.
१६९) इत्यनीयर् । शतकुम्भपर्वते भवं शातकुम्भम् । गङ्गायामग्निना न्यस्तस्य
माहेश्वरबीजस्य तत्त्वेन भूतत्वाद् गाङ्गेयम् । 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४. १. १२३)
इति ढक् ।

“यं गर्भं सुषुवे गङ्गा पावकाद् दीप्ततेजसम् ।

त(दर्थं ? दुर्लभं) पर्वते न्यस्तं हिरण्यं समपद्यत ॥”

१. 'म्भ', २. 'ते भ' ग. पाठः. ३. 'ते भ' क. ख. घ. ङ. पाठः.
४. 'ध्ये क' क. पाठः. ५. 'क' घ. ङ. पाठः. ६. 'द् रञ्ज' क. ग. घ. ङ.
पाठः. ७. 'ग्म' ख. ग. घ. ङ. पाठः. ८. 'द्वीपे ज' ङ. पाठः. ९. 'दीजे ज' क.
पाठः. १०. 'त्थ', ११. 'या' क. ङ. पाठः. १२. 'ऊन' ज. पाठः. १३. 'नि'
ङ., 'न' ज. पाठः. १४. 'क' भू. ठ. पाठः.

इति वायुपुराणे । भृजो मनिन् । भर्ष । कर्वुरमुक्तम् । जातं रूपमस्येति जातरूपम् । 'कचि दीप्तिवन्धनयोः' । कर्तरि ल्युट् । पृषोदरादिदीर्घत्वम् । काञ्चनम् । रोचतेः युग्मवद् मक् । रुक्मम् ।

“स्थगयन्त्यमूः शमितचातकार्तस्वरा

जलदास्तटितुलितकान्तकार्तस्वराः ।” (स० ४. श्लो० २४)

इति माघयमकात् कार्तस्वरं दन्त्यसम् । जम्बूरसनिःष्यन्दप्रसवा नदी जम्बूनदी, तत्र जातं जाम्बूनदम् । अष्टौ पदान्युपत्तिरानान्यस्येत्यष्टापदम् । 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६. ३. १२५) इति दीर्घः ॥

अलङ्कारसुवर्णं शृङ्गीकनकमित्यदः ॥ ९६ ॥

क्षीर० — शृङ्गचलङ्कारकारिका, तदर्थं कनकम् ॥

टीका० — कनककुण्डलादेरलङ्कारस्य सुवर्णं शृङ्गीकनकं, केवलश्च शृङ्गीशब्दः । तथाच 'भूषणकनकं शृङ्गी'ति नाममाला । ह्रस्वान्तोऽपि शृङ्गीशब्दः । तथाच बाणः—

“वर्षसमूहमिवान्तःस्थितापरिमाणशृङ्गिहेमकूटम्”

राजकुलमिति सम्बन्धः । अद इति, एतत् ॥

दुर्वर्णं रजतं रूप्यं खर्जूरं श्वेतमित्यपि ।

क्षीर० — दुर्वर्णं सुवर्णापेक्षया । रज्यते हेन्ना रजतम् । रूप्यति रूप्यम् । 'रुप लुप विमोहने' । खर्जति खर्जूरम् । 'खर्ज व्यथने' । इति-शब्दात् सितादि । अपिशब्दात् तारं कलधौतं च ॥

टीका० — दुर्वर्णपञ्चकं रूप्ये । स्वर्णापेक्षया निन्दितं वर्णमस्येति दुर्वर्णम् । 'पृषिरञ्जिभ्यां कित्' (उ० ३. १११) इत्यतच् । रजतम् । शब्दत्रयं व्युत्पादितम् ॥

रीतिः स्त्रियामारकूटो न स्त्रियाम्

क्षीर० — रीयते स्रवति रीतिः । इयर्त्सारः, तस्य कूटं पित्तलाख्यम् । आरोऽपि । कपिलोहं च ।

१. 'गम' क. ग. पाठः. २. 'दी, त' ड. पाठः. ३. 'द्र', ४. 'त्यन्यतामारः' क. ग. पाठः. ५. 'ह' क. पाठः.

“ब्राह्मी पिङ्गा ब्रह्मरीतिः कांस्यं लोहो द्विलोहकम्” ॥

टीका० — रीतिद्वयं पित्तले । ‘री गत्यादौ’ । क्तिन् । रीतिः । रेफो-
पधापीत्यन्यः ॥

अथ ताम्रकम् ॥ ९७ ॥

शुल्बं म्लेच्छमुखं द्यष्टवरिष्ठोदुम्बराणि च ।

क्षीर० — ताम्यति ताम्रम् । स्रवति द्रवति शुल्बम् । म्लेच्छदेशो
मुखमुत्पत्तिरस्य । द्वे हेमरूपे अक्षुते द्यष्टम् । अतिशयेन वरं वरिष्ठम् ।
कालिकानिवृत्तं स्वर्णं हि तत् । अत एवोदुम्बरम् । उद्भूताम्बरमिति
नैरुक्ताः । औदुम्बरमित्येके । रक्तधौतकं च ।

“सौराष्ट्रकं पञ्चलोहे वर्तलोहे तु वर्तकम्” ॥

टीका० — ताम्रषट्कं ताम्रे । आभ्रवत् ताम्रम् । ‘शुच शोके’ । ‘उल्वा-
दयश्च’ (उ० ४. ९६) इति बन्, लृत्वं, गुणाभावः । शुल्बम् । म्लेच्छमुखं समुदितं
नाम । वरिष्ठं द्यष्टद्वितीयान्तम् । ‘औदुम्बरं च ताम्रमि’ति नाममालार्यापाठादौ
कारवदौदुम्बरम् ।

“उच्यते गैरिकं धातुस्ताम्रं शुल्बमुदुम्बरम्”

इति हलायुधः ॥

लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसी ॥ ९८ ॥

अश्मसारः

क्षीर० — लुनाति लोहं, ‘लुह कथनादौ’ वा । शस्यतेऽनेन
शस्त्रम् । ‘शसु हिंसायाम्’ । तेज्यते तेजयति वा तीक्ष्णम् । शस्त्रान्तरच्छे-
दकत्वात् । वैकृतैकाख्यं तत् । ‘तिज निशाने’ । पिण्ड्यते पिण्डम् । कालं
च तदयः कालायसम् । ‘अनोऽश्मायः—’ (५. ४. ९४) इति टः । अयते
भेद्यमयः । अश्मनः सारोऽश्मसारः । यत् स्मृतिः — “अश्मभ्यो लोह-
मुत्थितम्” । पारशवं घनं च ॥

१. ‘शु’ ख. पाठः. २. ‘वृ’ ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘न्ताख्यं’ ख., ‘तका’
ग. घ. ङ. पाठः.

टीका० — लोहसप्तकं लोहे । रुहेर्वज्रि लत्वे च लोहोऽस्त्री । शस्त्रमु-
क्तम् । स्वार्थिकोऽत्र कन् । तीक्ष्णपिण्डशब्दावुक्तौ । कालं च तदयश्चेति कालाय-
सम् । ‘अनोऽश्मायस्सरसां जातिसंज्ञयोः’ (९. ४. ९४) इति समासान्तष्टच् ।
इणः ‘अमुन्’ (उ० ४. १९०) इत्यमुनि अयः । अश्मनः सारोऽश्मसारः ।
अमरमालायामश्मसारं क्लीबम् ॥

अथ मण्डूरं सिंहानमपि तन्मले ।

क्षीर० — मण्डते मण्डूरम् । हिनस्ति सिंहानम् । ध्मायमानस्या-
यसो मलम् ॥

टीका० — तन्मले लोहमले मण्डूरद्वयम् । खर्जूरवन्मण्डूरम् । ‘शिवि
आघ्राणे’ । ‘आनकच् शीङ्भियः’ (उ० ३. ८२) इत्यनुवृत्तौ ‘(आ ?) शिङ्घिधाञ्-
भ्यश्च’ (उ० ३. ८३) इत्यानकच् । शिङ्घाणकः । पृषोदरादित्वात् कलोपः ॥

सर्वं स्यात् तैजसं लोहं

क्षीर० — तेजसो विकारस्तैजसम् । हेमाद्यपि लोहम् । यदाहुः—

“सुवर्णं रजतं ताम्रं रीतिः कांस्यं तथा त्रपु ।

सीसं च (च ? त) मरं चैव अष्टौ लोहानि चक्षते ॥”

शस्त्रं तु विशेषालोहम् ॥

टीका० — सर्वं च तैजसं सुवर्णरजतताम्रारकूटकांस्यरङ्गसीसकायोरूपम-
ष्टविधं लोहाख्यम् । तेजोऽस्मिन् विद्यत इति तैजसम् । ‘अणूपकरणे ज्योत्स्ना-
दिभ्य उपसंख्यानम्’ (वा० ५. २. १०३) इत्यण ॥

विकारस्त्वयसः कुशी ॥ ९९ ॥

क्षीर० — कुत्सितं श्यति कुशी फालः । यच्छाश्वतः— ‘कुशो दर्भः
कुशी फालः’ । ‘जानपदकुण्डगोण —’ (४. १. ४२) इत्ययोविकारे कुशाद्
ङीष् ॥

टीका० — फालात्मकेऽयोविकारे कुशी । (तया वन्दयो विकारो!)
‘ज्ञानपदकुण्डगोण —’ (४. १. ४२) इत्यादिना ङीप् ।

“कुशा वल्गा कुशी फालः कुशो दर्भः कुशं जलम्”

इति व्याडिः ॥

क्षारः काचः

क्षीर० — क्षरति गलति क्षारः । कचति काचः ॥

टीका० — काचाख्ये मृत्तिकाविशेषे क्षारद्वयम् । ‘क्षर सञ्चलने’
‘कच बन्धने’ । घञ् ॥

अथ चपलो रसः सूतश्च पारते ।

क्षीर० — चपलोऽस्थैर्यात् । रस्यते रसायनार्थिभी रसः । सूते
हेमायुषी सूतः, शिवात् प्रसूतो वा । पिपति पारतं, पारं तनोति वा ॥

टीका० — चपलचतुष्कं पारदे । शब्दत्रयं साधितम् ।

“रसेन्द्रः पारदः प्रोक्तः पारतोऽपि निगद्यते ”

इति तारपालः ।

“पारतस्तु मनाक् पाण्डुः सूतस्तु स सितो मनाक् ।

शीतः सर्वे तुल्यगुणाः स्मृताः”

इति शब्दार्णवः ॥

गवलं माहिषं शृङ्गम्

क्षीर० — गा अलति वारयत्यनेन गवलं, गवते वा ॥

टीका० — माहिषशृङ्गे गवलः ॥

अभ्रकं गिरिजामले ॥ १०० ॥

क्षीर० — अभ्रप्रतिकृतिरभ्रकम् । गिरिजं च तदमलं च गिरिजा-
मलम् । गौर्या मल इति धातुविदः ॥

टीका० — अन्नकत्रयम् अङ्गके । गिरौ जातं गिरिजम् । अमल-
मुक्तम् ॥

स्रोतोञ्जनं तु सौवीरं कापोनाञ्जनयामुने ।

क्षीर० — अज्यतेऽक्षयनेनाञ्जनं, यमुनास्रोतसो जातम् । सुवी-
रदेशे भवं सौवीरम् । कपोतवर्णं कापोताञ्जनम् । यमुनास्रोतसो जातं
यामुनम् । धन्वन्तरिस्तु —

“अञ्जनं मेचकं कृष्णं सौवीरं स्यात् सुवीरजम् ।
कापोतकं यामुनं च स्रोतोञ्जनमुदाहृतम्” ॥

टीका० — स्रोतोञ्जनचतुष्कं स्रोतोञ्जने । नदीस्रोतोभवत्वात् स्रोतो-
ञ्जनं, रात्र्यन्धोपयुक्तम् । काञ्जिके सौवीरमुक्तम् । एतत् पर्वतेयम् । अल्पभेद-
त्वादभेदः । कपोताख्यमञ्जनं कपोताञ्जनम् । यमुनाभवं यामुनम् ॥

तुत्थाञ्जनं शिखिग्रीवावितुन्नकमयूरकम् ॥ १०१ ॥

कर्परी

क्षीर० — तुदत्याक्षिरोगांस्तुत्थम् । शिखिग्रीवं मयूरग्रीवाभम् ।
वितुदति रोगान् वितुन्नकम् । मयूरप्रतिकृतिर्मयूरकम् । कल्पते रोगान्
जेतुं कर्परी ॥

दार्विकाकाथोद्भवं तुत्थरसाञ्जनम् ।

रसगर्भं ताक्ष्यशैलं

दारुहरिद्राकाथोत्थं, तुत्थं च तद् रसाञ्जनम् । दार्वीरसस्य
गर्भो रसगर्भम् । ताक्ष्यशैले कुल्लतायां भवम् । रसजातं रसा-
ग्र्यं च ॥

टीका० — तुत्थाञ्जनचतुष्कं पुषातुत्थाञ्जनमिति ख्याते । ‘तुद व्यथने’ ।

१. ‘आम्र इति ख्याते । गि’ ज., ‘आह इति ख्याते । गि’ ड. पाठः. २. ‘त
ईक्ष्यतेऽन’ ख. ग. घ. ङ. पाठः. ३. ‘वीकर’ क. ड. पाठः. ४. ‘का’ ख. पाठः.

‘पातुदिवेचि—’ (उ० २. ७) इत्यादिना कथः । तुत्थं तदञ्जनं चेति तुत्थाञ्जनम् । मयूरकण्ठाभत्वाच्छिखिदीयन् । तुदः क्तादि । वितुत्रकम् । तस्मिन् तुत्थे काथोज्ज्वे आवर्तिते कर्परीद्वयम् ।

“तुत्थाञ्जनं काथोज्ज्वं कर्परीद्वयिके स्त्रियौ”

इति रभसश्च । तुत्थ इति ख्याते तुत्थाञ्जनम् । नामद्वयमित्यन्यः । रसाञ्जनत्रयं रसाञ्जने ॥

गन्धाश्मनि तु गन्धिकः ॥ १०२ ॥

सौगन्धिकश्च

क्षीर० — गन्धोऽस्यास्तीति गन्धिको गन्धपाषाणः । रसगन्धी गन्धकोऽयम् । सौगन्धिकं च ॥

टीका० — गन्धाश्मत्रयं गन्धके । मत्वर्थायठनि गन्धिक इत्य(प ! पि) पाठः । तेन जयतीति ठकि सौगन्धिको ना ।

“गन्धको गन्धपाषाणः पामन्नश्च सुगन्धकः”

इति माधवः ॥

चक्षुष्याकुलाल्यौ तु कुलस्थिका ।

क्षीर० — चक्षुषे हिता चक्षुष्या दृक्प्रसादाख्या । कुलमलति कुलाली । कुले तिष्ठति कुलस्था कुलस्थप्रतिकृतिर्वा । लोकोक्तौ ताक्ष्य-कुल्या । आह च—

“कुलाली लोचनहिता दृक्प्रसादा कुलस्थिका” ॥

टीका० — कुलस्थाकारप्रस्तरेऽञ्जनविशेषे चक्षुष्यात्रयम् । ‘शरीराव-यवाद् यत्’ (९. १. ६) इति यति चक्षुष्या । कुलालीत्यर्थग्रहणम् । तेन कुम्भ-कारीत्यपि ।

१. ‘स्थाञ्जनौञ्ज’ ज. पाठः. २. ‘न्ध’, क. पाठः. ३. ‘कं च ग’ ख. पाठः.
४. ‘न्ध’ क. पाठः. ५. ‘न्धी च’ क. ग. घ. ङ. पाठः. ६. ‘स्थि’ ङ. पाठः. ७. ‘स्थि-
का कु’ ख. पाठः. ८. ‘स्थ’ क. ग. घ. ङ. पाठः. ९. ‘क’ ङ. पाठः.

“चक्षुष्या कुम्भकारी च कुलाली च कुलशिक्षा”

इति रत्नमाला च ॥

रीतिपुष्पं पुष्पकं तत् पौष्पकं कुसुमाञ्जनम् ॥ १०३ ॥

क्षीर० — रीतेर्ध्यायमानस्य पुष्पाभं मलं रीतिपुष्पम् । पुष्पप्रतिकृतिः पुष्पकम् । पक्षे स्वार्थेऽण् ॥

टीका० — रीतिपुष्पचतुष्कं कुसुमाञ्जने । रीतिः पित्तलं, तस्याः पुष्परजः, मलमिति यावत् । तथाच योगशतकव्याख्याने सनातनः — ‘रीतिकायां ध्याय्यमानायां यदुत्पद्यते मलं, तत् पुष्पाञ्जनमिति । पुष्पकमित्येव नाम ॥

पिञ्जरं पीतनं तालतालं च हरितालके ।

क्षीर० — ‘पिजि हिंसादौ’ । पीयते पीतनं, पीतं वर्णं नयाति वा । आलाति शोभामालम्, अलति भूषयति वा । हरेः पीतवर्णस्य तालं प्रतिष्ठास्मिन् हरितालं, हरितमलयति भूषयति वा । तालं च भीमवत् । यद् धन्वन्तरिः —

“हरितालं तु गौदन्तं पीतकं तटमण्डनम् ।

आलं च तालं जैरं च पिञ्जरं विस्रगन्धिकम् ” ॥

टीका० — पिञ्जरपञ्चकं हरिताले ॥

गैरेयमर्थ्यं गिरिजमश्मजं च शिलाजतु ॥ १०४ ॥

क्षीर० — गिरेरिदं गैरेयम् । अर्थ्यते रसायनार्थिभिरर्थ्यम् । शिलातः स्रवज्जत्वाकृति शिलाजतु ॥

टीका० — गैरेयपञ्चकं शिलाजतुनि । एतच्च वानरैर्भक्षिते तद्विष्टाया-मौत्तरापथिकैः प्राप्यते । ‘इतश्चानिजः’ (४. १. १२२) इति ढकि गैरेयम् । ‘धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते’ (४. ४. ९२) याकि अर्थ्यम् । पाषाणजातत्वादश्मजम् ॥

बोलो गन्धरसप्राणपिण्डगोपरसाः समाः ।

क्षीर०—बोल्यते बोलः । 'बुल निमज्जने' । गन्धप्रधानो रसोऽस्य गन्धरसः । प्राणित्यनेन प्राणः । पिण्ड्यते द्रव्यान्तरैः । पिण्डसहत्वात् पिण्ड इत्येके । गां पाति रसोऽस्य गोपरसः । गोपो रसो भीमवत् । गोशशशाः समा इत्येके । गां श्यति गोशः । शशते शशः ॥

टीका०—बोलषट्कं गन्धरसे । प्राणपिण्डशशा उक्ताः । गोसो दन्त्यसः ॥

डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः

क्षीर०—डिण्डीति शब्दधीरयति डिण्डीरः । दादिर्वा । डिर्डा-
दिमवत् । अब्येः कफ इवाधिक्ये बहिःप्रसरादब्धिकफः सागरमलाख्यः ।
नद्यास्तूपचारात् । स्फायते फेनः ॥

टीका०—हिण्डीरत्रयं समुद्रफेने । 'हिडि गत्यनादिरयोः' । 'कृ-
शू—' इत्यादिना बहुलवचनादीरानि हिण्डीर इति गोवर्धनीयोणादिवृत्तिः ।
रूपरत्नाकरे तु 'खादे र', इड्(भ्य ?), हिण्डेरादेश्च डः' इति सप्रत्यये इटि डत्वे च
डिण्डीरः । 'टिण्डीरापिण्डपरिमाण्डिते'त्यादिप्रयोगो बृहत्कथायाम् । पैशाचिके हि
टवर्गस्यैव टकारादेशो भवति ॥

सिन्दूरं नागसम्भवम् ॥ १०५ ॥

क्षीर०—सिनोति वध्नाति चेतः सिन्दूरं, (सिन्दय?स्यन्द)ते वा ।
नागात् सीसात् सम्भवोऽस्य नागसम्भवम् । चीनपिष्टं गन्धपङ्कोऽपि ।
धन्वन्तरिस्तु—

“सिन्दूरं रक्तेरेणुश्च नागरक्तं च नागजम् ।

शृङ्गारभूषणं श्रीमद्वसन्तोत्पलमण्डनम् ॥

हंसपादो हिङ्गुलके” ॥

टीका०—सिन्दूरद्वयं सिन्दूरे । 'स्यन्देः संप्रसारणं च' (उ० १. ६८)
इत्यूरन् । सिन्दूरं दन्त्यसम् ॥

१. 'ण्डुं सहतत्वा' ख. पाठः. २. 'व्याडिः । दाडि' च. पाठः. ३. 'डि' ड.
पाठः. ४. 'गान्धारप' क. पाठः.

नागसीसकयोगेष्टवप्राणि

क्षीर० — न न गच्छति चलत्वान्नागम् । सिनोति बध्नाति पारतं
सीसकं, सीसपत्रं च । हेम्नो वर्णोत्कर्षार्थं योगे श्लेषे इष्टं योगेष्टम् । उ-
प्यते वप्रम् । हेम्नो वर्णोत्कर्षे बीजत्वात् ॥

त्रपु पिच्चटम् ।

रङ्गवङ्गे

त्रपत इवाग्नेराशुद्रुतेस्त्रपु । पिच्चयते कुच्यते पिच्चटम् । रज्यतेऽनेन
रङ्गम् । वङ्गति द्रवति वङ्गम् । आलीनमपि ॥

टीका० — नागषट्कं सीसके ।

“श्रेष्ठे च कद्रुजे नागः क्लीवं सीसकरङ्गयोः”

इत्यनेकार्थः । सीसमेव सीसकं द्विदन्त्यसम् । योगेष्टमित्येकं नाम । ‘वैद्रो ना
सीसपत्रकम्’ इत्यमरमाला ।

“स्यादारकूटो रीतिश्च सीसकं त्रपु बन्धकम् ।

नागं महाबलश्चैव योगेष्टं वमुनेष्टकम् ॥”

इति व्याडिः ।

“सीसपत्रं बहुमलं योगेष्टं पिष्टपिचटे ।

.....रङ्गसीसकयोस्त्रपु ॥”

इति रुद्रः । वसुवत् त्रपु । ‘पिच्च कुट्टने’ । ‘शकादिभ्योऽटन्’ (उ० ३. ८२)
इत्यटन् । पिच्चटम् । रङ्गद्वयं रङ्गे । ‘रगिवगी गत्यर्थौ’ । पचादी । त्रपुचतुष्टय-
मेव रङ्ग इत्यन्यः ॥

अथ पिचुस्तूलः

क्षीर० — पिच्यते सूत्रमस्मात् पिचुः, पियति वा । ‘पिचु गतौ’ ।
तूल्यते फलात् तूलः । ‘तूल निष्कर्षे’ । निर्बीजकार्पासोऽयम् । ‘रङ्गवङ्गेऽथ
पिचु(रिःल इ)ति प्रगृह्यसंज्ञाविस्मृतेः पाठः ॥

१. ‘ते विकु’ ग. पाठः. २. ‘पत्रोर्णा सी’ क. पाठः. ३. ‘पिचय’ ख. पाठः.
४. ‘बीज’ ख. पाठः. ५. ‘ङ्गे अथ’ क. पाठः.

टीका० — पिचुद्वयं कार्पासादितूलके । 'पिचु मर्दने' । बाहुलक उः ।
तुः सौत्रः । 'शूलादयश्च' इति क्लः दीर्घत्वं च । तूलः । पिचुतूल इति संघातोऽपि ॥

“तूलः पिचुः पिचुतूलस्तर्कटी सूत्रतर्ककः”

इति रभसः ॥

अथ कमलोत्तरम् ॥ १०६ ॥

स्यात् कुसुम्भं वह्निशिखं महारजनमित्यपि ।

क्षीर० — कमलेभ्य उत्तरं वर्णाधिक्यात् कमलोत्तरम् । कुस्यति
कुसुम्भम् । 'कुसु श्लेषणे', कौ स्तुभ्यते (निकुच्यते ?) वा । कुसिः
सौत्रः (?) । वह्नेरिव शिखास्य वह्निशिखम् । महच्च तद् रजनं, रज्यतेऽने-
नेति रजनरजकरजस्मूपसंख्यानान्नलोपः ॥

टीका० — कमलोत्तरचतुष्कं कुसुम्भे वस्त्ररञ्जनद्रव्ये । 'कुसि श्लेषणे' ।
'कुसेरूलोम्भोमेदेताः कित्' । (उ० ४. १०८) इति उम्भः । कुसुम्भो दन्त्यसः ।
वह्नेरिव शिखास्येति वह्निशिखम् । 'रञ्जेः क्युन्' (उ० २. ८१) इति क्युन् ।
महारजनम् ॥

मेषकम्बल ऊर्णायुः

क्षीर० — काम्यते शीतार्तैः । 'कम्बलः कमनीयो भवती'ति नि-
रुक्तम् । ऊर्णस्यस्योर्णायुः । 'ऊर्णायु युस्' (प. २. १२३) ॥

टीका० — मेषरोमरचिते कम्बले मेषकम्बलद्वयम् । 'ऊर्णायु युस्'
(प. २. १२३) । ऊर्णायुर्दीर्घादिः ॥

शशोर्णं शशलोमनि ॥ १०७ ॥

क्षीर० — शशस्योर्णा शशोर्णम् । गृहस्थूणवत् क्लीवे ॥

टीका० — शशस्योर्णा लोम शशोर्णं क्लीवं शशलोमनि ॥

मधु क्षौद्रं माक्षिकादि

क्षीर० — मह्यंतेऽभिलष्यते मधु पुष्परसाख्यम् । क्षुद्राभिर्मक्षिका-
भिश्च कृतम् । 'क्षुद्राभ्रमर —' (४. ३. ११९) इत्यञ् । आदिशब्दात् पौ-
त्तिकभ्रामरादि । अगणितोऽवान्तरभेदो गजनिमीलिकयैव । यन्निमिः —

“माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम् ।
विज्ञेयं भ्रामरं श्वेतं क्षौद्रं तु कपिलं मतम्” ॥

टीका० — मधुशब्देन क्षौद्रमुच्यते माक्षिकादि च । आदिना भ्रामरवा-
टरपौत्तिकादि । क्षुद्राभिः कृतं क्षौद्रम् । 'क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्' (४. ३. ११९)
इत्यञ् । मक्षिकया कृतं माक्षिकम् । एवं सारधम् । 'संज्ञायाम्' (४. ३. ११७)
इत्यण् ॥

मधूच्छिष्टं तु सिक्थकम् ।

क्षीर० — मधुना उच्छिष्यते त्यज्यते मधूच्छिष्टम् । सिञ्चति
सिक्थकम् ॥

टीका० — मधूच्छिष्टद्वयं सिक्थं इति ख्याते । 'पिच क्षरणे' । पातृतु-
दिवचिशिचिसिचिभ्यः कथन् (उ० २. ७) । ततः स्वार्थे कः ॥

मनश्शिला मनोयुता मनोद्वा नागजिह्विका ॥ १०८ ॥

क्षीर० — मनोवाच्या शिला । मनश्शब्देन हूयते मनोद्वा । नाग-
जिह्वाप्रतिकृतिर्नागजिह्विका । शिला च ॥

टीका० — मनश्शिलाचतुष्टयं मनश्शिलायाम् ॥

नैपाली कुनटी गोला

क्षीर० — नेपालदेशे भवा मनश्शिला नैपाली द्विसंज्ञा । अभेदान्ने-
पाली वा । कौ नटति कुनटी । गाः लाति गोला, गुडति वा । सप्तैका-
र्या इत्येके ॥

१. 'य' ख पाठः, २. 'च्या । म' क. ग. घ. ङ. पाठः, ३. 'ली । कौ' क.
ग. घ. ङ. पाठः.

टीका० — नेपालदेशजा कुनटी मनशिला गोलाख्या । सप्तकमेव मन-
शिलायामित्यन्यः । तथाच श्लोकार्धपर्याये माधवः —

“मनशिला मनोज्ञा च नैपाली कुनटी शिला”

इति ॥

यवक्षारो यवाग्रजः ।

पाक्यः

क्षीर० — दग्ध्वा यवाङ्कुराज्जन्यते यवक्षारः । पचनीयः पाक्यः ॥

टीका० — यवक्षारत्रयं यवक्षारे । पचेर्ण्यति पाक्यः ॥

अथ सर्जिकाक्षारः कापोतः सुखबन्धकः ॥१०९॥

सौवर्चलं स्याद् रुचकं

क्षीर० — रुच्यते दीप्यते जाठरोऽग्निरनेन रुचकम् । क्षारप्रस-
ङ्गात् पुनरुक्तम् । एवं ग्रन्थिकष(तत्रा)द्वादि ॥

टीका० — सर्जिकाक्षारपञ्चकं सर्जिकाक्षारे । लवणप्रस्तावे तु अत्रैव
सौवर्चलनामोक्तम् । सत्रयं दन्त्यम् ॥

“कापोतः सर्जिका सर्जिः सुक्निका च सुवर्चिका ।

रुचकं कृष्णलवणमक्षं सौवर्चलं च तद् ॥”

इति श्लोकपर्याये माधवः ॥

त्वक्क्षीरा वंशरोचना ।

क्षीर० — त्वचो वंशात् क्षीरमस्यास्त्वक्क्षीरा त्वक्क्षीरी च । वंशो-
त्था रोचना वंशरोचना । आह च —

“स्याद् वंशरोचना दांशी तुकाक्षीरी तुका शुभा ।

त्वक्क्षीरी वंशजा शुभ्रा वंशक्षीरी च वैणवी” ॥

टीका० — त्वक्क्षीराद्वयं वंशरोचनायाम् । एतयोर्भेदेऽप्येकत्वमुक्तम् ॥

शिग्रु च श्वेतमरिचं

क्षीर० — शिनोति तैक्ष्ण्याच्छिग्रु । सौभाञ्जनबीजम् ॥

टीका० — शोभाञ्जनबीजे शिग्रुजद्वयम् ॥

मोरटं मूलमैक्षवम् ॥ ११० ॥

क्षीर० — मुरति मोरटम् । 'मुर संवेष्टने' ॥

टीका० — इक्षुमूले मोरटम् । 'मुर खण्डने' । 'शकादिभ्योऽटन्' (उ० १. ८२) ॥

ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलं चट्टकाशिर इत्यपि ।

क्षीर० — ग्रन्थिप्रतिकृति ग्रन्थिकम् । चट्टकाशिरोरूपत्वाच्चट्टका-
शिरः ॥

टीका० — ग्रन्थिकचतुष्कं पिप्पलीमूले ।

“शिरो ना पिप्पलीमूले स्याद्धमन्यां च योषिति ”

इति रमसः ॥

गोलोमी भूतकेशो ना

क्षीर० — गोरिव लोमान्यस्या गोलोमी । भूताः केशा अस्य
भूतकेशः, भूतस्येव केशा अस्य वा । ना पुमान् ॥

टीका० — भूतकेशा इति ख्याते तृणे गोलोमीद्वयम् । गोलोमी
ह्यन्ता ॥

पत्राङ्गं रक्तचन्दनम् ॥ १११ ॥

क्षीर० — पत्राण्यङ्गे पत्राङ्गम् ॥

१. 'स्तु' ख. पाठः. २. 'शुद्ध' च. ज. पाठः. ३. ४. ५. 'दि' क. पाठः.

टीका० — पत्राङ्गेति ख्याते रक्तसारे रक्तचन्दनसदृशे पत्राङ्गद्वयम् ॥

त्रिकटु त्र्युषणं व्योषं

क्षीर० — त्रीणि कटून्युषणानि च शुण्ठीमरिचपिप्पल्याख्यानि समाहृतानि । विशेषेणौषति दहति व्योषम् । कटुत्रिकं च ॥

टीका० — त्रिकटुत्रयं त्रिकटौ ।

“त्र्युषणं त्रिकटु व्योषं रुचकः सौवर्चलः पुंसि”

इति रत्नकोशार्यापाठाद्भस्वादि त्र्युषणम् । ‘अयस्त्रिलत्र्युषणकोलभोगै’^१ रित्यादौ तु योगशतके दीर्घादिः । ‘उष दाहे’ । विपूर्वः । व्योषम् ॥

त्रिफला तु फलत्रिकम् ॥ १११ ॥

क्षीर० — त्रयाणां फलानां हरीतक्यामलकविभीतकानां समाहारस्त्रिफला । अजादित्वाद्वाप् । वरा च ॥

इति वैश्यवर्गः ।

टीका० — हरीतकीविभीतक्यामलकानि फलत्रयं त्रिफला । अजादित्वाद्वाप् । ‘तृफ तृम्फ तृप्तौ’^२ । ‘कल्प् तृफश्च’ (उ० १. १०९) इति कल्प्रत्ययेन तृफलेत्यपि । ‘त्रिफला तृफलापि चे’ति त्रिकाण्डशेषश्च । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् परनिपातविकल्पे फलत्रिकम् ॥

इति वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे

वैश्यवर्गः ।

अथ शूद्रवर्गः ।

शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजाः ।

क्षीर० — शु पूजितं कृत्वा उन्दन्ति सुरान् छेदयन्ति शूद्राः, शी यन्ते वा । वृषं लुनन्ति वृषलाः । नारदस्तु —

“वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते लयम् ।
वृषलं तं विजानीयात्” ॥

जघन्याज्जाता जघन्यजाः । यच्छ्रुतिः — ‘पद्भ्यां शूद्रो अजायत’ । पञ्जाः पद्याश्च ॥

टीका० — शूद्रचतुष्कं शूद्रे । ‘शुच शोके’ । ‘शुचेर्दश्च’ (उ० २. २१) इति रक्, दश्चान्तादेशः, उपधादीर्घत्वं च । शूद्रः । अवरवर्णः अधम-
वर्णः । ‘वृषु सेचने’ । ‘वृषादिभ्यः कलच्’ (उ० १. १११) । वृषलः । वृषं धर्मं
लुनातीति वा सः । ब्रह्मणो जघन्याङ्गे पादे जाता जघन्यजाः ॥

आ चण्डालात् तु सङ्कीर्णं अम्बष्ठकरणादयः ॥ १ ॥

क्षीर० — चण्डालो ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातोऽत्र । संकीर्णाः प्रतिलो-
मानुलोमजत्वान्मिश्राः । यत् स्मृतिः —

“विप्रान्मूर्धावासिक्तस्तु क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम् ।
जातोऽम्बष्ठस्तु शूद्रायां निषादः पार्श्वोऽपि च ॥
माहिष्योग्रौ प्रजायेते विच्छूद्राङ्गनयोर्नृपात् ।
शूद्रायां करणो वैश्याद् विना त्वेष विधिः स्मृतः ॥
ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतो वैश्याद् वैदेहकः स्मृतः ।
शूद्राज्जातस्तु चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥

क्षत्रिया मागधं वैश्याच्छूद्रात् क्षत्तारमेव च ।
 शूद्रादायोगवं वैश्या जनयामास वै सुतम् ॥
 माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते ।
 असत्सन्तस्तु विज्ञेयाः प्रतिलोमानुलोमजाः ॥”

टीका० — चण्डालं वक्ष्यति । तं व्याप्य वक्ष्यमाणाः करणादयः संकीर्णाः शूद्रजातयः ॥

क्षीर० — तदाह —

शूद्राविशोस्तु करणः

सिंहावलोकितेन सुत इत्येव । शूद्रायां वैश्याज्जातः । करोति प्रेक्ष्यकर्माणि करणः । ल्युट् । एवं सर्वत्राध्याहार्यानुषङ्गादि ॥

टीका० — ‘शूद्राविशोरि’त्यादिभिः षष्ठ्यन्तैः प्रत्येकं सुत इति वक्ष्यमाणः सम्बध्यते । शूद्रायां वैश्याज्जातः सुतः करणो लिपिलेखनवृत्तिः ॥

अम्बष्ठो वैश्याद्विजन्मनोः ।

क्षीर० — अम्बायां तिष्ठत्यम्बष्ठः । ‘अम्बाम्बगोभूमि —’ (८. ३. ९७) इति षत्वम् । ह्रस्वो निर्देशात् । द्विजन्मात्र विप्रः । वैश्येति । ‘यञश्च’ (४. १. १६) इति ङीष् नास्ति, लक्ष्यात् ॥

टीका० — वैश्यायां ब्राह्मणाज्जातोऽम्बष्ठश्चिकित्सावृत्तिः ॥

शूद्राक्षत्रिययोरुग्रः

क्षीर० — ‘शूद्रा चामहत्पूर्वा —’ (वा० ४. १. ४) इत्यजादित्वाद्वाप् । उचत्युग्रः । ‘उच समवाये’ ॥

टीका० — शूद्रायां क्षत्रियाज्जात उग्रः ॥

मागधः क्षत्रियाविशोः ॥ २ ॥

क्षीर० — मगध्यति स्तौति मागधः ॥

टीका० — क्षत्रियायां वैश्याज्जातो मागधः स्तुतिक्रियावृत्तिः ॥

माहिष्योऽर्याक्षत्रिययोः

क्षीर० — माहिष्यां साधुर्माहिष्यः । स हन्तःपुररक्षितेति स्मार्ताः ।
अर्येति वैश्या ॥

टीका० — वैश्यायां क्षत्रियाज्जातो माहिष्यः ॥

क्षत्तार्याशूद्रयोः सुतः ।

क्षीर० — क्षदति द्वाःस्थत्वात् क्षत्ता । 'तुंस्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः—'
(उ० २. ९४) इत्यनिट् । क्ष(त्त?दति)स्त्वौणादिकपाठात् ॥

टीका० — शूद्रात् क्षत्रियायां जातः क्षत्ता । अर्या स्वामिनी । सा चेह
क्षत्रियेति बोद्धव्यम् । क्षत्रियस्यैव क्षितिस्वामित्वं, सामान्यशब्दस्यार्थाद् विशेषे-
षोऽवगम्यते । यथा 'अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठेत्' 'अञ्जलिना पयः पिबती'त्या-
दावर्थानुरोधात् पाणिसन्निवेशविशेषः प्रतीयते, तथा ।

“क्षत्ता शूद्रात् क्षत्रियाजे सारथिप्रतिहारयोः” ॥

ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः

क्षीर० — सुवति प्रेरयत्यश्वान् सूतः ॥

टीका० — ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूतः । हेतौ पञ्चमी ।

“सूतः स्यात् क्षत्रियामूनुः शूद्राज्जातोऽथ वर्धकिः”

इति त्वमरमाला ॥

तस्यां वैदेहको विशः ॥ ३ ॥

क्षीर० — ब्राह्मण्यां वैश्याज्जातो वैदेहको वणिक्कर्मा ॥

टीका० — ब्राह्मण्यां वैश्याज्जातो वैदेहकः ।

“वैदेहकं तु शूद्राज्जातं वैश्यासुतं ब्रुवते”

इति नाममाला ॥

रथकारस्तु माहिष्यात् करण्यां यस्य सम्भवः ।

क्षीर० — माहिष्याद् वैश्याक्षत्रिययोजातात् करण्यां शूद्रावैश्यजा-
तायां जातो रथकारस्तथा ॥

टीका० — करण्यां माहिष्याज्जातो रथकारः ॥

स्याच्चण्डालस्तु जनितो ब्राह्मण्यां वृषलेन यः ॥ ४ ॥

क्षीर० — चण्डमुग्रं कर्मालति पर्याप्नोति चण्डालः ॥

टीका० — ब्राह्मण्यां शूद्रसुतश्चण्डालः । 'चडि कोपे' । 'पतिचण्डि-
भ्यामालङ्' (उ० १. १२२) । चण्डालः । चण्डालात् पूर्वं सर्वत्र पाणिग्रहणपूर्-
वकमिति योज्यम् । पाणिग्रहणव्यतिरेकेणापि प्रमादतो जातः करणादिरेव । गर्हि-
तः स इति परं विशेषः ॥

कारुः शिल्पी

क्षीर० — करोति कारुः ॥

टीका० — कारुद्वयं शिल्पिनि । करोते: 'कृवापा —' (उ० १. १)
इत्यादिना उण् । कारुः ॥

संहतैस्तैर्द्रयोः श्रेणिः सजातिभिः ।

क्षीर० — समानजातीयकारुसङ्घः श्रीयत इति श्रेणिः स्त्रीपुल्लिङ्गः ॥

टीका० — सजातीयानां शिल्पिनां सङ्घातः श्रेणिः पङ्क्तौ व्युत्पादिता ॥

कुलकः स्यात् कुलश्रेष्ठी

क्षीर० — कुलं का(र?)यतीति कुलकः । कुलिक इत्येके । श्रेण्यादौ
श्रेष्ठार्थः । कुले वणिग्वृन्दे श्रेष्ठत्वमस्त्यस्य कुलश्रेष्ठी ॥

टीका० — शिल्पिनां कुलेषु प्रधाने कुलिकद्वयम् । 'अत इनिठनौ'
(५. २. ११५) इति ठनि कुलिकः । कुलश्रेष्ठी नान्तः । 'कुलश्रेष्ठी चे'ति त्रि-
काण्डशेषः । कुलयोगादर्शआद्यचि कुलोऽपीत्यन्यः ॥

मालाकारस्तु मालिकः ॥ ५ ॥

क्षीर० — 'तदस्य पण्यम्' (४. ४. ५१) इति ठक् ॥

टीका० — मालाकारद्वयं मालाकारे । कर्मण्यणि मालाकारः । माला-
निर्माणं शिल्पमस्येति मालिकः । 'शिल्पम्' (४. ४. ५५) इति ठक् ॥

कुम्भकारः कुलालः स्यात्

क्षीर० — कुलानि गृहाण्यलति कुलालः, कुं मृदं लालयति मृदा-
ति वा ॥

टीका० — कुम्भकारद्वयं कुम्भकारे । मालाकारवत् कुम्भकारः । कुं
लालयतीति कुलालः ॥

पलगण्डस्तु लेपकः ।

क्षीर० — पलेन मांसेनेव मृदादिना गण्ड(तेति) संचते पल-
गण्डो लेप्यकृत् ॥

टीका० — पलगण्डद्वयं लेप्यकरे । लिपेर्वुलि लेपकः ॥

तन्तुवायः कुविन्दः स्यात्

क्षीर० — तन्तून् वयति तन्तुवायः । 'द्वावामश्च' (३. २. २)
इत्यण् । कुं विन्दति कुविन्दः ॥

टीका० — तन्तुवायद्वयं तन्तुवाये । वेजो 'द्वावामश्च' (३. २. २)
इत्यण् । तन्तुवायः । डुवपेः तन्तुवापशब्दोऽप्यत्र । 'कुपेर्वश्च' (उ० ४. ८६)
इति किन्दच् वश्चादेशः । कुविन्दः ॥

तुन्नवायस्तु सौचिकः ॥ ६ ॥

क्षीर० — तुन्नं विद्धं वयति तुन्नवायः । सूच्यादि शिल्पमस्य
सौचिकः ॥

टीका० — तुन्नवायद्वयं सूचिकर्मोपजीविनि । तुन्नं वृद्धितं वयतीति तुन्नवायः । मालिकवत् सौचिकः । दन्त्यादिः ॥

रङ्गाजीवश्चित्रकरः

क्षीर० — रङ्गाणि रक्तगीतादीन्याजीवति रङ्गाजीवः । चित्रं करोति 'दिवाविभा—' (३. २. २१) इति टः ॥

टीका० — रङ्गाजीवद्वयं चित्रकरे । रज्यते शुक्लं रक्ततामापद्यतेऽस्मिन्निति रङ्गो हरितालमनश्शिलादिः, तमाजीवतीति रङ्गाजीवः । दिवाकरवच्चित्रकरः ॥

शस्त्रमार्जोऽसिधावकः ।

क्षीर० — शस्त्रं मार्ष्टि तेजयति शस्त्रमार्जः । असिं धावयति शोधयति असिधावकः ॥

टीका० — शस्त्रमार्जद्वयम् असिधावके । शस्त्रं मार्ष्टि शोधयतीति शस्त्रमार्जः । अणन्तात् स्वार्थे कनि असिधावकः ॥

पादूकृच्चर्मकारः स्यात्

क्षीर० — पादूः पादत्राणानि करोति पादूकृत् । पादूकृदित्येके ॥

टीका० — पादूकृद्वयं चर्मकारे । पादूमुपानहं करोतीति कृप् । 'इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य' (६. ३. ६१) इति ह्रस्वः । पादूकृत् । चर्म करोति विकारतामापादयतीति अणि चर्मकारः ॥

व्योकारो लोहकारकः ॥ ७ ॥

क्षीर० — विशेषेणौकं समवायमियति व्योकारः । 'व्यो इत्ययः पर्याय' इति श्रीभोजः ॥

टीका० — व्योकारद्वयं लोहकारे ।

१. 'वः । इ' क. ग. पाठः. २. 'सिआर इति ख्याते । श' ज. पाठः. ३. 'दू कृणाति' क. पाठः. ४. 'ति वा पा' क. ग. पाठः. ५. 'पदू कृ' ख. पाठः. ६. 'खेवमयः' क. पाठः. ७. 'कर्मका' ज. पाठः.

“व्योकारोऽयस्कारः क(र्मका?र्मा)रो लोहकारः स्याद्”

इति रत्नकोशः । अन्ये तु आकरोत्थं लोहं ध्मात्वा यो लोहं संस्करोति स लोहकारो व्योकारश्च । कोशलादावनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः । व्यो इति लोहबीजस्य प्रसिद्धिः । तथाच हर्षचरिते आकरोत्थलोहसंस्कारिणि विन्ध्याटवीवर्णनायाम् ‘ऊष्माणं कचिदन्यत्र ग्राहयन्तमिवाङ्गारीयदारुसङ्ग्रहादिह व्योकारैः’ इति प्रयोगः । यस्तु संस्कृतं लोहं खड्गनाराचादिविकारमापादयति, स कर्मकारः । एतच्च क्रियाभेद-मात्रम् । जातिरेकैव ॥

नाडिन्धमः स्वर्णकारः कलादो रक्वमकारके ।

क्षीर० — नाडिं धमति नाडिन्धमः । ‘नाडीमुष्टयोश्च’ (३. २. ३०) इति खश् । कला आदत्ते कलादः । कलं सुवर्णकालिकाम् आच-
त्याखण्डयति वा । अत एव कलं धौतं यत्रेति कलधौतं रक्वमम् । हेममुष्टि-
कोऽपि ॥

टीका० — नाडिन्धमचतुष्कं स्वर्णकारे । नाडी नैलीति ख्याता, तां मुखवायुना धमति शब्दयतीति ‘नाडीमुष्टयोश्च’ । (३. २. ३०) इति खश् । नाडिन्धमः । कलां स्वर्णशिल्पमात्तवान् स्वीकृतवानिति कलादः । मूलविभुजादे-
राकृतिगणत्वात् कः ॥

स्याच्छाङ्गिकः काम्बविकः

क्षीर० — कम्बुघटनं शिल्पमस्य काम्बविकः ॥

टीका० — शाङ्गिकद्वयं शाङ्गिके । ‘तदस्य पण्यम्’ (४. ४. ११) इति ठक् । शाङ्गिकः । काम्बविके तु ओरबन्तात् पूर्ववट्क् । अन्यथा ‘इमुसुक्ता-
न्तात् कः’ (७. ३. ५१) इति कः स्यात् ॥

शौल्विकस्ताम्रकुट्टकः ॥ ८ ॥

क्षीर० — शुल्वं ताम्रम् । कुट्टयति छोदयति शौल्विकः । मणिकारो वैर्कटिकः ॥

१. ‘शश्च । अ’ क. ख. ग. घ. ङ. पाठः. २. ‘णि’ ख. पाठः. ३. ‘ति । अ’ क. ग. ख. ड. पाठः. ४. ‘नाली । तां,’ ५. ‘निति’ ट., ‘नू हीत’ क. पाठः. ६. ‘कः ॥ शौ’ क. ग. पाठः. ७. ‘ति । म’ ख. पाठः. ८ ‘तनिकः’ ग. पाठः.

टीका० — शौल्विकद्वयं कांस्यकारे । शुल्वं ताम्रं, तत्कुट्टनं शिल्प-
मस्येति शौल्विकः । ताम्रं कुट्टयतिच्छेदयतीत्यणि ताम्रकुट्टकः ॥

तक्षा तु वर्धकिस्त्वष्टा रथकारश्च काष्ठतद् ।

क्षीर० — तक्ष्णोति तक्षा । वर्धयतीति वर्धकिः । 'वर्ध छेदने' ।
त्वक्षति तनूकरोति दारुणि त्वष्टा । काष्ठं तक्ष्णोति काष्ठतद् । स्थपतिश्च ॥

टीका० — तक्षपञ्चकं वर्धकौ । 'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे' । कनिन् । तक्षा ।
त्वक्षेरेव वृच् । 'स्कोः —' (८. २. २९) इत्यादिना कलोपः । त्वष्टा । काष्ठं
तक्षतीति किपि काष्ठतद् ॥

ग्रामाधीनो ग्रामतक्षः

क्षीर० — ग्रामस्यायं तत्तक्षा ग्रामतक्षः । 'ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः' ।
(५. ४. ९५) इति टच् ॥

टीका० — ग्रामवर्धकौ ग्रामाधीनद्वयम् । 'ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः'
(५. ४. ९५) इति समासान्ताचि ग्रामतक्षः ॥

कौटतक्षोऽनधीनकः ॥ ९ ॥

क्षीर० — कुट्यां भवः कौटः स्वतन्त्रः । नास्ति अधि उपरि इनः
स्वाम्यस्यानधीनकः ॥

टीका० — यस्तु स्वकर्माजीवी ग्राम एव व्यवस्थितः, तत्र कौ-
टतक्षद्वयम् । कुट्यां भवः स्थितः कौटः । ततः कर्मधारयः । पूर्ववत् समा-
सान्तः ॥

क्षुरिमुण्डिदिवाकीर्तिनापितान्तावसायिनः ।

क्षीर० — क्षुरमस्त्यस्य क्षुरी । मुण्डयति मुण्डी । दिवा कीर्त्यते
दिवाकीर्तिः । रात्रौ क्षुरकर्मनिषेधात् । नाप्यते नापितः । नञ् प्रकृत्या ।
अन्तम् अवस्यत्यन्तावसायी । चण्डालकोऽपि । 'संवाहकोऽङ्गमर्दः स्यात्' ॥

टीका० — क्षुरिपञ्चकं नापिते । मुण्डवान् मुण्डी । दिवा दिवसे कीर्ति-

१. 'ट्। प्रा', २. 'ति का', ३. 'यं तक्षा', ४. 'स्य। मु', ५. 'ति ।
दि' क. पाठः.

व्यापारोऽस्येति दिवाकीर्तिः । 'नञ्याप्नेतिरिट् च' (उ० ३. ८७) इति तन्
इडागमश्च । नापिसः । अन्तावसायी णिन्यन्तः ॥

निर्णेजकः स्याद् रजकः

क्षीर० — निर्णेनेक्तिं क्षालयति निर्णेजकः । रञ्जयति रजकः ।
'शिल्पिनि ष्वुन्' (३. १. १४५) । रजनरजकरजस्त्रूपसंख्यानाबलोपः ।
कचिद् य एव धावकः स एव रजकः । स्मार्ते तु भिन्नावेतौ ॥

टीका० — निर्णेजकद्वयं रजके । 'णिजिर शौचे' । ष्वुल । 'उपस-
र्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८. ४. १४) इति णत्वम् । निर्णेजकः । रजक
इत्यत्र 'शिल्पिनि ष्वुन्' (३. १. १४५) ॥

शौण्डिको मण्डहारकः ॥ १० ॥

क्षीर० — शुण्डा पानमदस्थानं सुरा वा पण्यमस्य शौण्डिकः ।
मण्डमच्छसुरां हरति मण्डहारकः । सुराजीवी कलयपालाख्यः ॥

टीका० — शौण्डिकद्वयं शौण्डिके । शुण्डा पानस्थानम् । तात्स्थ्यात्
सुरापि शुण्डा । 'तदस्य पण्यम्' (४. ४. ५१) इति ठकि शौण्डिकः । ताल-
व्यादिः । अन्नसंबद्धं मण्डमग्रं हरति उद्धरतीति मण्डहारः ॥

जावालः स्यादजाजीवैः

क्षीर० — जवमलति जवालश्छागः, तस्यायं जावालः । अजा-
पालापभ्रंशोऽयम् ॥

टीका० — जावालद्वयं छागीवाले । अजां पालयतीति पृषोदरादित्वा-
दकारलोपो बत्वं च । जावालः । 'अजावालमजाजीवैमि'ति रत्नमाला ॥

देवाजीवस्तु देवलः ।

क्षीर० — देवान् लाति देवलः ॥

टीका० — भोजनकेति ख्याते देवाजीवद्वयम् । देवान् जीविकार्थं
लातवान् स्वीकृतवानिति कः । देवलः ॥

१. 'क्ति नि', २. 'कः क्षालयिता । र' क. पाठः. ३. 'न् । पूर्वो वल्लभा' ख
पाठः. ४. 'वी' क. ग. घ. पाठः. ५. 'वितामि' ज. पाठः.

स्यान्माया शाम्बरी

क्षीर० — मात्यस्यां विश्वं माया । शम्बराख्यस्यासुरस्येयं शाम्बरी । शं वृणोति शंबरो व्याज इति तु युक्तम् । इन्द्रजालं कुसृतिः कुहकश्च ॥

टीका० — मायाद्वयम् इन्द्रजालादिमायायाम् । मातेः लायावद् यः । माया । शम्बरासुरेण प्रणीतत्वान्मायायाः 'तस्येदम्' (४. ३. १२०) इत्यपि शाम्बरी । शकार इति निरूपितं प्राक् ॥

मायाकारस्तु प्रातिहारिकः ॥ ११ ॥

क्षीर० — प्रतिहारो व्याजः प्रयोजनमस्य प्रातिहारिकः ॥

टीका० — मायाकारद्वयमैन्द्रजालिके । प्रातिपूर्वाद् हजो प्वुलि प्रातिहारको दीर्घादिः ।

“मायाकारकसंज्ञः स्यात् प्रतिहारक इरम्मदोऽग्निः”
इति वररुचेराय्यां ह्रस्वादिरपि ॥

शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवाः कृशाश्विनः ।
भरता इत्यपि नटाः

क्षीर० — शिलालिना कृशाश्वेन च प्रोक्तं नटसूत्रमधीते शैलाली कृशाश्वी च । 'पाराशर्यशिलालिभ्यां —' (४. ३. ११०) इति णिनिः । 'कर्मन्दकृशाश्वदिनिः' (४. ३. १११) । शिलूषस्यर्षेरपत्यं शैलूषः । भरतस्यापत्यम् । विदाद्यञ् । तस्य बहुत्वे 'यञञोश्च' (२. ४. ६४) इति लुक् । नटति नटः ॥

टीका० — शैलालिषट्कं नटे । शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीयत इति शैलालिनः । 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' (४. ३. ११०) इति

१. 'ति यु' ख. पाठः. २. 'री माया । श' ठ. पाठः. ३. 'रणं व्या' क. ग. पाठः. ४. 'यया ह' ज. पाठः.

णिनिः । जायया, जीवन्तीत्यचि जायाजीवाः । कृशाश्वप्रोक्तं नटसूत्रमधीयत
इति कृशाश्विनः । 'कर्मन्दकृशाश्वदिनिः' (४. ३. १११) । भरतशिष्यतया
भरताः । 'तस्येदम्' (४. ३. १२०) इत्यण् । संज्ञापूर्वकत्वान्न वृद्धिः । भरतगो-
त्रतया उत्साद्यञि बहुत्वलुगन्तो वा । एकद्वित्वयोस्तु भारतः भारतौ । 'नट
नृत्तौ' । पचाद्यच् । नटाः ॥

चारणास्तु कुशीलवाः ॥ १२ ॥

क्षीर० — चरणस्य भ्रमणस्यायं चारणः, यतो देशान्तरभ्रमणा-
ज्जीवति । कुत्सितं शीलं वाति कुशीलवः ॥

टीका० — चारणद्वयं छात्रकथकादिषु । दिगन्तेषु कीर्त्तिं चार-
यन्ति प्रापयन्तीति ल्युटि चारणाः । कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलवः । वप्रक-
रणे* 'अन्यत्रापि दृश्यते' (वा० ५. २. १०९) इति वः ॥

मार्दङ्गिका मौरजिकाः

क्षीर० — मृदङ्गमुरजवादकं शिल्पमस्य मार्दङ्गिकः, मौरजिकः ॥

टीका० — मुरजवादके मार्दङ्गिकद्वयम् । 'शिल्पम्' (४. ४. ९९)
इति ठक् ॥

पाणिवादास्तु पाणिघाः ।

क्षीर० — पाणिं हन्ति पाणिघः । 'पाणिघताडघौ शिल्पिनि'
(३. २. ५५) इति साधुः ॥

टीका० — ये पाणिनैव पाण्यभ्यन्तरे मुरजादिवाद्यमुत्पादयन्ति तत्र
पाणिवादद्वयम् । 'पाणिघताडघौ शिल्पिनि' (३. २. ५५) इति निपातनात्
पाणिघाः ॥

वेणुधमाः स्युर्वैणविकाः

१. 'ङ्गवा', २. 'कः ॥' क. ग. पाठः.

* 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति मुद्रितवार्तिकपाठः ।

क्षीर० — वेणून् धमति वेणुध्माः । वेणुर्वंशिका शिल्पमस्य ॥

टीका० — वेणुध्मद्वयं वेणुवादके । वेणुं धमति शब्दयतीति कः ।
वेणुध्मः । वेणुविकारो वैणवम् । तद्वादनं शिल्पमस्येति ठकि वैणविकः ॥

वीणावादास्तु वैणिकाः ॥ १३ ॥

क्षीर० — वीणावादनं शिल्पमस्य वैणिकः ॥

टीका० — वीणावादके वीणावादद्वयम् ॥

जीवान्तकः शाकुनिकः

क्षीर० — शकुनिं हन्ति शाकुनिकः । 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४. ४. ३५) इति ठक् ॥

टीका० — वर्तनार्थं पक्षिघातके जीवान्तकद्वयम् । जीवानां पक्षि-
गामन्तको जीवान्तकः । 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' (४. ४. ३५) इति ठकि
शाकुनिकः ॥

द्वौ वागुरिकजालिकौ ।

क्षीर० — एकार्थाविति शेषः । वागुरया मृगबन्धनरज्ज्वा चरति
वागुरिकः । जालेन जालिकः ॥

टीका० — जालेन मृगहन्तरि वागुरिकद्वयम् । वागुरा मृगबन्धनजा-
लम् । तया चरतीति वागुरिकः । 'पर्पादिभ्यः ष्टन्' (४. ४. १०) । जा-
लिकः ॥

वैतंसिकः कौटिकश्च मांसिकश्च समं त्रयम् ॥ १४ ॥

क्षीर० — वितंस्यते वितंसः प्राणिवन्धोपकरणम् । कूटं कूटयन्त्रम् ।
ताभ्यां चरति जीवति वेति ठक् । मांसं पण्यमस्य मांसिकः । सौनि-
कार्था इत्येके ॥

१. 'ध्मा वंशिकः ॥' ख. पाठः. २. 'वांशिकारेति ख्याते वेणुध्मद्वयम् ।',
३. 'यम् । वेणु' ज. पाठः.

टीका० — कौटिकादिषु वैतंसिकत्रयम् । मृगपक्ष्यादिवन्धनोपायो
वीतंसः । दन्त्यान्तः । मृगपक्ष्यादिवन्धनयन्त्रं कूटम् । ताभ्यां चरतीति ठक् ।
वैतंसिकः कौटिकः । 'तदस्य पण्यम्' (४. ४. ५१) इति ठकि मांसिकः ॥

भृतको भृतिभुक् कर्मकरो वैतनिकश्च सः ।

क्षीर० — भ्रियते स्म भृतकः । स्वार्थे कन् । भृतिं वैतनं भुङ्के
भृतिभुक् । वेतनेन जीवति वैतनिकः । 'वेतनादिभ्यो जीवति' (४. ४.
१२) इति ठक् ॥

टीका० — वेतनोपजीविनि कर्मकरे भृतकचतुष्कम् । वेतनेन
क्रीतो भृतः, भृत एव भृतकः । 'अनुकम्पायाम्' (५. ३. ७६) । कन् ।
क्विपि भृतिभुक् । 'कर्मणि भृतौ' (३. २. २२) ति टः । कर्मकरः । ठकि
वैतनिकैः ॥

वार्तावहो वैवधिकः

क्षीर० — 'विभाषा विवधवीवधात्' (४. ४. १७) इति ठक् ॥

टीका० — वान्धारीति ख्याते वार्तावहद्वयम् । धान्यमत्स्यादिवार्ता
वहतीति पचाद्यच् । वार्तावहः । विवधः पर्याहारः । 'विभाषा विवधवीवधात्'
(४. ४. १७) इति ठक् । विवधेन हरतीति वैवधिकः ॥

भारवाहस्तु भारिकः ॥ १५ ॥

क्षीर० — भारोऽस्त्यस्य भारिकः ॥

टीका० — भारवाहद्वयं भारिके । 'कर्मण्यण्' (३. २. १) भार-
वाहः । 'हरत्युत्सङ्गादिभ्यः' (४. ४. १५) इति ठकि भारिकः ॥

विवर्णः पामरो नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः ।

निहीनोऽपशदो जाल्मः क्षुल्लकश्चेतरश्च सः ॥ १६ ॥

क्षीर० — विरुद्धो वर्णोऽस्य विवर्णः, वर्णान्तरालत्वात् । पामाः

१. 'टादि' क, 'ट' ग, पाठः. २. 'कः' ॥ वार्तावहद्वयं वैवधिके । धा-
ठ, पाठः. ३. 'त्सा' क, पाठः.

सन्त्यस्याधनत्वात्, पामरः । निम्नमञ्चति नीचः । प्रकृतौ भवः प्राकृतः
गुणाद्यैः संस्कृतः । पृथग् जनेभ्यः पृथग्जनः । नियतं हीयते निहीनः ।
अपशीयतेऽपशब्दः । जलति जाल्यः । *‘जल धान्ये’ । क्षुधं लाति क्षुल्ल-
कः । इतरस्तुच्छत्वाद्, इतं राति वा । वर्वरो यथाजातोऽपि । भरतादौ
रेफसकारौ ॥

टीका० — विवर्णदशकं नीचे । विगतो वर्णो यशोऽभ्येति विवर्णः ।
पामानं रातीति पामरः । न्यञ्चति न्यग्भवतीति नीचः । अञ्चेः क्तिन् । ऊर्ण-
नाभवदच् समासान्तः । ‘अचः’ (६. ४. १३८) इत्यकारलोपः । ‘चौ’ (६.
३. १३८) इति दीर्घः । प्रकृतौ यथाजातभावे भवोऽव्युत्पन्नः प्राकृतः ।
सज्जनेभ्यः पृथग्भूतो जनः पृथग्जनः । जहातेः क्तः । निहीनः । सदेः पचा-
द्यच् । अपसदः । क्षुधं लाति गृहातीति क्षुल्लः । ततोऽज्ञाताद्यर्थे कः ।

“क्षुल्लकः पामरे स्तोके क्षारः काचे च भस्मानि”

इत्यजयः । रभसस्तु ‘खुल्लकस्त्रिषु नीचेऽल्पे’ इत्यादिना कवर्गद्वितीयादौ पठति ।
सज्जनेभ्योऽन्यतया इतरः ॥

भृत्ये दासेरदासेयदासगोप्यकचेटकाः ।

नियोज्यकिङ्करप्रेष्यभुजिव्यपरिचारकाः ॥ १७ ॥

पराचितपरिस्कन्दपरजातपरैधिताः ॥ १७३ ॥

क्षीर० — भरणीयो भृत्यः । ‘भृत्योऽसंज्ञायाम्’ (३. १. ११२)
इति क्यप् । दास्या अपत्यं दासेरो दासेयश्च । ‘क्षुद्राभ्यो वा’ (४. १.
१३१) इति ढक्ढकौ । दीयते दस्यते वा दासः । ‘दसु उपक्षये’ । गोप-
नीयो गोप्यः । चेदति चेदः । ‘चिद परप्रेष्ये’ । ‘प्रयोज्यनियोज्यौ श-
क्यार्थे’ (७. ३. ६८) इति साधुः । किं करोमीत्याज्ञाप्रतीक्षः किङ्करः ।
‘दिवाविभा—’ (३. २. २१) इत्यादिना टः । प्रेषणीयः प्रेष्यः । ‘प्रादू-

१. ‘स्य पामवत्त्वात्’ क. ग. पाठः. २. ‘द’ क. पाठः. ३. ‘न्यङ् ही’ ग.
पाठः. ४. ‘जघन्ये’ ग. घ. ङ. पाठः. ५. ‘ल्लः । तुच्छ’ ग. पाठः. ६. ‘कः ।
तुच्छ’, ७. ‘रात्येति’, ८. ‘वा इतरः । व’ ख. पाठः.

* ‘धान्यं जडत्वम्’ इति क्षीरतराङ्गिणी ।

होढोढ्येवैष्येषु' (वा० ६. १. ८९) इति वृद्धिः । 'इषु इच्छायाम्' । अस्मात् प्रेष्यः । भुङ्क्ते स्वाम्युच्छिष्टं भुजिष्यः । परैराचीयते वर्धयते पराचितः । परिस्कन्दयते आक्रम्यते परिस्कन्दः । 'परिस्कन्दः प्राच्य-भरतेषु' (८. ३. ७५) इति साधुः । परैरेध्यते वर्धयते परैधितः ॥

टीका० — भृत्यैकादशकं भृत्ये । 'भृजोऽसंज्ञायाम्' (३. १. ११२) इति क्यप् । भृत्यः । दास्या अपत्यं दासेरः, दासेयश्च । 'भुद्राम्यो वा' (४. १. १३१) इति ढक् । 'दसि दंशदर्शनयोः' । 'दसेष्टनौ न आ च' (उ० ९. ९) इति टटनौ प्रत्ययौ नकारस्य चाकारः । एवं दासो दन्त्यसः । गुपेर्ण्यति 'अनुकम्पायाम्' (५. ३. ७६) कन् । गोप्यकः । 'चिट परप्रेष्यभावे' । घञ् । पूर्ववत् कन् । चेटकः । युजेः 'शकि लिङ् च' (३. ३. १७२) इति चकारात् कृत्प्रत्ययो ण्यत् । नियोज्यः । 'प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे' (७. ३. ६८) इति कुत्वाभावः । किञ्चित् करोतीति 'किंयत्तद्धुषु कृजोऽज्विधानम्' (वा० ३. २. २१) इत्यच् । तेन स्त्रियां टाप् । किञ्चिदर्थवृत्तिरत्र किं-शब्दः । 'इष गतौ' दैवादिकः । ण्यति लघूपधगुणः । 'प्रादूहोढोढ्येवैष्येषु वृद्धिर्वक्तव्या' (वा० ६. १. ८९) इति वृद्धौ प्रैष्यः । कर्मणि घञि प्रैषोऽपीति न्यासः । 'ईष उञ्छे', 'ईष गतिहिंसादानेषु' । घञि ण्यति च गुरूपधत्वाद् गुणाभावे प्रेषप्रेष्यौ । 'रुचिभुजिभ्यां किप्यन्' (उ० ४. ८०) । भुजिष्यो मूर्ध-न्यषः । चरतेर्षुल् । परिचारकः । परसंवर्धिते पराचितचतुष्कम् । चिजः क्तः । पराचितः । स्कन्देः पचाद्यच् । 'परेश्च' (८. ३. ७४) इति षत्वविकल्पः । परिस्कन्दः । परेण पोषितत्वात् परस्माज्जात इव परजातः । परेणैधितः संवर्धितः परैधितः ॥

मन्दस्तु तुन्दपरिमृज आलस्यः शीतकोऽलसोऽनुष्णः ।

क्षीर० — मन्दते स्वपितीव मन्दः । अत एव 'मदि जाड्ये' इति चान्द्रो धातुः । तुन्दं परिमार्ष्टि तुन्दपरिमृजः । 'तुन्दशोकयोः परि-

मृजापनुदोः' (३. २. ५) इति सूत्रे 'आलस्यसुखाहर(ण)योरिति वक्तव्यात् कः । आलस्यमस्त्यस्यालस्यः । अर्शआदित्वादच् । शीतादलसे 'शीतो-
ष्णाभ्यां कारिणि' (५. २. ७२) इति कन् । न लसत्यलसः ॥

टीका० — मन्दषट्कमलसे । 'मदि स्तुत्यादौ' । पचाद्यच् । मन्दः । 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' (३. २. ५) इति कः । तुन्दपरिमृजः । 'मृजे-
रजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिरिष्यत' इति वचनात् तुन्दपरिमार्ज इत्यपि । न
लसतीत्यलसः । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ण्यजिं आलस्यः । शीतं मन्दं करो-
तीति शीतकः । 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' (५. २. ७२) इति कन् ॥

दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सूत्थान उष्णश्च ॥ १८ ॥

क्षीर० — दक्षते दक्षः । चतते कर्म चतुरः । पेशति पिशति वा
पेशलः । 'पिश अवयवे', 'पिश गतौ' * । पटति पाटयति वा पटुः । सुष्ठू-
त्थानम् उद्योगोऽस्य सूत्थानः । ओषति दहतीव उष्णः । उष्णकोऽपि ॥

टीका० — दक्षषट्कं दक्षे । 'दक्ष वृद्धौ शीत्रार्थे च' । पचाद्यच् । दक्षः ।
'चते चदे याचने' । अङ्कुरवदुरच् । चतुरः । 'पिश अवयवे' । बाहुलकादलच् ।
पेशलः । 'पट गतौ' । हेतुमणिच् । 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिध-
ताश्च' (उ० १. १८) इति उः, धातोश्च पटिरादेशः । पटुः । सुष्ठूत्थानमुद्यो-
गोऽस्येति सूत्थानः ॥

चण्डालैः प्लवमातङ्गदिवाकीर्तिजनङ्गमाः ॥ १९ ॥

निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डालबुत्कसाः ।

क्षीर० — चण्डते चण्डालः । प्लवते प्लवः । मा निषिद्धं तङ्गति
मातङ्गः । 'अ मा नो न प्रतिषेधे' । मतङ्गापत्यमिति पौराणिकाः । दिवा
कीर्त्यते दिवाकीर्तिः । रात्रौ भयदत्वात् । जनं गच्छति जनङ्गमः ।
'गमश्च' (३. २. ४७) इति खच् । निषण्णमस्मिन् पापमिति निषादः,
निषीदति वा । ज्वलादित्वाणः । श्वानं पचति श्वपचः । पचादित्वाद-

१. 'स्यास्तीलाल' ग. घ. पाठः. २. 'ते च' ग. पाठः. ३. 'तौ वा । प',
४. 'शोभनमुत्था' ख. पाठः. ५. 'ले' क ग. घ. पाठः. ६ 'करत्वा' ग. पाठः.

* 'पिसृ पेसृ गतौ' इति भवादौ क्षीरतरङ्गिणी ।

णोऽपवादोऽच । ग्रामस्यान्ते वसत्यन्तेवासी, अन्तावसायी च । कुला-
लवर्द्धचण्डालनिषादपित्रामित्रेभ्यश्छन्दस्युपसंख्यानात् स्वार्थेऽण् । चा-
ण्डालः । बुत् कुत्सितं कसति बुत्कसः । बुत्कस इत्येके । अवान्तर-
भेदोऽत्र नादृतः । यतः श्वपचो डोम्बः, बुत्कसो मृतपः ॥

टीका० — चण्डालदशकं चण्डाले । ‘पतिचण्डिभ्यामालञ्’ (उ० १.
१२२) चण्डालः । प्रज्ञाद्यणि चाण्डाल इत्युणादिवृत्तिः । प्लव उक्तः । दिव-
सस्य पुण्यकालत्वात् तत्राकीर्तनम्* अस्येति दिवाकीर्तिः । जनाद् गच्छतीति जन-
ङ्गमः । ‘(जने?गम)श्च’ (३. २. ४७) इति खच् । निषाद उक्तः । श्वानं
पचतीति श्वपचः । पचादिषु श्वपचैपाठादच् । जगरादेरन्ते वसतीति णिनिः ।
सप्तम्या अलुक् । अन्तेवासी ॥

“अन्तेवासी च चण्डालो दिवाकीर्तिर्जनङ्गमः”

इत्यमरमाला । पुमांसं कसति गच्छतीति पुलकसः, दन्त्यसः पृषोदरादिश्च ॥

भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः ॥ २० ॥

क्षीर०—किराताद्याः तथा म्लेच्छजातीयाः कुर्गभेदादयः चण्डा-
लभेदाः । किरति शरान् किरातः । शवत्यरण्यं शबरः । पोलति भ्रमति
पुलिन्दः । एतेऽरण्यचरा देशभेदाद् भिन्नाः । म्लेच्छत्यव्यक्तं वक्ति
म्लेच्छः ।

निष्ठा माला भटा भिष्टा नाहलाश्चान्त्यजाः पृथक् ॥

टीका० — एते किरातादयस्त्रयश्चण्डालानां भेदाः । म्लेच्छन्ति अव्यक्तं
भाषन्त इति म्लेच्छाः । ‘म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि’ । पचाद्यच् । तदुक्तं—

“गोमांसमक्षको यस्तु लोकबाह्यं च भाषते ।

सर्वाचारविहीनोऽसौ म्लेच्छ इत्यभिधीयते ॥”

१. ‘कुटच’ ग. घ. ङ. पाठः. २. ‘तः ॥ भे’ ख. पाठः. ३. ‘चतिपा’ ज.
पाठः. ४. ‘नी’ ग. घ. ङ. पाठः.

* अत्र मानं मुख्यम् ।

तत्र मयूरपिच्छपरिधानो स्लेच्छः । पत्रपरिधानः शबरः । पत्रशबरशब्दोऽप्यत्र वर्तते । (‘श्रुः शु’ लु गतौ’ । ‘कृदरादयश्च’ (उ० ५. ४१) इत्यरन् । शबरः । स्वभाषाव्यवहारी परभाषानभिज्ञः पुलिन्दः । ‘पुल महत्त्वे’ । *‘कलिपुलिभ्यां किन्दच्’ (उ० ४. ८६) । पुलिन्दः ॥

“पुलिन्दः कथ्यते स्लेच्छः पुलिन्दोऽपि निगद्यते”
इति तारपालः ॥

व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः ।

क्षीर० — विध्यति व्याधः । ‘श्याद्वधा —’ (३. १. १४१)
इति णः । मृगान् याति मृगयते वा मृगयुः । लुब्धति गृह्यति मांसं
लुब्धकः ॥

टीका० — व्याधचतुष्कं व्याधे । स च स्लेच्छप्रकारो गीतादिना
हरिणादीन् हन्ति । ‘श्याद्वधा —’ (३. १. १४१) इत्यादिना णः ।
व्याधः । मृगवधमाजीवतीति मृगवधाजीवः । मृगान् वधार्थं याति धावतीति
मृगयुः । ‘मृगवादयश्च’ (उ० १. ३९) इति कुः । मृगेषु लुब्धः प्रसक्तो
लुब्धकः ॥

कौलेयकः सारमेयः कुक्कुरो मृगदंशकः ॥ २१ ॥

शुनको भषकः श्वा स्याद्

क्षीर० — कुले गृहे भवः कौलेयकः । ‘कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्य-
लङ्कारेषु’ (४. २. ९६) इति ढकञ् । सरमाया अपत्यं सारमेयः ।
कोकते कुक् चोरग्राही, कुक्शब्दं वा कुरति कुक्कुरः । ‘कुर शब्दे’ ।
मृगान् दशति मृगदंशकः । शुनति शुनकः । ‘शुन गतौ’ । भषति
कुत्सितं भाषते भषकः । शवति श्वयति वा श्वा । मण्डली च । रथ्या-
मृगो देश्याम् ॥

टीका० — कौलेयकसप्तकं कुक्कुरे । कौक्षेयकवद् ढकञ् । कौलेयकः ।
सरमा शुनी, तदपत्यं सारमेयः दन्त्यादिः । ‘कुक् वृक् आदाने’ । ‘मदुरादयश्च’

१. यौ, २. ‘क्षीति’, ३. ‘शः। शु’ ख. पाठः.

* ‘कुपिपुल्योः किन्दच्’ इति मुद्रितोणादिपाठः.

(उ० १. ४३) इति उरच् कुगागमश्च । एवमुणादौ कुक्कुरो मध्यरेफरहितो व्युत्पादितः । क्वुनि भषकः । 'श्वन्नुक्षन् —' (उ० १. १६५) इत्यादिना श्रयतेः श्वन् इति साधितः ॥

अलर्कस्तु स यो गरी ।

क्षीर० — सः श्वा सञ्जातगरप्रयोगः अल्यते वार्यते दंशनभया-
दलर्क उन्मत्तः श्वा ॥

टीका० — योगितो दत्तयोग उन्मत्तादिभावं प्रपन्नः श्वा अलर्कः
ह्रस्वादिः ॥

श्वा विश्वकट्टुर्मुग्धाकुशलः

क्षीर० — विश्वं कन्दत्याह्वयते विश्वकट्टुः । विगतं श्वकदनमस्ये-
त्येके । विश्वकं द्रवति वा ॥

टीका० — आखेटकुशलः श्वा विश्वकट्टुः ॥

सरमा शुनी ॥ २२ ॥

क्षीर० — सरति सरमा देवशुनी । विशेषवृत्तिरपि सामान्येऽभि-
धानात् ॥

टीका० — कुक्कुर्यां सरमाद्वयम् । सतर्तैर्बाहुलकात् 'प्रथेरमच्' (उ० ५.
६९) । सरमा ॥

विट्चरः सूकरो ग्राम्यः

क्षीर० — विषं गूथं चरति विट्चरः । सूयते बहून् सूकरः ॥

टीका० — ग्रामभवे सूकरे विट्चरः । विषं विष्टां चरतीत्यच् ॥

वर्करस्तरुणः पशुः ।

क्षीर० — वर्कते वर्करः । 'वृक आदाने' ॥

टीका० — तरुणपशुसामान्ये वर्करः । मतभेदाद् वर्करो मेषशाबक इति
रक्षितः । 'वृक आदाने' । 'ऋच्छररन्' (उ० ३. १३१) इति बाहुलकोऽरन् ॥

आच्छेदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम् ॥ २३ ॥

क्षीर० — आचोद्यन्ते भ्राम्यन्ते प्राणिनोऽत्राच्छेदनम् । चुदे-
च्छत्वम् । मृगान् व्ययति मृगव्यम् । मृगव्येति मुनिः । 'व्येञ् संवरणे' ।
आखेट्यन्ते प्राणिनोऽत्र आखेटः । 'खिट उत्रासने' । मृग्यन्तेऽस्यां
प्राणिनो मृगया । मृगयाटाट्येति (यञ्? यक्शौ) । पापद्धिश्च ॥

टीका० — आच्छेदनं चतुष्कमाखेटके । मृगबाधो मृगव्यम् । 'व्यध
ताडने' । 'अन्येष्वपि' इत्यपिशब्दाद् भावे डः । 'किट खिट उत्रासने' ।
षञ् । आखेटः । 'मृग अन्वेषणे' । चुरादिणिच् । 'परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाट्येनाना-
मुपसंख्यानम्' (वा० ३. ३. १०१) इति भावे शः । मृगया ॥

दक्षिणारुलुब्धयोगाद् दक्षिणेर्मा कुरङ्गकः ।

क्षीर० — लुब्धसंबन्धाद् दक्षिणे पार्श्वे अरुव्रणमस्य दक्षिणारुः ।
दक्षिणे ईर्मं व्रणमस्य दक्षिणेर्मा । 'दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे' (५. ४. १२६)
इति साधुः । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुरि'त्युक्तम् ॥

टीका० — लुब्धयोगाद् दक्षिणारुः लुब्धकेन दक्षिणाङ्गे कृतव्रणो
मृगः । दक्षिणेर्मा । दक्षिणाङ्गे ईर्मं व्रणमस्येति दक्षिणेर्मा नान्तः । 'दक्षिणेर्मा लु-
ब्धयोगे' (५. ४. १२६) इति समासान्तानिच्प्रत्ययान्तो निपातितः ॥

चौरैकागारिकस्तेनदस्युतस्करमोषकाः ॥ २४ ॥

प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः ।

क्षीर० — चोरयति चोरः । स्वार्थे ण् । चुराशीलो वा । छत्रा-
दित्वाणः । एकस्मिन्नसहायेऽगारे भव ऐकागारिकः । 'ऐकागारिकद्
चौरे' (५. १. ११३) इति साधुः । स्तेनयति स्तेनः । 'स्तेन चौर्ये' ।
'शास्त्यान्नञ् विभ्यतः'? हञ् विभ्यः) (उ० २. ४८) इतीनचि स्तेनः स्या-
त् । दस्यत्युपक्षिणोति दस्युः । तत् करोति तस्करः । 'तद्बृहतोः करपत्यो-

१. 'ट' क. पाठः. २. 'व्यादीना' ग. पाठः. ३. 'मृ' दक्षिणेर्मा मृगः । दक्षिण-
मङ्गं व्रणितं व्याधेनेत्यर्थः ॥ चौ', ४. 'ये' । द' ख. पाठः.

श्वोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (ग० ६. १. १५७) । मुष्णाति मोषकः । प्रतिरुणद्धि प्रतिरोधी । परानास्कन्दयति परास्कन्दी । पाटयंश्चरति पाट-
च्चरः । पटच्चरे जीर्णवस्त्रे भवो वा । मलिनं म्लोच(य?)ति मलिम्लुचः ।
'म्लुच स्तेयकरणे' । पारिपन्थिकः पश्यतोहरश्च । 'वाग्दिकपश्यद्भ्यो
युक्तिदण्डहरेषु' (वा० ६. ३. २१) इति षष्ठ्या अलुक् ।

व्यलीकं चातिसन्धानं वञ्चनं च प्रतारणम् ॥

टीका० — चौरदशकं चोरे । चुरा चौर्यं शीलमस्येति चौरः । 'छत्रा-
दिभ्यो णः' (४. ४. ६२) । चुराशब्दे छत्रादिपाठादेव अङ्, णिज्जुक् च ।
पचाद्यचि चोरैशब्दोऽप्यत्र । णेऽपि कचिदण्कृतं कार्यं भवतीति स्त्रियां च ङीपि
चौरी, तापसी च । एकमसहायं गृहं प्रयोजनमस्येति ऐकागारिकः 'ऐकागारि-
कट् चोरे' (५. १. ११३) इति निपातितः । टकारो ङीवर्थः । अपरे तु
इकट्प्रत्ययं वृद्धिं च निपातयन्ति । मोषार्थिनो ह्येकागारं प्रयोजनम् । 'स्तेन
चौर्ये' । चुरादिणिच् । पचाद्यच् । स्तेनः । 'दसु चे'त्यत्र 'यजिमनिशुन्धिदसिज-
निभ्यो युः' (उ० ३. २०) । दस्युः । तत् करोतीति तस्करः । 'तद्बृहतोः कर-
पत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपो वक्तव्यः' (ग० ६. १. १५७) इति पारस्क-
रादित्वात् सुट् तलोपौ । 'मुष स्तेये' । ण्वुल् । मोषकः । प्रतिरोधिपरास्कन्दिनौ
आवश्यकानिन्यन्तौ । पाटयंश्चरतीति पाटच्चरः । दीर्घवदादिः । मलिनं यथा
स्यात् तथा म्लोचति गच्छतीति मलिम्लुचः । म्लुचेर्गत्यर्थाद् इगुपधलक्षणः
कः । पृषोदरादित्वान्मलिननकारलोपः ॥

चौरिका स्तैन्यचौर्ये च स्तेयं

क्षीर० — चौरस्य भावश्चौरिका । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । ब्राह्म-
णादित्वात् ष्यञि चौर्यम् । स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तैन्यम् । 'स्तेना-
दि'ति योगविभागात् ष्यञ् । 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' (५. १. १२५) इति
स्तेयम् ॥

टीका० — चौरिकाचतुष्कं चौरिकायाम् । चौरस्य कर्म चौरिका ।
मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । स्तेनस्य कर्म स्तेयम् । 'स्तेनाद् यन्नलोपश्च' (५. १.

१२९) इति यत् । स्तेनारिति योगविभागात् प्यञ् । स्तैन्यम् । चोरस्य कर्म चौर्यं प्यञन्तम् ॥

लोपत्रं तु तद्धनम् ॥ २५ ॥

क्षीर० — लोप्यते लोपत्रं चौर्यधनम् ॥

टीका० — तद्धनं चौरिकाधनं लोपत्रम् । 'लुप्ल छेदने' । घृन् । * 'लो-
पत्रमश्रुणि चौरिकम्' इति कान्ते विश्वप्रकाशः ॥

वितंसस्तूपकरणं बन्धनं मृगपक्षिणाम् ।

क्षीर० — मृगादिवन्धननिमित्तं जालवायुरादिसाधनं वितन्यते
वितंसः, वितंस्यतेऽनेन वा । तंसिः सौत्रः ॥

टीका० — मृगाणां बन्धनोपायः स्नाय्वादिपाशसङ्गतः, पक्षिणां च
बालपाशादियुक्तो वितंसः । 'तसि भूष अलङ्कारे' । विपूर्वाद् घञ् । पक्षे दीर्घः ।
वितंसः ॥

उन्माथः कूटयन्त्रं स्याद्

क्षीर० — ऊर्ध्वयात्रा मथ्यतेऽनेन उन्माथः । छलेन यम्यतेऽनेन
कूटयन्त्रम् । पाशयन्त्रमित्येके ॥

टीका० — आमिषं दत्त्वा मृगपक्षिवन्धनार्थं यत् सन्धानयन्त्रं निवेश्यते
तत्रोन्माथद्वयम् । 'मथे विलोडने' । 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' (३. १. १४०) ।
उन्माथः । कूटाख्यं यन्त्रं कूटयन्त्रम् ॥

वागुरा मृगबन्धनी ॥ २६ ॥

क्षीर० — रज्जुरिति शेषः । अवागूरयति मृगान् वागुरा । जाला-
कृतिः ॥

टीका० — वागुराद्वयं मृगबन्धनजाले ॥

शुभं वटाकरः स्त्री तु रज्जुस्त्रिषु वटी गुणः ।

क्षीर० — शुः पूजार्थोऽव्ययम् । पूजितं मीयते शुभं शुल्बं वा ।
वध्यते वेष्ट्यते वटाकरः, वटी च । सृज्यते रज्जुः । गुण्यतेऽभ्यस्यते

१. 'ते बध्यतेऽने' ख. पाठः. २. 'र' क. ख. पाठः.

* 'लोपत्रं वस्तुनि चोरिते इति कान्ते विश्वप्रकाशः' इति पाठः स्यात् ।

गुणः । वटी गुण इति पृथगाहुः । 'वट वेष्टने' । (योऽयैः) वेष्टने द्विगुणा त्रिगुणा वा रज्जुर्वेष्टयते, ते वटा गुणाश्चेत्येके ॥

टीका० — शुल्बपञ्चकं बलितगुणे । शुल्बं तालव्यादि, क्लीबम् । 'रज्जुः शुल्बा वटारो ना' इति स्त्रीकाण्डे रत्नकोषः । 'वट वेष्टने' । 'अङ्गिमन्दि —' (उ० ३. १३४) इत्यादिना बाहुलकादारम् । ततः स्वार्थे कः । वटारकः । 'सृजेर-सुमुश्च' (उ० १. १९) इति उपस्ययः असुमागमः, चकारात् सलोपः । ऋकारस्य यणादेशः, सकारस्य जश्त्वेन दकारः, दकारस्य च चुत्वेन जकारः । रज्जुः । 'वट वेष्टने' । इन् । 'कृदिकारादक्तिनः' (ग० ४. १. ४५) इति ङीषि वटी ॥

उद्धाटनं घटीयन्त्रं सलिलोद्वाहनं प्रहेः ॥ २७ ॥

क्षीर० — उद्धाट्यते प्रकाश्यते जलमनेनोद्धाटनम् । 'ऊर्ध्वं हन्यतेऽनेन उद्धा(टः)नम्' इति कौटिल्यः । प्रहेः क्लृपादेर्जलमूर्ध्वं बाह्यतेऽनेनोद्धाहनम् । पादावर्तोऽपि ॥

टीका० — प्रहेरघट्टकूपाद् येन यन्त्रेण जलमुत्तोल्यते, तत्रोद्धाटनद्वयम् । 'वट सङ्घाते' । चुरादिः । ल्युट् । उद्धाटनम् ॥

पुंसि वेमा वायदण्डः

क्षीर० — वयन्त्यनेन वेमा । ऊयते पीड्यते तन्तुसूत्रं येनेति वायः, तदर्थो दण्डः । वायदण्ड इति तु युक्तम् ॥

टीका० — वेमद्वयं वेमनि । 'वेजः सर्वत्र' (उ० ४. १५१) इति । मन् । वेमा नान्तः ॥

सूत्राणि नरि तन्तवः ।

क्षीर० — सूयते सूयते वा पटोऽनेन सूत्रम् । तन्यतेऽनेन तन्तुः ॥

१. 'सकारलो' ठ. पाठः. २. 'जने' ग. घ. पाठः. ३. 'म् । उत्पाटनम्', ४. 'उदपानादेः' ग. घ. ङ. पाठः.

टीका० — सूत्रद्वयं सूत्रे । 'षिवु तन्तुसन्ताने' । 'सिविमुच्योष्टेरू च' (उ० ४. १६४) इति घृन्, ऊकारश्च टेः । सूत्रम् । 'तनु विस्तारे' । सेतुवत् तुः । नरि पुल्लिङ्गे तन्तुशब्द इत्यर्थः । छन्दःपूरणार्थं बहुवनिर्देशः । द्वित्वैकत्वयोरप्येतयोर्वृत्तिः ॥

वाणिर्व्यूतिः स्त्रियौ तुल्ये

क्षीर० — वयनं* वाणिः । (व्यूतिः । 'ऊतियूति—' (३. ३. ९७) इति साधुः ?) व्यूत एव निष्प्रवाणिर्नवः पठः । वयनं वानिः । निवृत्ते वयने निष्प्रवाणिः । पुंस्येव मन्यते नवः पठः । वयनं व्यूतिः । 'ऊतियूति—' (३. ३. ९७) इति साधुः । तुल्या च तुल्या च तुल्ये द्वे ॥

टीका० — वाणिद्वयं वयनक्रियायाम् । वेजो विपूर्वाद् 'ऊतियूति-जूतिसातिहेतिकीर्त्तयश्च' (३. ३. ९७) इति क्तिन् । संप्रसारणोकारस्य दीर्घत्वनिपातनाद् व्यूतिः । वृत्तौ तु अवतेरुतिरिति निपातितम् । तन्मते अवतेः क्तिन् । 'ज्वरत्वर—' (६. ४. २०) इत्यादिना ऊट् । विपूर्वः ॥

पुस्तं लै(ख्याऽप्या)दिकर्मणि ॥ २८ ॥

क्षीर० — पुस्यते मर्थते मृदत्र पुस्तम् । पुस्तं आदरे वा ॥

टीका० — लेप्यादिकर्म पुस्तमुच्यते । आदिना काष्ठखननकर्म गृह्यते । 'पुस्तं पुस्त आदरानादरयोः' । चुरादिणिच् । एरच् ।

“मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा ।

लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते” ॥

पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद् वस्त्रदन्तादिभिः कृता ।

क्षीर० — पाञ्चालदेशे भवा पाञ्चालिका, यया बालाः खेलन्ति । 'यावादिभ्यः कन्' (५. ४. २९) इत्यत्र 'कृत्रिम' इति कन् । पुत्रिका । पुत्रकृत्योरिकन्(वा) ॥

१. 'त्वबहुल्', २. 'णी' क. पाठः. ३. 'व्येनादि' ग. घ., 'व्यूनादि' ड. पाठः. ४. 'मृयते', ५. 'ते पु', ६. 'स' ख. पाठः.

* वयनशब्दो वेज औणादिकेन शिता साध्यः ।

टीका० — पाञ्चालिकाद्वयं पुत्तलीकेति ख्यातायाम् । 'पुत्र कृत्रिमे' इति यावादिगणसूत्रेण कन् । पुत्रिका । आदिना शृङ्गकाष्ठादिग्रहणम् ॥

स्यात् सालभञ्जिका स्तम्भे लेप्येनाञ्जलिकारिका ॥ २९ ॥

जतुत्रपुविकारे तु जातुषं तापुषं त्रिषु ।

क्षीर० — 'त्रपुजतुनोः पुक्' (४. ३. १३८) ॥

पिटकः पेटकः पेटा मञ्जूषा

'पीड गहने' । 'पीड पाने' । अस्माद् वा पीडेति श्रीभोजः (?) ।* मञ्जु मनोज्ञं कृत्वा वस्त्राद्यैरुप्यतेऽत्र मञ्जूषा । आद्यौ घेदारिकायां, परौ महत्याम् ॥

टीका० — पिटकद्वयं पेटा इति ख्याते । 'पिट शब्दसंज्ञातयोः' । यथाक्रमं कुन्ण्वुलौ । पेटाद्वयं काष्ठादिमञ्जूषायाम् । 'टु मस्जो शुद्धौ' । 'मस्जेर्नु च' (उ० ४. ७८) इति ऊबन्नुमागमौ । मञ्जूषा द्विजकारा । 'झरो झरि सवर्णे' (८. ४. ६९) इति सलोपपक्षे एकजकारा मञ्जूषा ॥

अथ विहङ्गिका ॥ ३० ॥

भारयष्टिः

क्षीर० — विहङ्गप्रतिकृतिश्चर्मादिमयी (वहित्यादौ!) लम्बमाना स्थाप्यते प्रयाणके च सञ्चार्यते । भारोद्ग्रहनार्था यष्टिः । 'चतुर्दण्डिके'ति सभ्याः । शिक्याधारस्कन्धग्राह्यो लघुद इति द्रमिडाः । विहङ्गमेत्येके ॥

टीका० — विहङ्गमाद्वयं बाहुकेति ख्याते । पक्षिपर्याये विहङ्गमा साधिता । कचिद् विहङ्गिकेति पाठः ॥

तदालम्बः शिक्यं काचः

क्षीर० — तदालम्बो भारालम्बः, तस्या अवलम्बते वा । शक्नोति वोढुं शिक्यम् । अग्न्यादि । कच्यतेऽनेन काचः । 'कच बन्धने' । यत्र रज्जुपञ्जरे वोढव्यमास्ते ॥

१. 'डयतीति' ग. घ. ड. पाठः. २. 'कट इ' ख. पाठः. ३. 'गे' क. पाठः.

* "पिट शब्दसंज्ञातयोः" । पेटति । पिटकः पेटकः पेटा मञ्जूषा । पिटः पिटक कण्ठोलः । पिटकं विस्फोटः ।" इति क्षीरतरङ्गिणी ।

टीका० — शिष्यद्वयं शिष्ये । शिष्यं तालव्यशम् ॥

अथ पादुका ।

पादूरूपानत् स्त्री

क्षीर० — पद्यतेऽनया पादूः । 'णित्कसिपद्यतेः' (उ० १. ८८) । स्वार्थे कः । 'केऽणः' (७. ४. १३) इति ह्रस्वः । पादुका । उपनह्यत इत्युपानत् । 'नहिद्यति —' (६. ३. ११६) इति दीर्घः । पादत्राणं च ॥

टीका० — पादुकात्रयं पादुकायाम् । 'णित्कसिपद्यतेः' (उ० १. ८८) इति ऊः । णित्वाद् वृद्धिः । पादूरेव पादुका । स्वार्थे कन् । 'केऽणः' (७. ४. १३) इति ह्रस्वः । 'णह बन्धने' । सम्पदादिक्विप् । 'नहिद्यति —' (६. ३. ११६) इत्यादिना पूर्वपददीर्घः । पदान्ते 'नहो धः' (८. २. ३४) इति हस्य धः । चत्वरम् । तकारः । उपानत्, हान्ता ॥

सैवानुपदीना पदायता ॥ ३१ ॥

क्षीर० — अनुपदं पदायामेन वद्धा 'अनुपदीना । 'अनुपदसर्वा —' (५. २. ९) इति खः ॥

टीका० — पदायता पादप्रमाणा पादूः अनुपदीना । अनुपदसर्वात्रायानयं वद्धाभक्षयतिनेयेषु' (५. २. ९) इति खः ॥

नध्री वर्ध्री वरत्रा स्यात्

क्षीर० — नहति वर्धति नध्री । वर्धते दीर्घीभवति चर्मरज्जुत्वाद् वर्ध्री । त्रियतेऽनया वरत्रा । 'वरत्रा (वैत्र) वैणवी'ति तु चाणक्यस्तन्त्राध्यक्षे* उपचारादाख्यत् ॥

टीका० — नध्रीत्रयं चर्मरज्जुवाम् । 'णह बन्धने' । 'दास्त्रीशसयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे' (३. २. १८२) इति घृन् । 'नहो धः' (८. २. ३४) इति धत्वम् । षित्वात् ङीष् । नध्री । 'वृधिवपिभ्यां रन्' (उ० २. ३०) इति वृधे रन् । गौरादिङीष् । वर्ध्री । 'वार्ध्री दीर्घवदादिरि'ति हङ्गुचन्द्रः । 'वृजश्चित्' (उ० ३. १०७) इत्यत्रन् । वरत्रा ॥

* कौटिलीयार्थशास्त्रे सूत्राध्यक्षे अधि० २. अध्या० २३. प्रक० ४०.

अश्वदेस्ताडनी कशा ।

क्षीर० — कशति कशा चर्मयष्टिः ॥

टीका० — वामाटीति ख्यातायां कशा । औदिना उष्ट्रादेः । कश-
स्तालव्यान्तः सौत्रः । पचाद्यच् ॥

चाण्डालिका तु कण्डोलवीणा चाण्डालवल्लकी ॥ ३२ ॥

क्षीर० — चण्डालस्येयं चाण्डालिका । कथ्यते तन्त्रीभिरात्रि-
यते कण्डोलवीणा किन्नराख्या ॥

टीका० — चाण्डालिकात्रयं चण्डालवीणायाम् । चण्डालेन कृता चा-
ण्डालिका । 'कुलालादिभ्यो वुञ्' (४. ३. ११८) । 'कटे वर्षावरणयोः' ।
कपोलवद् ओलच् । कटोलश्चण्डालः । तस्य वीणा कटोलवीणा ॥

नाराची स्यादेषणिका

क्षीर० — नरम् अञ्चति नराङ्, तस्येयं नाराची । अन्विष्यते
(व्रणोऽवर्णोऽनयेत्येषणिका । स्वर्णतुलेतीह युक्तम् ॥

टीका० — नाराचीद्वयं नाराचीकृतलोहतुलायाम् । इच्छतेः करणे
ल्युट् । 'एषणात् करणे' (ग० ४. १. ४१) इति ङीष् । एषणी ॥

शाणस्तु निकषः कषः ।

क्षीर० — श्यति तनूकरोति शाणः । निकष्यत तत्र निकषः ।
'गोचरसञ्चर —' (३. ३. ११९) इति चकारात् साधुः । पुंसि संज्ञायां
घो वा । एवं कषः । निकषोपल इत्येके । पचाद्यच् । मणिकारादिभा-
ण्डमाहुः । यन्मुनिः — 'शाणश्च निकषोपलः' ॥

टीका० — शाणत्रयं कर्षपट्टिकायाम् । 'शण श्रण दाने' । घञ् ।
शाणस्तालव्यादिः । निकषकषौ घप्रत्ययान्तौ ॥

१. 'ङी', २. 'अश्वदेरित्यादिना उष्ट्रादेर्ग्रहणम् । कशः सौ' ठ. पाठः. ३. 'ण्ड्य'
क. च. पाठः. ४. 'किन्दरा इति ख्यातायाम् । चण्डाले' क. च. ज. पाठः. ५. 'चा'
ग. घ. ङ. पाठः. ६. 'च' ग. पाठः. ७. 'णः । नि' ठ. पाठः.

ब्रश्चनः पत्रपरशुः

क्षीर० — वृश्चति छिनत्ति ब्रश्चनः । पत्राकारः पत्राणां वा परशुः ॥

टीका० — ब्रश्चनद्वयं स्वर्णादिच्छेदनिकायाम् । 'ओ ब्रश्चू छे-
दने' । करणे ल्युट् । ब्रश्चनः । पत्रमिव परशुः ॥

ईषिका तूलिका समे ॥ ३३ ॥

क्षीर० — ईषति ईषिका । 'ईष उञ्छे' । काष्ठलोहादिसयी शला-
का । तूल्यते तूलिका । 'तूल निष्कर्षे' । ईषाकेत्येके । 'शलकैः पिकयो-
स्तूलिरिति भुग्नो भेदेनाह ॥

टीका० — सामान्येन वीरणादिशलाकायामिषीकाद्वयम् । केचित्
चित्रकरकूर्चिकायाम् । आवर्तितमनावर्तितं वा सुवर्णं ज्ञातुं यन्निक्षिप्यते तत्रे-
त्यपरे । ईषीका गजाक्षिकूटपर्याये व्युत्पादिता । 'तूल निष्कर्षे' । क्वुन् ।
तूलिका ॥

तैजसावर्तनी मूषा

क्षीर० — तैजसं हेमादि आवर्त्यते द्रवीक्रियतेऽस्यां तैजसाव-
र्तनी । मूयतेऽस्यां मूषा । 'मूङ् बन्धने' ॥

टीका० — तैजसावर्तनीद्वयं मूषायाम् । मुषेः 'गुरोश्च हलः' (३. ३.
१०३) इत्यप्रत्यये टापि 'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७) इति दीर्घत्वे मूषा ।
'मूषा त्वावर्तनी मूषी'ति शब्दार्णवः ॥

भस्त्रा चर्मप्रसेविका ।

क्षीर० — बभस्ति भक्षयतीव स्थाप्यं भस्त्रा । चर्ममयी, प्रसीव्यते,
प्रसेविका । प्रसेवकोऽपि ॥

टीका० — भस्त्राद्वयं भस्त्रायाम् । 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' । 'हुयामाशु-
स्तुभसिभ्यस्त्रन्' (उ० ४. १६९) । 'तितुत्र —' (७. २. ९) इत्यादिना इड-
भावः ॥

आस्फोटनी वेधनिका

क्षीर० — आस्फोट्यते विध्यतेऽनया मौक्तिकादि ॥

टीका० — मणिशङ्खादेर्वेधनी भ्रमः । तत्र लास्फोटनीद्वयम् । लडति स्फोटयतीति लास्फोटनी । पृषोदरादिः ॥

कृपाणी कर्तरी समे ॥ ३४ ॥

क्षीर० — कल्प्यते भिद्यतेऽनया कृपाणी । कर्त्त्यतेऽनया कर्तरी ॥

टीका० — कृपाणीद्वयं पत्रीकृतसुवर्णादिः कर्तनोपायै कासीति ख्याते, नापितकेशकर्तरीकायां वा । 'कृती छेदने' । बाहुलकादरन् । गौरा-दिङीष् । कर्तरी ॥

वृक्षादनो वृक्षभेदी

क्षीर० — वृक्षोऽद्यते छिद्यतेऽनेन शस्त्रकेण वृक्षादनः ॥

टीका० — वृक्षादनद्वयं वृक्षभेदिनि । वृक्षादनो नन्दादिः । वृक्षभेदी नान्तः ॥

टङ्कः पाषाणदारणः ।

क्षीर० — टङ्क्यतेऽनेन टङ्कः । 'टकि बन्धने' । हन्यमानः टंशब्दं कायतीति वा ॥

टीका० — टङ्कद्वयं पाषाणदारणे । 'टकि बन्धने' । चुरादिणिच् । 'एर-च्' (१. ३. ९६) । अतः परमार्याद्वयम् * ॥

ककचोऽस्त्री करपत्रं

क्षीर० — 'क' शब्दोच्चारणेन कचति ककचः । करसञ्चार्यं शस्त्रं करपत्रम् । करशब्दोच्चारणेन पतति वा ॥

१ 'मरः । त' ग. ठ. पाठः । २. 'ये । ना' ठ. पाठः. ३. 'नीभाणेति ख्याते । वृ' ४. 'टङ्कीति ख्याते । ट' क. ग. पाठः.

* अत्र प्रथमार्या "ककचोऽस्त्री करपत्रं स्यादारा चर्मभेदिका चैव । सूर्मि स्थूणा लोहप्रतिमा शिल्पं कलादिकं कर्म ॥" इति पाठेन सम्पाया ।

टीका० — क्रकचद्वयं करवर्त इति ख्याते । क्रकचोऽस्त्रीति सम्बन्धः ।
चवर्गान्तोऽयम् । नाममालायां तु क्लीबं क्रकचम् ॥

स्यादारा चर्मभेदिका ॥ ३५ ॥

क्षीर० — इयर्त्यनयेत्यारा । भिदादौ आरा शस्त्र्यां साधुः । चर्म-
सीवनी ॥

टीका० — चर्मकाराणां चर्मवेधनं लोहद्रव्यम् आरा । 'ऋ गतौ' ।
आङ्पूर्वाद् भिदादिगणसूत्रेण 'आरा शस्त्र्याम्' (ग० ३. ३. १०४) इति निपा-
तिता । अङ्प्रत्ययः । 'ऋहशोऽङि गुणः' (७. ४. १६) । सवर्णदीर्घत्वम् ।
ततश्चाप् ॥

सूर्मिः स्थूणायःप्रतिमा

क्षीर० — सुवति सूर्मिः । शोभनोर्मिरित्येके । तिष्ठति स्थूणा ।
यच्छाश्वतः — 'स्थूणा स्तम्भे च सूर्म्या च' । अयोमयी प्रतिकृतिः । यत्
स्मृतिः—

“सूर्मिं ज्वलन्तीमालिङ्गेनृत्यवे गुरुतल्पगः” ॥

टीका० — सूर्मीत्रयं लोहप्रतिमायाम् ।

“स्वच्छभिर्वलिभिरक्षदुन्दुभिर्नाभिगोसुरभिजानि(?)शूर्मयः”

इत्यरुणः । 'सृ गतौ' । 'ग्रीष्मजालमादय' इति मप्रत्यये सूर्यादेशे च गौरादिङीषि
सूर्मी । 'चुलीति महान्यास' इति उपाध्यायसर्वस्वम् । तिष्ठतेः 'रास्त्रासा-
स्त्रास्थूणा —' (उ० ३. १५) इत्यादिना नक्, अन्त्यस्योकारः, णत्वं च । स्थूणा ॥

सिल्पं कर्म कलादिकम् ॥ ३५ ॥

क्षीर० — सिनोति सिल्पम् । 'षिञ् बन्धने' । 'सिल उच्छे' ।
अस्माद् वा । कला गीताद्याश्चतुष्पष्टिः । आदिशब्दः प्रकारे ॥

टीका० — वात्स्यायनोक्तनृत्तवाद्यादिचतुष्पष्टिर्वाङ्मक्रियाः, तथालि-

१. 'श' ग. झ. पाठः. २. 'मृ। सृ' ठ. पाठः. ३., ४., ५. 'शि' ग.
घ. ङ. पाठः.

ङ्गनचुम्बनाद्याश्चाभ्यन्तराश्चतुष्पष्टिः क्रियाः कलाः । आदिना स्वर्णकारादिकर्म
तत् सर्वं शिल्पम् । तालव्यादिः ॥

प्रतिमानं प्रतिविम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया ।
प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिः

क्षीर० — प्रतिमीयतेऽनेन प्रतिमानं, प्रतिमा च । प्रतिविम्ब्यते
प्रतिविम्बं, विम्बसदृशं वा । प्रतियातयत्यनयां प्रतियातना । 'यत् निका-
रोपसंस्कारयोः' । अर्च्यते अर्चा । प्रतिनिधीयते प्रतिनिधिर्मुख्यस-
दृशः । प्रतिरूपं प्रतिच्छन्दः प्रतिकायश्च ॥

टीका० — प्रतिमानाष्टकं मूर्तिसदृशशिलादिनिर्मितप्रतिरूपके । सर्व-
मेव साधितम् ॥

उपमोपमानं स्यात् ॥३६॥

क्षीर० — उपमितिरूपमा । केचिदेतत् पूर्वंः सम्बध्नन्ति ॥

टीका० — उपमाद्वयं येनोपमीयते या, सोपमितिस्तत्र । मातेः 'आ-
तश्चोपसर्गे' (३. ३. १०६) इत्यङ् । उपमा ॥

वाच्यलिङ्गाः समस्तुल्यः सदृशः सदृक् ॥ ३७ ॥

साधारणः समानश्च

क्षीर० — सह माति समः । तुलया सम्मितस्तुल्यः । 'नौवयो-
धर्म' (४. ४. ९१) इति यत् । समान इव दृश्यते । 'त्यदादिषु दृशो-
ऽनालोचने कञ्च' (३. २. ६०) इति 'समानान्ययोश्चे'ति वक्तव्यात्
कञ् किञ्च । 'दृग्दृशवतुषु' (६. ३. ८९) इति समानस्य सः । समा-
नम् आधारणं मानं चास्य साधारणः समानश्च ॥

टीका० — समसप्तकं तुल्ये । एते वाच्यलिङ्गाः । 'षम षम शब्दे' ।
पचादिः । समः । तुलया सम्मितस्तुल्यः । 'नौवयोधर्म' (४. ४. ९१)
इत्यादिना यत् । समान इव दृश्यत इति सदृशः । सदृक् शान्तः । 'दृशे
कसन्प्रत्ययो वक्तव्यः' (वा० ३. २. ६०) इति कसन् । व्रश्वादिन
षत्वम् । 'षढोः कः सि' (८. २. ४१) इति कुत्वम् । 'दृक्षे चेति

वक्तव्यम्' (वा० ६. ३. ८९) इति समानस्य सभावः । सदृशः । 'समानान्य-
योश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३. २. ६०) इति कञ्किनौ । 'दृक्दृशवतुषु'
(६. ३. ८९) इति समानस्य सभावः । सदृशः सदृक् । 'आग्नीध्रसाधारणा-
दञ् वक्तव्यः' (वा० १. ४. ३६) इति स्वार्थेऽञ् विकल्पः । तेन स्त्रियामञ्-
पक्षे टिड्ढाणञ् —' (४. १. १९) इत्यादिना ङीप् । साधारणी । कनि टापि
साधारणा ॥

स्युत्तरपदे त्वमी ।

निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः ॥ ३८ ॥

क्षीर० — वाच्यलिङ्गास्तुल्यार्थाश्चैते । यथा चन्द्रनिभं मुखम्,
पद्मसङ्काशम् । नियतं भाति निभम् । समं काशते सङ्काशम् । आदि-
शब्दाच्चन्द्रप्रतिमः, पतिरूपः, आयामभूतः इत्यादि । चन्द्रेण निभ
इत्यादौ न भवति । समास एवोत्तरपदत्वस्य रूढः ॥

टीका० — निभादयस्तूत्तरपदभूताः सन्तः सदृशवचनाः, वाच्यलिङ्गा
इति परं पूर्वस्माद् विशेषः । उदाहरणं तु पितृनिभः, मातृसंकाशः । 'काश्ट
दीतौ' । तालव्यान्तः । घञि संकाशः । पचाद्यचि 'इकः काशे' (६. ३. १२३)
इति पूर्वपददीर्घत्वे नीकाशः । घञि प्रतीकाशः । आदिना भूतरूपकल्पानां ग्रहणम् ।
यथा पितृकल्पः पितृरूपः पितृभूतः ॥

कर्मण्या तु विधाभृत्याभृतयो भर्म वेतनम् ।

भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वेशः पण इत्यपि ॥ ३९ ॥

क्षीर० — कर्मणि साधुः कर्मण्या । विधीयतेऽनया विधा, लक्ष्ये
भोजनपिण्डे रूढा । भ्रियतेऽनयेति 'संज्ञायां समज—' (३. ३. ९९)
इति क्यपि साधुः । 'स्त्रियां क्तिन्' (३. ३. ९४) । मनिन् । ल्युट् तुद् च,
वीयतेऽनेन वेतनम् । 'वी गत्यादौ' । भरणे साधु भरण्यम् । मूलेनानाम्यं
मूल्यम् । नौवयोधर्म—' (४. ४. ९१) इति यत् । निर्विश्यते भुज्यते
निर्वेशः । पण्यते आभाष्यते पणः । 'नित्यं पणः परिमाणे' (३. ३. ६६)
इति साधुः ॥

टीका० — कर्मण्यैकादशकं वेतने । कर्मणा संपद्यत इति कर्मण्य । 'कर्मवेशाद् यत्' (५. १. १००) । 'ये चाभावकर्मणोः' (६. ४. १६८) इति प्रकृतिभावः । धाजोऽङ् । विधा । भृजः 'संज्ञायां समञ्ज —' (३. ३. ९९) इत्यादिना क्यप् । भृत्या । 'कर्मणि भृतौ' (३. २. २२) इति निपातनात् क्तिनि भृतिः । मनिना भर्म । 'वी गत्यादौ' । 'वीपथिभ्यां तनन्' (उ० ३. ५१) । वेतनम् । 'राजेरन्यः' (उ० ३. १००) इति बाहुलकोऽन्यः । भरण्यम् । ल्युटि भरणम् । मूल्यैपणौ साधितौ । वेश उक्तः । निपूर्वाद् निर्वेशः ॥

सुरा हलिप्रिया हाला परिस्रुद् वरुणात्मजा ।

गन्धोत्तमा प्रसन्नेरा कादम्बर्या परिस्रुता ॥ ४० ॥

मदिरा कश्यमद्ये चापि

क्षीर० — सूयते परिवस्यते सुरा । हलिनो बलस्य प्रिया । जहाति लज्जामनया हाला । हलति विलिखति वाङ्म । ज्वलादित्वाणः । परिस्रवति परिस्रुत् । परिस्रुता च । वरुणात्मजा वारुणी, समुद्रोत्थत्वात् । गन्धेनोत्तमा गन्धोत्तमा । प्रसीदति प्रसन्ना, अच्छसुरा । एति भ्राम्यत्यनया इरा । कुत्सिताम्बरस्य नीलवासस इयं कादम्बरी । सहाये तृतीया । माद्यन्त्यनया मदिरा । कशिदेशे भवं कश्यम् । मदे साधु मद्यं, माद्यत्यनेन वा । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३. ३. ११३) इति करणे 'गदमद —' (३. १. १००) इति यत् । स्वादुरसा मदिष्ठा, कल्या, हारहूरा, कापिशायनं च ॥

टीका० — सुरात्रयोदशकं मद्ये । सुपूर्वाद् रातेरङि सुरा । बलभद्ररुच्यत्वाद् हलिप्रिया । 'स्रु गतौ' । क्विपि परिस्रुत् तान्ता । मथनकाले सागरादियं वरुणसुता जातेत्यतो वरुणात्मजा । तदुक्तं —

“वरुणस्य ततः कन्या प्रार्थ्यमाना परिग्रहम्”

इति । सीदतेः क्तः । प्रसन्ना । इः कामः, तं रातीति इरा ह्रस्वादिः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३. २. ३) । गोमन्तपर्वते कदम्बकोटरजत्वात् कादम्बरी । तदुक्तं —

१. 'ङ्' अनुवि' ग. पाठः. २. 'ल' क. पाठः. ३. 'चार्यतेऽनया सु' ग. पाठः. ४. 'मा । प्र' ख. पाठः.

“कदम्बकोटराज्जाता नाम्ना कदम्बरी तु सा ।”

नैस्तो वर्णसङ्घातलोपः । मुदिरवत् किरचि मदिरा । कशिः सौत्रस्ताल-
व्यान्तः । ‘जनेर्यक्’ (उ० ४. ११२) इति बाहुलको यक् । कश्यम् । ‘गदमद-
चरयमश्चानुपसर्गे’ (३. १. १००) इति मद्यम् ॥

अवदंशस्तु भक्षणम् ।

क्षीर० — अवदश्यते पानरुचिजननार्थमवदंशः स्वरविदंशमभ्य-
वहार्यम् । चर्वणमुपदंशश्च ॥

टीका० — ओडशिकायामुपदंशः ॥

शुण्डा पानमदस्थानं

क्षीर० — शु(ण्ड्य ? ण्य)ते शुण्डा । ‘शुण गतौ’ । पानमदयो-
रास्पदं कल्याणालगृहैकदेशः । शाश्वतस्तु —

“कुञ्जराणां करः शुण्डा शुण्डा कदम्बरी मता” ॥

टीका० — शुण्डात्रयं पानागारे । पिवन्त्यस्मिन्निति पानम् । शुण्डा
तालव्यादिः । पिवतां मदस्तत्रोपजायत इति मदस्थानम् ॥

मधुवारा मधुक्रमाः ॥ ३९ ॥

क्षीर० — क्रमेण मधुपानावसराः ॥

टीका० — असकृन्मधुपानक्रमे मधुवारद्वयम् । वारः क्रमः परिपा-
टिरिति पर्यायाः । षष्ठीसमासः । बहुत्वाद् बहुवचनम् ॥

क्षीर० — “गौडी पैथी च माध्वी च (प ? फ)लोत्था च सुरा स्मृता” इति सुराया
भेदानाह —

मध्वासवो माधवकः

माक्षिकमिश्रम् आसूयते मध्वासवः । मधुनो विकारो मधुकृतो
वा माधवकः । कुलालदित्वाद् बुक् ॥

मधु मार्द्दीकमद्ययोः ।

मद्यते मधु माद्यत्यनेन वा । मृद्धीकाया विकारो मार्द्दीकम् ।
माध्वीकमित्युपाध्यायः । मद्यस्योक्तत्वादद्वयोरित्येके पेठुः । तन्न ।
सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥

टीका० — मधूकपुष्पकृते मद्ये मध्वासवचतुष्कम् । मधूकपुष्पं मधु,
तस्यासवः सन्धानं मध्वासवः । मधुना कृतो माधवकः । ‘कुलालादिभ्यो
बुञ्’ (४. ३. ११८) । मधुप्रकृतित्वान्मधु । मृद्धीका द्राक्षा, तस्या विकारो
मार्द्दीकम् । एतत् तु ‘पचाम मधु माध्वीकमि’त्यत्र टीकाकृतोक्तम् । न
द्वयोः नपुंसकमेवेत्यर्थः ॥

मैरेयमासवः शीथुः

क्षीर० — मिरायां देशे भवो गौड्याः सुराया विशेषो मैरेयः ।
शेरतेऽनेन शीथुः । शीथोरित्येके पठित्वा शीथुप्रकृतिक इति व्याख्यन् ।
यदाहुः — ‘मध्वासवस्तु मैरेयम्’ । तन्न । यन्माला — ‘मैरेयो गदितः
शीथुः’ । पकरसोऽपि ॥

टीका० — मैरेयत्रयं मद्यविशेषे । यद्यपि —

“शीथुरिक्षुरसैः पकैरपकैरासवो भवेत् ।

मैरेयं भातकीपुष्पगुडधानाम्बुसंहितम् ॥”

इति माधवः, तथापि सूक्ष्मभेदमनादृत्यैतदुक्तम् । ‘शीडेस्थुकूलक्वलञ्ज्वालजः’
(उ० ४. ३८) इति श्रुक्प्रत्ययः । अर्धर्चादिपाठात् पक्षे क्लीबम् । शीथोः
परेण सम्बन्ध इत्यन्यः ॥

मेदको जगलः समौ ॥ ४० ॥

क्षीर० — मेद्यति स्निह्यत्यनेन मेदकः । भृशं गलतीति जगल
सुरायाः सन्धानद्रव्यपङ्कः ॥

१. ‘न्य’ ग. घ. ङ. पाठः. २. ‘मि’ क. पाठः. ३. ‘मृ’ य’ क. ख. पाठः.
‘व’ क. ङ. पाठः. ४. ‘को धृक्’, ५. ‘धु’ ङ. ज. पाठः.

टीका० — मेदकद्वयं सुराकलके । जगलः चवर्गादिः ।

“मद(नादौ ? नद्रौ) पिष्टमद्ये जगले धूर्तमेदके”

इति रभसः ॥

सन्धानं स्यादभिषवः

क्षीर० — सन्धीयते सन्धानं, वंशाङ्कुरफलादीन् बहुकालं सन्धाय यत् क्रियते । अभिषूयते चिरं क्लेद्यते अभिषवः । भावसाधनो वा । सुरासन्धौ वर्तते ॥

टीका० — सुरासन्धानेऽभिषवद्वयम् । धाजो ल्युट् । सन्धानम् । स्नानेऽभिषव उक्तः ॥

किण्वं पुंसि तु नम्रहः ।

क्षीर० — क्णति कीयते वा सुरानेन किण्वं, माषदलव्योषादि सुराबीजाख्यम् । नग्नेन(हू ? ह्व)यते स्पर्धते सुरास्वीदनाभावाद् नम्रहः । नम्रहुर्मालायाम् ॥

टीका० — नानाद्रव्यकृते सुराबीजे किण्वद्वयम् । नग्नमाह्वयत इति नग्नहूः नम्रहौ नम्रहः । ‘ह्वयतेश्च’ इति क्प् । अव्युत्पन्नोऽयमुकारान्त इत्यन्यः ।

“विद्याद् देयमृणं परिवृत्ते नग्नहं किण्वम्”

इति नाममाला । ‘क्लीवे किण्वं च नग्नहुरि’त्यमरमालां च ॥

कारोत्तमः सुरामण्डः

क्षीर० — कारेण क्रियया वक्ष्यान्मुख्यः कारोत्तमः । सुरा(त्थाः ? त्यः) स्वच्छभागः ॥

टीका० — सुराया मण्डेऽग्रभागे कारोत्तरः ॥

१. ‘तै’ क. पाठः. २. ‘कि’ ख. पाठः. ३. ‘ण्वः’ ग. घ. ङ. पाठः. ४. ‘क्लि’, ५. ‘क्ली’, ६. ‘च्छा’ क. ग. घ. पाठः. ७. ‘ला ॥’ ग. पाठः. ८. ‘रापाथो मूर्छाभा’ ग. घ. ङ. पाठः.

मधु मार्वीकमद्ययोः ।

मद्यते मधु माद्यत्यनेन वा । मृद्वीकाया विकारो मार्वीकम् ।
माध्वीकमित्युपाध्यायः । मद्यस्योक्तत्वादद्वयोरित्येके पेटुः । तन्न ।
सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥

टीका० — मधूकपुष्पकृते मद्ये मध्वासवचतुष्कम् । मधूकपुष्पं मधु,
तस्यासवः सन्धानं मध्वासवः । मधुना कृतो माधवकः । 'कुलालादिभ्यो
वुञ्' (४. ३. ११८) । मधुप्रकृतित्वान्मधु । मृद्वीका द्राक्षा, तस्या विकारो
मार्वीकम् । एतत् तु 'पचाम मधु माध्वीकमि'त्यत्र टीकाकृतोक्तम् । न
द्वयोः नपुंसकमेवेत्यर्थः ॥

मैरेयमासवः शीथुः

क्षीर० — मिरायां देशे भवौ गौड्याः सुराया विशेषो मैरेयः ।
शेरतेऽनेन शीथुः । शीथोरित्येके पठित्वा शीथुप्रकृतिक इति व्याख्यन् ।
यदाहुः — 'मध्वासवस्तु मैरेयम्' । तन्न । यन्माला — 'मैरेयो गदितः
शीथुः' । पकरसोऽपि ॥

टीका० — मैरेयत्रयं मद्यविशेषे । यद्यपि —

“शीथुरिक्षुरसैः पक्कैरपक्कैरासवो भवेत् ।

मैरेयं भातकीपुष्पगुडधानाम्बुसंहितम् ॥”

इति माधवः, तथापि सूक्ष्मभेदमनादृत्यैतदुक्तम् । 'शीडेस्थुकूलक्वलजूवालजः'
(उ० ४. ३८) इति थुक्प्रत्ययः । अर्धर्चादिपाठात् पक्षे क्लीबम् । शीथोः
परेण सम्बन्ध इत्यन्यः ॥

मेदको जगलः समौ ॥ ४० ॥

क्षीर० — मेद्यति स्निह्यत्यनेन मेदकः । भृशं गलतीति जगलः
सुरायाः सन्धानद्रव्यपङ्कः ॥

१. 'न्य' ग. घ. ङ. पाठः. २. 'मि' क. पाठः. ३. 'मृ. य' क. ख. पाठः. ४.
'च' क. ङ. ढ. पाठः. ५. 'को ध्रुक्', ६. 'धु' ङ. ज. पाठः.

टीका० — मेदकद्वयं सुराकल्के । जगलः चवर्गादिः ।

“मद(नादौ? नद्रौ) पिष्टमद्ये जगले धूर्तमेदके”

इति रभसः ॥

सन्धानं स्यादभिषवः

क्षीर० — सन्धीयते सन्धानं, वंशाङ्कुरफलादीन् बहुकालं सन्धाय यत् क्रियते । अभिषूयते चिरं क्लेशते अभिषवः । भावसाधनो वा । सुरासन्धौ वर्तते ॥

टीका० — सुरासन्धानेऽभिषवद्वयम् । धाञो ल्युट् । सन्धानम् । स्नानेऽभिषव उक्तः ॥

किण्वं पुंसि तु नम्रहः ।

क्षीर० — क्णति कीयते वा सुरानेन किण्वं, माषदलव्योषादि सुराबीजाख्यम् । नयेन(हू? ह)यते स्पर्धते सुरास्वादनाभावाद् नम्रहः । नम्रहुर्मालायाम् ॥

टीका० — नानाद्रव्यकृते सुराबीजे किण्वद्वयम् । नग्नमाह्वयत इति नग्नहूः नम्रहौ नम्रहः । ‘ह्वयतेश्च’ इति क्प् । अव्युत्पन्नोऽयमुकारान्त इत्यन्यः ।

“विद्याद् देयमृणं परिवृत्ते नग्नहं किण्वम्”

इति नाममाला । ‘क्लीवे किण्वं च नग्नहुरि’त्यमरमालां च ॥

कारोत्तमः सुरामण्डः

क्षीर० — कारणे क्रियया वश्यान्मुख्यः कारोत्तमः । सुरा(त्थाः? त्थः) स्वच्छभागः ॥

टीका० — सुराया मण्डेऽग्रभागे कारोत्तरः ॥

१. ‘तै’ क. पाठः. २. ‘क्लि’ ख. पाठः. ३. ‘ण्वः’ ग. घ. ङ. पाठः. ४. ‘क्लि’, ५. ‘क्ली’, ६. ‘च्छा’ क. ग. घ. पाठः. ७. ‘ला ॥’ ग. पाठः. ८. ‘रापायो मूर्च्छाभा’ ग. घ. ङ. पाठः.

आपानं पानगोष्ठिका ॥ ४१ ॥

क्षीर० — आपीयतेऽस्मिन्नापानम् । पानाय गोष्ठी आसनं पान-
गोष्ठी । गावो नानाविधा वाचस्तिष्ठन्त्यत्रेति ॥

टीका० — आपानद्वयं संभूय यत्र पीयते, तत्र ॥

चषकोऽस्त्री पानपात्रं

क्षीर० — चषन्त्यनेन चषकः । गल्वर्कोऽपि ॥

सरकोऽप्यनुतर्षणम् ।

विवक्षातो विध्यनुवादौ । सरति सरकः । अनुतृष्यत्यनेना-
नुतर्षणं सुरापरिवेषणम् । चषकपर्यायावेतावित्येके । यन्मुनिः —
'चषकश्चानुतर्षश्च सरकः' ॥

टीका० — चषकचतुष्कं मद्यपानपात्रे । अपिशब्दात् सरकोऽप्यस्त्री ।
'सरकं वा ना । अनुतर्षो ने'ति तु रत्नकोषः । 'चष भक्षणे' । मूर्धन्यषः । 'सृ-
गतौ' । 'कृजादिभ्यो वुञ्' (उ० १. ३५) । चषकसरकौ । 'जितृषा पिपासा-
याम्' । ल्युट् । अनुतर्षणम् ॥

धूर्तोऽक्षदेवी कितवोऽक्षधूर्तो द्यूतकृत् समाः ॥ ४२ ॥

क्षीर० — धूर्वति हिनस्ति धूर्तः । अक्षैर्दीव्यति विजिगीषते
तच्छीलोऽक्षदेवी । किं तवास्तीति पणते कितवः ॥

टीका० — धूर्तपञ्चकं द्यूतकारे । द्यूतविषये धृतिरवस्थानमस्यास्तीति
धूर्तः । मत्वर्थे ज्योत्स्नादित्वादण् । अक्षदेवी णिन्यन्तः । किं तवास्तीति वद-
तीति कितवः । पृषोदरादिः ॥

स्युर्लग्नकाः प्रतिभुवः सभिका द्यूतकारकाः ।

क्षीर० — लगति लग्नकः । प्रतिनिधिर्भवति प्रतिभूः । सभा

१. 'नावा' ख. पाठः. २. 'क' ग. ड. पाठः. ३. 'द' ग. पाठः. ४. 'कृ',
५. 'क' ड. पाठः. ६. 'णम् । च' ख. पाठः. ७. 'ति जि' ग. घ. ड. पाठः.
८. 'धू' ह. ज. पाठः.

धूतशालाऽस्त्यस्य सभिकः । धूतकारकः । द्वौ द्वौ भिन्नार्थौ । आद्ययोः
सर्वसामान्यत्वात् ॥

टीका० — लग्नकद्वयं लग्नके । 'ओ लजी ओ लस्जी व्रीडे' । क्तः ।
कन् । लग्नकः । किपि प्रतिभूः । सहिकद्वयं सहिअरे इति ख्याते । धूतसहयो-
गात् सहिकः । व्रीह्यादित्वात् ठन् ॥

धूतोऽस्त्रियामवक्षती कैतवं पण इत्यपि ॥ ४३ ॥

क्षीर० — दीव्यते स्म धूतम् । कितवस्य कर्म कैतवम् । पणनं
पणः । दरोदरं नानार्थे ॥

टीका० — धूतचतुष्कं धूते । दिवेः क्तः । धूतः । 'दिवोऽविजिगीषा-
याम्' (८. २. ४९) इति निष्ठानत्वं न भवति । अक्षाः पाशका अत्रोपायत्वेन
सन्तीति मनुपि अक्षवती । स्वभावात् स्त्रीत्वम् । कितवकर्म कैतवम् । युवादि-
त्वादण् । पणयोगादर्शआद्यचि पणः ॥

पणोऽक्षेषु ग्लहः

क्षीर० — पण्यते पणो बन्धकः । गृह्यते ग्लहः । 'अक्षेषु ग्लहः'
(३. ३. ७०) इत्येप् ॥

टीका० — अक्षेषु धूतेषु आढ इति ख्याते ग्लहः । 'अक्षेषु ग्लहः' (३.
३. ७०) इति निपातनाद् ग्रहेरपि लत्वम् ॥

अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते ।

क्षीर० — अक्षणोत्यक्षः । दीव्यत्यनेन देवनः । पाश्यते बध्यते-
ऽनेन पाशकः । प्रासक इत्येके ॥

टीका० — अक्षत्रयं पाशके । विभीतकादावप्यक्षः । पाशकस्ता-
लव्यशः ॥

परिणायस्तु शारीणां समन्तान्नयने

क्षीर० — वामदक्षिणयोः शारीणां परिणयनं परिणायः । 'परि-

१. 'न्यात् ॥' ग. घ. ङ. पाठः. २. 'ति साधुः ॥' ख. पाठः. ३, ४. 'रा'
ग. घ. ङ. पाठः.

न्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः' (३. ३. ३७) इति घञ् । शृणाति शारिः विखेलनी ॥

टीका० — वामदक्षिणयोरग्रतश्च शारीणां नयनं परीणायः । 'परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः' (३. ३. ३७) इति घञ् । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६. ३. १२२) इति पक्षे दीर्घत्वम् ॥

अस्त्रियाम् ॥ ४४ ॥

अष्टापदं शारिफलं

क्षीर० — अष्टौ पदान्यत्राष्टापदम् । शारयः फलन्त्यत्र शारिफलं खेलनाधारश्चतुरङ्गफलकादि । आकर्षो नानार्थे ॥

टीका० — अष्टापदद्वयं शारिपट्टे । एतावस्त्रियौ । प्रतिपङ्क्तिं अष्टौ पदान्यस्येत्यष्टापदम् । 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६. ३. १२९) इति पूर्वपददीर्घत्वम् । देशान्तरे चतुरङ्गस्यैव पीठिकायां शक्यतु कमपि प्रवर्तते । 'शृ हिंसायाम्' । 'शृणातेः शकुनौ' इतीञ् । शारिः । तालव्यादिरुक्तः । ईश्वरा हि प्रायः पट्ट एव दीव्यन्ति ॥

प्राणिद्यूनं समाह्वयः ।

क्षीर० — प्राणिभिर्मेषकुक्कुटादिभिर्द्यूतं प्राणिद्यूतम् । संघर्षेणोहयन्तेऽत्र समाह्वयः ॥

टीका० — प्राणिद्यूतद्वयं मेषकुक्कुटादियुद्धे । तदुक्तम् —

“अप्राणिभिर्यत् क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ॥

प्राणिभिः क्रियते यत् तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥”

इति ॥

१. 'रः', २. 'राः फ', ३. 'र' ग. घ. ङ. पाठः. ४. 'लं लेखना' ख.,
लं खल' ग. पाठः. ५. 'प्रात्राह्वयन्ते स' ख. पाठः.

उक्ता भूरिप्रयोगत्वादेकस्मिन् येऽत्र यौगिकाः ॥ ४५ ॥
तादृम्यादन्यतो वृत्तावृद्ध्या लिङ्गान्तरेऽपि ते ॥ ४५^१ ॥

क्षीर० — अत्र शूद्रवर्गे ये सम्बन्धिशब्दा लक्ष्यबाहुल्यादेक-
स्मिन् लिङ्गे उक्ताः, ते तद्गुणयोगादन्यत्र वर्तमाना लिङ्गान्तरेऽप्यु-
त्प्रेक्ष्याः । यथा — कर्षण्या भृतिः कर्मण्यं वेतनं, हलिप्रिया सुरा
हलिप्रियं मद्यम्, अक्षवती सभा अक्षवद् द्यूतम् । एवं मालाकारी
स्त्री । अक्षदेवनी स्त्री । तथा अनुपदीनं पा(द)त्रम् ॥

इति श्रीक्षीरस्वाम्युत्प्रेक्षितेऽमरकोशोद्घाटने भूम्यादिकाण्डो

द्वितीयः ।

टीका० — समस्तलिङ्गग्रहादेव संपूर्णतां परिहरति — अत्र च वर्गे
ये यौगिकाः शब्दाः मायाकारमार्दङ्गिकवैणविकर्मकरनियोज्यचौराक्षदेविप्रभृ-
तयः पुंसि प्रचुरप्रयोगदर्शनाद् एकस्मिन् लिङ्गे पुंस्यभिहिताः, ते तादृम्यात्
तद्योगवशादेकक्रियाकारित्वात् ततोऽन्यत्र स्त्र्यादौ वृत्तौ सत्यां लिङ्गान्तरेऽप्युद्धाः ।
तद् यथा — कर्मकरी स्त्री, कर्मकरं ब्रह्मवृन्दमित्यादि । ये त्वयौगिकाः करण-
मालिककुम्भकारादयः, ते जातिवचनत्वाच्छूद्रादिवदेव स्त्रीपुंसयोरिति ॥

इति बन्धघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ
टीकासर्वस्वे शूद्रवर्गः ॥

काण्डश्च द्वितीयः समाप्तः ।

TRIVANDRUM SANSKRIT SERIES.

No. LII

THE

NÂMALINGÂNUSÂSANA

OF

AMARASIMHA

With the commentary

Tîkâsarvaswa

of

VANDYAGHATÎYA-SARVÂNANDA

EDITED BY

T. GANAPATI SÂSTRÎ

*Curator of the Department for the publication
of Sanskrit Manuscripts, Trivandrum.*

Part IV. - 3rd Kanda.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJAH OF TRAVANCORE.

TRIVANDRUM:

PRINTED BY THE SUPERINTENDENT. GOVERNMENT PRESS

1917.

(All Rights Reserved.)

अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलिः।

ग्रन्थाङ्कः ५२.

नामलिङ्गादुशासनं श्रीमदमरसिंहद्विरचितं

वन्द्यघटीयसर्वातन्दप्रणीतया
टीकासर्वस्वाख्यया व्याख्यया समेतं
संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्याध्यक्षेण
त. गणपतिशास्त्रिणा
संशोधितम् ।

चतुर्थः सम्पुटः—तृतीयं काण्डम् ।

तच्च

अनन्तशयने

महामहिमश्रीमूलकरामवर्मकुलशेखरमहाराजशासनेन
राजकीयमुद्रणयन्त्रालये तदध्यक्षेण
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

कोळम्बाब्दाः १०२२, क्रैस्ताब्दाः १९१७.

स्मृता ग्रन्थाः ।

| ग्रन्थनाम. | पृष्ठम्, |
|-----------------------|------------------------------------|
| अमरमाला | ५१, ६०, ९२, १०१, १२४, १४९, १४७. |
| उणादिवृत्तिः | १३३. |
| कप्फिणाभ्युदयम् | २४, ९८, १६३, १७६. |
| कातन्त्रम् | १०. |
| किरातम् | १७४. |
| कीचकवधम् | ४९, १७९. |
| चण्डीपाठः | २८. |
| चन्द्रलिङ्गवृत्तिः | १८७. |
| चान्द्रलिङ्गानुशासनम् | १८६. |
| छन्दसूत्रम् | १८४. |
| तन्त्रान्तरम् | ६०. |
| त्रिकाण्डम् | २८, ५२, ६२, १६२, १६३. |
| त्रिकाण्डशेषः | ६३, ८१, ११६, १२५, १३१, १८०. |
| धातुपारायणम् | १८, ६२. |
| धातुप्रदीपटीका | ३०. |
| नाममाला | १७, ३०. |
| निगमाभिधानम् | १८०. |
| निघण्टुः | ११३. |
| न्यासः | ३. |
| न्यासरत्नमतिः | ११. |
| बुद्धचरितम् | ७४. |
| भट्टिभाषासमावेशः | १८०. |
| भाष्यम् | १०, ३८. |
| रघुः | ५३. |
| रत्नकोशः | १२, २९, ३२, ७९, १६०. |

ग्रन्थनाम.

पृष्ठम्.

वररुचिसूत्रम्

१०.

वर्णदेयना

३८. १७४.

विदग्धम्

१३५.

विश्वप्रकाशः

१६०. १७९.

वृत्तिः

३८, ३९.

शब्दार्णवः

१७७.

शृङ्गारप्रकाशः

१६२.

स्मृता ग्रन्थकर्तारः ।

कर्तृनाम.

पृष्ठम्.

अजयः

३८, ७६, ७७, ९२, ९५, ९७, १०१, १०३,
१०६, ११८, १२०, १२१, १२३, १२६,
१२८, १३२, १३९, १४४, १४५, १४८,
१५०, १५४, १५६.

अरुणः

१९१.

अरुणदत्तः

१७९, १८६.

कालापाः

१८.

कालिदासः

५२, ६०, १७०.

गङ्गाधरादयः

१९१.

गोवर्धनः

१३०, १८७.

चन्द्रगोमी

१७४.

जयादित्यः

१०, ६३.

धरणिः

८७, १०६, १७३.

पाल्यकीर्तिः

७२.

पुरुषोत्तमः

२०.

शुद्धिपत्रम् ।

९७तमस्य पृष्ठस्य सर्वाः, ९८तमस्य पृष्ठस्य सप्त च पङ्क्तय आवृत्ताः ।

॥ श्रीः ॥

श्रीमदमरसिंहविरचितं

नामलिङ्गानुशासनं

वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दप्रणीतया टीकासर्वस्वाख्यया

व्याख्यया समेतम् ।

तृतीयं काण्डम् ।

अथ विशेष्यनिघ्नवर्गः ।

विशेष्यनिघ्नैः सङ्कीर्णैर्नानार्थैरव्ययैरपि ।

लिङ्गादिसङ्घर्षवर्गाः सामान्ये वर्गसंश्रयाः ॥ १ ॥

विशेष्यनिघ्नैरित्यादि । वक्ष्यमाणे सामान्ये काण्डे विशेष्यनिघ्नैः विशेष्यायतैः सुकृतिप्रभृतिभिः, सङ्कीर्णैः परस्परविजातीयार्थैः कर्मपारायण-परस्परप्रभृतिभिः, अनेकार्थैः नाकादिभिः, अव्ययैः आडादिभिः, लिङ्गसङ्घर्षैः 'स्त्रियामीदूद्विरामैकाज्' इत्यादिभिः, आदिशब्देन नामसङ्घर्षैश्च लङ्का-शेफालिकादिभिः । ते च पूर्ववर्गसंश्रयाः पूर्ववर्गानुगताः । तथाहि — सुकृति-प्रभृतयोऽमरमनुष्यादिषु विशेषणतया सम्बद्धाः, कर्मदयस्तद्व्यापारतया, नाका-दयो वाचकतया, आडादयोऽवध्यादिद्योतकतया, स्त्रियामीदूदित्यादयश्च तत्त-लिङ्गादिप्रतिपादकतया । अत एव साधारणत्वात् सामान्यकाण्डमिदम् ॥

स्त्रीदाराद्यैर्यद् विशेष्यं यादृशैः प्रस्तुतं पदैः ।

गुणद्रव्यक्रियाशब्दास्तथा स्युस्तस्य भेदकाः ॥ २ ॥

इह शास्त्रे रूपभेदात् प्रायशो लिङ्गनिर्णयः । सोऽत्रापि वर्गे रूपभेदादेवेति भ्रमनिरासार्थमाह—स्त्रीदाराद्यैः स्त्रीदारकलत्राद्यैः पदैर्यादृशैर्लिङ्गैः स्त्रीत्वादियुक्तैर्यदर्थरूपं विशेष्यं विशेषणीयं प्रकान्तं, तस्य विशेष्यस्य भेदका गुणादिशब्दाः तथा स्युः तल्लिङ्गा एव भवेयुः । एतदुक्तं भवति—यदा विशेष्यं स्त्रीलिङ्गेन विशेष्यपदेन प्रस्तूयते, तदा गुणादिशब्दोऽपि सुकृतिप्रभृतिः तस्य विशेषकः स्त्रीलिङ्गः । यदा पुल्लिङ्गेन प्रस्तूयते, तदा पुल्लिङ्गः । यदा क्लीबलिङ्गेन प्रस्तूयते, तदा क्लीबलिङ्गः । विशेष्यनिबन्धनेन विशेष्यगतमेव लिङ्गं विशेषणान्याददत् इति यावत् । तद्यथा—सुकृतिनी स्त्री, सुकृतिनो दाराः, सुकृति कलत्रमित्यादि ॥

सुकृती पुण्यवान् धन्यः

सुकृतित्रयं सुकृतिनि । 'धनगणं लब्धा' (४. ४. ८४) इति यत् ।

धन्यः ॥

महेच्छस्तु महाशयः ।

महेच्छद्वयं महाशये । महाशयो महामनाः ॥

हृदयालुः सहृदयः

प्रकृष्टहृदये हृदयालुद्वयम् । 'हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्' (वा० ९. २.

१२२) इत्यालुः ॥

महोत्साहो महोद्यमः ॥ ३ ॥

महोत्साहद्वयं महाध्यवसाये ॥

प्रवीणनिपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः ।

वैज्ञानिकः कृतमुखः कृती कुशल इत्यपि ॥ ४ ॥

प्रवीणदशकं सुज्ञे । 'पुण कर्मणि शुभे' । इगुपधलक्षणः कः ।

निपुणः । 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' (८. ३. ८९) इति षत्वे निष्णातः ।

शिक्षा संज्ञातास्येति तारकादित्वाद् इतच् । शिक्षितः । विज्ञानेन व्यवहरतीति वैज्ञानिकः । 'चरति' (४. ४. ८) इति ठक् । मत्वर्थीयठानि विज्ञानिको वा पाठः । कृतमभ्यस्तं मुखम् उपायोऽनेनेति कृतमुखः । कृती इन्नन्तः । कुशे-
स्तालव्यात् सौत्राद् वृषादिकलचि कुशलः ॥

पूज्यः प्रतीक्ष्यः

पूज्यद्वयं पूज्ये ॥

सांशयिकः संशयापन्नमानसः ।

सांशयिकद्वयं संशयविषयस्थाणवादौ । 'संशयमापन्नः' (५. १. ७३) इति ठक्, न तु संशयवति पुरुष इति न्यासः । अतः सतम्यर्थे बहु-
व्रीहिः । संशयकर्तरि पुरुष एवेति तद्व्रजमिति ॥

दक्षिणीयो दक्षिणार्हस्तत्र दक्षिण्य इत्यपि ॥ ५ ॥

दक्षिणीयत्रयं दक्षिणायोग्ये । 'कडङ्करदक्षिणाच्छ च' (९. १. ६९)
इति छयत्प्रत्ययाभ्यां दक्षिणीयदक्षिण्यौ ॥

स्युर्वदान्यस्थूललक्षदानशौण्डा बहुप्रदे ।

वदान्यचतुष्कं बहुप्रदे । 'वदेरान्यः' (उ० ३. १०४) । वदान्यः ।
दाने शौण्डः प्रसक्तो दानशौण्डः ॥

जैवातृकः स्यादायुष्मान्

जैवातृकद्वयं दीर्घायुषि । चन्द्रे जैवातृक उक्तः ॥

अन्तर्वाणिस्तु शास्त्रवित् ॥ ६ ॥

अन्तर्वाणिद्वयं शास्त्रज्ञे । अन्तः अन्तश्शरीरे वाणी शास्त्रशरीरभूता
अधिदैवतभूता अस्येत्यन्तर्वाणिः । समासान्तस्यानित्यत्वाद् 'नष्टृत्श्च' (५.
४. १९३) इति न कप् । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१. २. ४८) इति
ह्रस्वत्वम् ॥

परीक्षकः कारणिकः

परीक्षकद्वयं निरूपके । कारणं हेतुः, तेन व्यवहरति । 'चरति'
(४. ४. ८) इति ठकि कारणिकः ॥

वरदस्तु समर्धकः ।

यो देवतादिर्वरं वाञ्छितं फलं ददाति, तत्र वरदद्वयम् । समृध्यति समृद्ध्या युज्यत इति ण्वुलि समर्धकः ॥

हर्षमाणो विकुर्वाणः प्रमना हृष्टमानसः ॥ ७ ॥

हृष्टहृदये हर्षमाणचतुष्कम् । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३. २. १२९) । हर्षमाणविकुर्वाणौ । अथवा विकुर्वाणे 'अकर्मकाच्च' (१. ३. ३५) इति तैङ् । प्रमनाः सान्तः ॥

दुर्मना विमनाः अन्तर्मनाः

वैमनस्ययुक्ते दुर्मनश्चयम् । त्रयमेव सान्तम् ॥

स्यादुत्क उन्मनाः ।

सोत्कण्ठे उत्कद्वयम् । 'उत्क उन्मनाः' (५. २. ८०) इति निपातितम् । उच्छब्दात् तद्वति कन्प्रत्ययः । उन्मनाः सान्तः ॥

दक्षिणे सरलोदारौ

दक्षिणत्रयम् ऋज्वाशये । वनौषधौ सरल उक्तः ॥

सुकलो दातृभोक्तरि ॥ ८ ॥

एक एव दाता च भोक्ता च स सुकलः । त्यागभोगयुक्त इत्यन्यः । सुष्ठु कल्पत इति सुकलः । पृषोदरादिः ॥

तत्परे प्रसिनासक्तौ

तत्परे तात्पर्यवति प्रसितद्वयम् । 'षिञ् बन्धने' । 'षञ्ज सङ्गे' । क्तः ॥

विशेष्यानिघ्नवर्गः १] टीकासर्वस्वाख्यव्याख्यासमेतम् ।

इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः ।

इष्टार्थे अभिमतप्रयोजने उद्युक्त उद्यतः उत्सुकः ॥

प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञानविश्रुताः ॥ ९ ॥

धनादिना ख्याते प्रतीतषट्कम् । विदिल्लभे । 'वित्तो भोगप्रत्यययोः'
(८. २. ५८) इति निपातनाद् न नत्वम् । वित्तः ॥

गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ ।

त्यागशौर्यादिगुणैः ख्याते कृतलक्षणद्वयम् । 'लक्षणं नामचिह्नयोः' ।
कृतमभ्यस्तमनुरागाद् लक्षणं नामास्येति कृतलक्षणः । आहतं गुणितम्
असकृदुच्चारितं नामास्येत्याहतलक्षणः ॥

इभ्य आढ्यो धनी

बहुधने इभ्यत्रयम् । इभमर्हतीति इभ्यः । 'दण्डादिभ्यो यत्' (५.
१. ६६) । एत्यैनं ध्यायन्तीत्याढ्यः । घञर्थे कः । पृषोदरादिद्वयम् ॥

स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता ॥ १० ॥

अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः ।

स्वामिदशकं प्रभौ । 'स्वामिन्नैश्वर्ये' (५. २. १२६) इति मत्वर्थे
निपातनात् स्वामी । 'अश्रोतेराशुकर्मणि वरट् च' (उ० ५. ५८)
इति वरट् अकारस्य च ईकारः । ईश्वरः । 'पातेर्डतिः' (उ० ४. ५८) ।
पतिः । ईशितृनेतारौ तृन्नन्तौ । किपि अधिभूः । 'प्रभौ परिवृढः' (७. २.
२१) इति परिवृढो निपातितः । वृंहेः क्तः इडागमाभावः नकारहकारयो-
र्लोपः परस्य च ढत्वं निपात्यते । अधिपातीत्यधिपः ॥

अधिकर्द्धिः समृद्धः स्यात्

अधिकर्द्धिद्वयम् अतिशयितसम्पद्युक्ते ॥

कुटुम्बव्यापृतस्तु यः ॥ ११ ॥

स्यादभ्यागारिकस्तस्मिन्नुपाधिश्च पुमानयम् ।

कुटुम्बं पोष्यवर्गादि । तत्र व्यापृतः पोषणादिव्यग्रो यः, तत्र अभ्यागारिकद्वयम् । अगारं भक्तिः सेव्यमस्येत्यागारिकः । 'अचित्तादेश-कालाऽदृक्' (४. ३. ९६) । अभ्यधिक आगारिकोऽत्यन्तागारशरणोऽभ्यागारिकः । उपादधाति कुटुम्बमित्युपाधिः । आविष्टलिङ्गत्वादयं योषिदादौ च पुमान् ॥

वराङ्गरूपोपेतो यः सिंहसंहननो हि सः ॥ १२ ॥

यः प्रत्येकमवयवशुद्ध्या रूपवान् सुन्दरः, स सिंहसंहननः ॥

निर्धार्यः कार्यकर्ता यः सम्पतन् सत्त्वसम्पदा ।

व्यसने यदाविकारकं, तत् सत्त्वम् । तत्सम्पदा सम्पतन् उद्यमं कुर्वन् यः कार्यकर्ता, स निर्धार्यः । क्वचित् 'संयुत' इति पाठः ॥

अवाचि मूकः

अवाग्द्वयं वोव्वेति ख्याते । अवाक् चान्तः ॥

अथ मनोजवः स पितृसन्निभः ॥ १३ ॥

मनोजवद्वयं पितृतुल्ये । जुः सौत्रः । लोकानां मनो जवति प्रविश-तीति अच् ॥

सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुदः ।

परिणेत्रे योऽलङ्कृत्य कन्यां सत्कृतां ददाति, स कूकुदः । दीर्घादिः ॥

लक्ष्मीवाल्लक्ष्मणः शीलः श्रीमान्

§ 'ठच्' इति मुद्रिताष्टाध्यायीपाठः ।

लक्ष्मीवचतुष्कं सम्पद्युक्ते शोभायुक्ते च । 'लक्ष्म्या अच्च' (ग० ५. २. १००) इति पामादिपाठाद् नः अकारश्चान्तादेशः । लक्ष्मणः । सिध्मादिलचि श्लीलः । 'कपिलकादीनां रो लत्वमापद्यते' (वा० ८. २. १५) इति लत्वम् ॥

स्निग्धस्तु वत्सलः ॥ १४ ॥

स्निग्धद्वयं स्निग्धे । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (५. २. ९८) इति मत्वर्थलचि वत्सलः ॥

स्याद् दयालुः कारुणिकः कृपालुः सूरनः समाः ।

दयालुचतुष्कं कृपालौ । 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आ-
लुच्' (३. २. १५८) । दयालुः । कारुण्ययोगात् कारुणिकः । 'अत
इनिठनौ' (५. २. ११५) इति ठन् । 'हलस्तद्धितस्य' (६. ४. १९०)
इति यलोपः । कृपां लातीति कृपालुः । 'डुप्रकरणे मितद्वादिभ्य उप-
सङ्ख्यानम्' (वा० ३. २. १८०) इति डुः । सूरतो दीर्घादिः ॥

स्वतन्त्रोऽपावृतः स्वैरी स्वच्छन्दो निरवग्रहः ॥ १५ ॥

स्वतन्त्रपञ्चकं स्वतन्त्रे । स्वतन्त्रः स्वप्रधानः । स्वेन आत्मना
ईर्ते प्रचरतीति णिनिः । 'स्वादीरेरिणोर्वृद्धिर्वक्तव्या' (वा० ६. १. ८९) इति
वृद्धिः । स्वैरी । स्वच्छन्दः स्ववशः । निरवग्रहः परेणानियम्यः ॥

परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि ।

अधीनो निघ्न आयत्तोऽस्वच्छन्दो गृह्यकोऽप्यसौ ॥ १६ ॥

परतन्त्रनवकं परायत्ते । परस्मिन् अधीनः पराधीनः । 'सप्तमी
शौण्डैः' (२. १. ४०) इति समासः । 'अषडक्षाशितंग्वलङ्कर्मालं-
पुरुषाध्युत्तरपदात् खः' (५. ४. ७) इति खः । परशब्दः श्रेष्ठवचनः ।
अधिगत इनः ईश्वरोऽनेनेति अधीनः । ह्रस्वादिः । निहन्यत इति

निम्नः । 'स्थास्त्रापाव्यधिहनिमुध्यर्थम्' इति प्रथमे कः । 'यती प्रयत्ने' । क्तः ।
आयत्तः ॥

खलपूः स्याद् बहुकरः

खलपूद्वयं सम्मार्जनकारिणि कोलगोमीति ख्याते । खलं भूस्था-
नकण्ठेषु । तत् पुनातीति क्तिप् । खलपूः । बहु करोति सम्मार्ष्टीति 'कियत्त-
द्बहुषु कृञोऽज्जिधानम्' (वा० ३. २. २१) इत्यच् । बहुकरः ॥

दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः ।

स्वल्पकालसाध्ये कर्मणि चिरेण कार्यकारिणि दीर्घसूत्रद्वयम् ।
दीर्घं सूत्रमस्येति दीर्घसूत्रः । चिरं क्रिया अनुष्ठानमस्येति चिरक्रियः ॥

जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्

गुणदोषानपरामृश्य यः करोति स जाल्मः ॥

कुण्ठो मन्दः क्रियासु यः ॥१७॥

क्रियासु व्यापारेषु मन्दः कुण्ठः । 'कुठि च' इत्यतः पचाद्यच् ॥

कर्मक्षमोऽलङ्कर्मिणः

अनायासेन कर्मनिष्पादके कर्मक्षमद्वयम् । पराधीनवत् स्वप्रत्ययेन
अलङ्कर्मिणः ॥

क्रियावान् कर्मसूद्यतः ।

कर्म कर्तुमुद्यते क्रियावान् तान्तः ॥

स कर्मः कर्मशीलो यः

विशेष्यनिग्नवर्गः १] टीकासर्वस्वाख्यव्याख्यासमेतम् ।

९

कर्मद्वयं कर्मशीले । 'कर्मस्ताच्छील्ये' (६. ४. १७२) इति निपातनात् साधुः ॥

कर्मशूरस्तु कर्मठः ॥ १८ ॥

कर्मशूरद्वयं कर्मठे । 'कर्मणि घटोऽठच्' (५. २. ३५) । कर्मठः ॥

भरण्यभुक् कर्मकरः

भरण्यं वेतनं यो भुङ्क्ते, स कर्मकरः । अयं शूद्रविशेषाभिधानप्रस्तावेऽभिहितः । इह तु क्रियाशब्दप्रक्रमेण भरण्यभुगिति पर्यायान्तरदर्शनार्थं कर्मकारेण सह विषयभेदप्रदर्शनार्थं चानूदितः ॥

कर्मकारस्तु तत्क्रियः ।

तत्क्रियः वेतनं विना कर्मक्रियो दासादिः कर्मकारः । 'कर्मण्यण्' (३. २. १) ॥

अपस्नातो मृतस्नातः

मृतमुद्दिश्य स्नाते अपस्नातद्वयम् ॥

आमिषाशी तु शौष्कलः ॥ १९ ॥

आमिषाशिद्वयं मत्स्यमांसभक्षणशीले । शौष्कलस्तालव्यादिमूर्धन्यमध्यः ॥

बुभुक्षितः स्यात् क्षुधितो जिघत्सुरशनायितः ।

बुभुक्षितचतुष्कं जातबुभुक्षे । त्रिषु तारकादित्वाद् इतच् । अत्तमिच्छतीति जिघत्सुः ॥

परान्नः परपिण्डादः

परान्नोपजीविनि पराजद्वयम् । परस्यान्नमस्येति वैयाधिकरण्येन
बहुव्रीहिः । परपिण्डमत्तीति अण् । परपिण्डादः ॥

भक्षको घस्मरोऽन्नरः ॥ २० ॥

भक्षकत्रयं भक्षणपरे । 'सुघस्यदः कमरचू' (३. २. १६०) । घस्मरः ।
अन्नरः ॥

आद्यूनः स्यादौदारिको विजिगीषाविवर्जिते ।

आद्यूनद्वयम् उदरपूरके । 'दिवोऽविजिगीषायाम्' (८. २. ४९)
इति निष्ठातकारस्य नत्वे आद्यूनः । 'उदरादृगाद्यूने' (५. २. ६७)
इति ठक् । औदारिकः । विजिगीषाविवर्जित इति, योऽत्यन्तक्षुधया बाध्यमान
उदर एव प्रसक्त इत्यर्थः ॥

उभावात्मंभरिः कुक्षिंभरिः स्वोदरपूरके ॥ २१ ॥

पोष्यवर्गं विहाय स्वोदरमात्रपूरके आत्मंभरित्रयम् । 'फले-
ग्रहिरात्मंभरिश्च' (३. २. २६) इति निपातितः । चकारात् कुक्षिंभरिरपि ।
भृज इन् उपपदस्य (नु? सु) मागम इति जयादित्यः । भाष्ये तु कुक्षिंभरिसिद्ध्य-
र्थम् अत्यल्पमिदमुच्यते भृजः कुक्ष्यात्मनो (नु? सु) (चेति) वक्तव्यमिति
चकाराद् उदरंभरिमपि समा(स? दध)ते । 'आत्मोदरकुक्षिषु भृजः ख च'
इति कातन्त्रे वररुचिसूत्रम् ॥

सर्वान्नीनस्तु सर्वान्नभोजी

चतुर्णामपि वर्णानां योऽन्नं भुङ्क्ते, तत्र सर्वान्नीनद्वयम् । 'अनुपद-
सर्वान्नायानयं बद्धामक्षयतिनेयेषु' (५. २. ९) इति खः । सर्वान्नीनः ॥

गृध्नुस्तु गर्धनः ।

लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्

गृध्नुपञ्चकं लुब्धे । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (३. २. १४०) ।
गृध्नुः । 'जुचङ्कभ्य—' (३. २. १५०) इत्यादिना युचि गर्धनः ।

लुभेः क्तः । लुब्धः । 'लुष कान्तौ' । 'लुषपत—' (३. २. १५४) इत्यादिना उकञ् । अभिलाषुकः । 'स्वपितृषोर्नजिङ्' (३. २. १७२) इति नजिङि तृष्णक् । जान्तः । 'तत् करोति—' (ग० ३. १. २६) इति ण्यन्ताद् ण्वुलि तृष्णकोऽजन्तोऽपीष्यते ॥

समौ लोलुपलोलुभौ ॥ २२ ॥

अतिशयलुब्धे लोलुपद्वयम् । लुपेर्लुभेश्च यङ् । पचाद्यच् । 'यङोऽचि च' (२. ४. ७४) इति यङो लुक् । 'न धातुलोप आर्धधातुके' (१. १. ४) इति गुणनिषेधः ॥

उन्मदस्तून्मदिष्णुः स्याद्

उन्मदद्वयम् उन्मादशीले । उद्गतो मदोऽस्येत्युन्मदः । 'अलङ्कृञ्-निराकृञ्—' (३. २. १३६) इत्यादिनेष्णुचि उन्मदिष्णुः ॥

अविनीतः समुद्धतः ।

अविनीतद्वयम् अविनीतै । हन्तेः क्तः । समुद्धतः ॥

मत्ते शौण्डोत्कटक्षीवाः,

मत्तचतुष्कं मत्ते । शुण्डा पानागारं, तत्र भवा स्थितिरस्येति 'शेषे' (४. २. ९२) अण् । शौण्डः । 'संप्रोदश्च कटच्' (५. २. २९) इति कटच् । उत्कटः । 'अनुपसर्गात् फुलक्षीव—' (८. २. ५५) इति निपातितः । 'क्षीवृ मदे' । क्तः । तत्र तकारलोप इडभावश्च निपात्यते ॥

कामुके कमितानुकः ॥ २३ ॥

कम्रः कामयिताभीकः कमनः कामनोऽभिकः ।

कामुकनवकं कामुके । कमेः पूर्ववदुकञ् । कामुकः । 'आयादय आर्धधातुके वा' (३. १. ३१) इति णिङन्ताददन्ताच्च तृन् । कामयिता

कमिता च । 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' (५. २. ७४) इति निपातनात् त्रयं निपातितम् । तत्र कमितेत्यर्थे कप्रत्ययान्ता एते निपात्यन्ते । 'नमिकम्पिस्म्य-जसकमहिंसदीपो रः' (३. २. १६७) । कप्रः । 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' (३. २. १४९) इति युच् । कमनः । 'कमेर्णिङ्' (३. १. ३०) इति णिङ् । कामनः ॥

विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रवः ॥ २४ ॥

विधेयचतुष्कं विधेये । 'स्यादाश्रवो विधेय' इति रत्नकोषः । विनयं विधिनिषेधवचनं ग्रहीतुं शीलमस्येति णिनिः । विनयग्राही । वचनेस्थित इत्यलुक्समासः । वाक्यमेव वा । आदिष्टं शृणोतीति अच् । आश्रवः ॥

वश्यः प्रणेयः

वश्यद्वयं वशंगते । वशम् आयत्ति गतो वश्यः । 'वशं गतः' (४. ४. ८६) इति यत् । प्रणेतुं शक्यः प्रणेयः ॥

निभृतविनीतप्रश्रिताः समाः ।

निभृतत्रयं विनीते । श्रिजः क्तः । प्रश्रितः ॥

धृष्टे धृष्णग् वियातश्च

धृष्टत्रयं निर्लज्जे । 'धृष्टेति वक्तव्यम्' (वा० ३. २. १७२) नजिङ् । धृष्णक् । धृष्णुगिति पाठे 'त्रसिगृधि—' (३. २. १४०) इत्यादिना क्तुः । 'या प्रापणे' । क्तः । वियातः ॥

प्रगल्भः प्रतिभान्वितः ॥ २५ ॥

प्रत्युत्पन्नमतित्वं प्रतिभा, तदन्विते प्रगल्भः ॥

स्यादधृष्टे तु शालीनः

अधृष्टद्वयं सलज्जे । 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (१. २. २०)
इत्यनेन शालाशब्दात् स्वप्रत्ययो निपातितः । शालीनस्तालव्यादिः ॥

विलक्षो विस्मयान्विते ।

विलक्षद्वयं वैलक्ष्ययुक्ते ॥

अधीरे कातरः

व्यसनादावाकुलहृदये अधीरद्वयम् ॥

त्रस्तुभीरुभीरुकभील्लुप्तः ॥ २६ ॥

त्रस्तुचतुष्कं भयशीले । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्तुः' (३. २. १४०) ।
त्रस्तुः । 'भियः कृक्कुकनौ' (३. २. १७४) । भीरुभीलुकौ । 'भियः कृकन्
वक्तव्यः' (वा० ३. २. १७४) । भीरुकः ॥

आशंसुराशंसितरि

आशंसुद्वयम् आशंसनशीले । प्रियार्थस्य प्राप्तुमिच्छा आशंसा ।
तच्छील आशंसुः । 'सनाशंसमिक्ष उः' (३. २. १६८) । आशंसुः ॥

ग्रह्यालुर्ग्रहीतरि ।

ग्रह्यालुद्वयं ग्रहणशीले । 'ग्रह ग्रहणे' । चुरादिणिचि 'स्पृहिगृहि —'
(३. २. १५८) इत्यादिना आलुच् । 'अयामन्ताल्वाय्येत्त्विष्णुषु' (६. ४. ५५)
इति णेः अयादेशः ॥

श्रद्धालुः श्रद्धया युक्ते

श्रद्धायुक्ते श्रद्धालुः । दयालुवदालुच् ॥

पतयालुस्तु पातुके ॥ २७ ॥

पतनशीले पतयालुद्वयम् । ग्रह्यालुवत् पतयालुः । 'लषपत —'
(३. २. १५४) इत्यादिना उकञ् । पातुकः ॥

लज्जाशीलोऽपत्रपिष्णुः

लज्जाशीलद्वयं लज्जाशीले । 'अलंकृज्जनिराकृज्—' (३. २. १३६)
इत्यादिना इष्णुच् । अपत्रपिष्णुः ॥

स्याद् वर्धिष्णुस्तु वर्धनः ।

अपत्रपिष्णुवद् वर्धिष्णुः । 'अनुदात्तेश्च हलादेः' (३. २. १४९)
इति युचि वर्धनः ॥

उत्पतिष्णुस्तूत्पतिता

उत्पतनशीले उत्पतिष्णुद्वयम् । उत्पूर्वात् पतेः अपत्रपिष्णुवद्
उत्पतिष्णुः ॥

अलंकरिष्णुस्तु मण्डनः ॥ २८ ॥

अलंकरिष्णुद्वयमलंकरणशीले । अपत्रपिष्णुवदलंकरिष्णुः । 'कुधम-
ण्डार्थेभ्यश्च' (३. २. १५१) इति युचि मण्डनः ॥

भूष्णुर्भविष्णुर्भविता

भूष्णुत्रयं भवनशीले । 'ग्लजिस्थश्च ग्स्तुः' (३. २. १३९) इति
चकाराद् ग्स्तुः । 'भुवश्च' (३. २. १३८) इतीष्णुचि भविष्णुः । छान्द-
सोऽप्ययं भाषायां निबद्धः ॥

वर्तिष्णुर्वर्तनः समौ ।

वर्तिष्णुद्वयं वर्तनशीले । अपत्रपिष्णुवद् वर्तिष्णुः । वर्धनवद्
युचि वर्तनः ॥

निराकारिष्णुः क्षिप्नुः स्यात्

निराकारिष्णुद्वयं निराकरणशीले । अपत्रपिष्णुवदिष्णुचि निराक-
रिष्णुः । त्रस्तुवत् क्षिप्नुः ॥

सान्द्रस्निग्धस्तु मेदुरः ॥ २९ ॥

सान्द्रस्निग्धद्वयं नवमेघवदतिस्निग्धे । 'भर्जभासमिदो घुरच्'
(३. २. १६१) । मेदुरः ॥

ज्ञाता तु विदुरो विन्दुः

ज्ञातृत्रयं ज्ञानशीले । तृनि ज्ञाता । 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' (३. २. १६२) । विदुरः । 'विन्दुरिच्छुः' (३. २. १६९) इत्यनेन विदेर्ज्ञानार्थाद् विन्दुर्निपातितः ॥

विकासी तु विकस्वरः ।

विकासिद्वयं विकसनशीले । 'कस गतौ' । विपूर्वः । 'वौ कसलषक-
त्थस्त्रन्मः' (३. २. १४३) इति धिनुण् । विकासी । 'स्थेशभासपिसकसो
वरच्' (३. २. १७५) । विकस्वरः । दन्त्यसः ॥

विसृत्वरो विसृमरः प्रसारी च विसारिणि ॥ ३० ॥

विसृत्वरचतुष्कं प्रसरणशीले । 'इणशजिसर्तिभ्यः क्कृप्' (३. २. १६३) । विसृत्वरः । 'सृघस्यदः क्कृप्' (३. २. १६०) । विसृमरः ।
'प्रे लपसृद्रुमथवदवसः' (३. २. १४९) इति धिनुण् । प्रसारी । मत्स्ये
विसारी उक्तः ॥

सहिष्णुः सहनः क्षन्ता तितिक्षुः क्षमिता क्षमी ।

सहिष्णुषट्कं क्षमाशीले । अलंकरिष्णुवत् सहिष्णुः । वर्तनवत्
सहनः । 'क्षमूष् सहने' । तृन् । क्षन्ता । इट्पक्षे क्षमिता । 'शमित्यष्टाभ्यो
धिनुण्' (३. २. १४१) । क्षमी ॥

क्रोधनोऽमर्षणः कोपी

क्रोधनत्रयं क्रोधने । मण्डनवत् क्रोधनः । न मर्षयतीत्यमर्षणः ।
आवश्यकणिनौ कोपी ॥

चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः ॥ ३१ ॥

चण्डद्वयमतिकोपने । 'चडि कोपे' । चण्डः । पचाद्यच् । क्रोध-
नवत् कोपनः ॥

जागरूको जागरिता

जागरणशीले जागरूकद्वयम् । 'जागरूकः' (१. २. १६५) इत्यनेन
ऊकगुणौ निपातितौ ॥

घूर्णितः प्रचलायितः ।

घूर्णितद्वयं निद्राघूर्णिते । 'घुण घूर्ण भ्रमणे' । क्तः । घूर्णितः ।
प्रचल इवाचरतीति क्यङन्तात् क्तः । प्रचलायितः ॥

स्वप्नक् शयालुर्निद्रालुः

स्वप्नक्त्रयं निद्राशीले । 'स्वपितृषोर्नेजिङ्' (३. २. १७२) ।
स्वप्नक् । जान्तः । 'शीङश्चेति वक्तव्यम्' (वा० ३. २. १५८) इत्यालुः ।
शयालुः । दयालुवन्निद्रालुः ॥

निद्राणशयितौ समौ ॥ ३२ ॥

निद्रां गते निद्राणद्वयम् । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८. २. ४३)
इति निष्ठातकारस्य नत्वे निद्राणः । शेतेः क्तः । शयितः ॥

पराङ्मुखः पराचीनः

पराङ्मुखद्वयं विमुखे । 'विभाषाञ्चरदिक्लियाम्' (५. ४. ८) इति
खः । पराचीनः ॥

स्यादवाङ्मयधोमुखः ।

अवाङ्मुखद्वयमधोमुखे । अञ्चतेः ऋत्विगादिना किन् । अवाङ् ।
चान्तः । स्त्रियामवाची ॥

देवानश्चति देवद्यङ्

देवान् गच्छति पूजयति वा देवद्यङ् । चान्तः । 'विष्वग्देवयोश्च
देवद्यञ्चतावप्रत्यये' (१. ३. ९२) इत्यद्यादेशः । स्त्रियां देवद्रीची ॥

विष्वद्यद् विष्वगश्चति ॥ ३३ ॥

विष्वक् समन्ताद् गच्छति यः, स विष्वद्यद् । विष्वक्सेनप्रस्तावे
षकारो निरूपितः । सर्वं देवद्यद्वात् ॥

यः सहाश्चति सध्रयद् सः

सह तुल्यं गच्छतीति सध्रयद् । चान्तः । 'सहस्य सध्रिः' (६. ३.
९९) इति सध्रयादेशः । स्त्रियां सध्रीची ॥

स तिर्यङ् यस्तिरोऽश्चति ।

वक्रं गच्छति यः स तिर्यङ् । चान्तः । 'तिरसस्तिर्यलोपे' (६. ३.
९४) इति तिरःशब्दस्य तिरीत्यादेशः ॥

वदो वदावदो वक्ता

वदत्रयं वक्तरि । पचाद्यच् । वदः । 'चरिचलिपतिवदीनामप्याक्
चाभ्यासस्य' (वा० ६. १. १२) इत्यागागमः द्विर्वचनं च । वदावदः ।
तुचि वक्ता ॥

वागीशो वाक्पतिः समौ ॥ ३४ ॥

निरवद्योद्दामवाणीके वागीशद्वयम् ॥

वाचोयुक्तिपटुर्वाग्मी

वचनयुक्तिज्ञे वाचोयुक्तिपटुद्वयम् । 'वाग्द्विपश्यद्वयो युक्तिदण्ड-
हरेषूपसङ्ख्यानम्' (वा० ६. ३. २१) इत्यलुकि वाचोयुक्तिपटुः ।
नाममालायां तु वाचोयुक्तिरित्येव नाम । 'वाचो ग्मिनिः' (६. २. १२४)
इति वाग्मी । द्विगकारवान् ॥

वावदूकोऽतिवक्तरि ।

अत्यन्तवक्तरि वावदूकः । वदेर्यङन्ताद् 'यजजपदशां यङः'

(३. २. १६६) इति बहुवचननिर्देशादन्यतोऽप्यूक इति धातुपारायणम् ।
'चेक्रीयीतान्तानां यजिजपिदंशिवदाम्' इत्यूक इति कालापाः ॥

स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक् ॥ ३५ ॥

जल्पाकचतुष्कं गर्ह्यभाषिणि । 'जल्पमिक्षुकुट्टलुण्टवृडः षाकन्' (३. २. १९९) । 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (९. २. १२५) इत्यालजाटचप्रत्ययाभ्यां वाचालवाचाटौ । एतौ कुत्सार्थे प्रत्ययौ ॥

दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ

दुर्मुखत्रयमप्रियवादिनि । निन्दितमुखो दुर्मुखः । खरवन्मुखरः ।
अबद्धमुखो ह्रस्वादिः ॥

शक्लः प्रियंवदे ।

शक्लद्वयं प्रियंवदे । 'शक्ल शक्तौ' । † 'मूडपूड्शकिभ्यः क्लः' (उ० ४. ११०) । शक्लः । 'प्रियवशे वदः खच्' (३. २. ३८) । प्रियंवदः ॥

लोहलः स्यादस्फुटवाग्

लोहलद्वयमव्यक्तवचने ॥

गर्ह्यवादी तु कद्रदः ॥ ३६ ॥

निन्द्यवादिनि गर्ह्यवादिद्वयम् । कुत्सितं वदतीति 'रथवदयोश्च' (६. ३. १०२) इति कोः कद्रावः । कद्रदः ॥

समौ कुवादकुवदौ

परदोषकथनशीले कुवादद्वयम् । कर्मण्यणि कुवादः । पचाद्यचि कुवदः ॥

स्यादसौम्यस्वरोऽस्वरः ।

काकस्वरादिरसौम्यस्वरोऽस्वरः ॥

† 'मूशक्यविभ्यः क्लः' इति मुद्रितोणादिपाठः ।

रवणः शब्दनः

शब्दकारिणि रवणद्वयम् । उभयत्र 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्'
(३. २. १४८) ॥

नान्दीवादी नान्दीकरः समौ ॥ ३७ ॥

भेरीसमाननान्दीवादनशीले नान्दीवादिद्वयम् । अथवा नान्दी-
श्लोकपठनकारिणि । तथाच भरताचार्यः —

“आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रवर्तते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति सा स्मृता ॥”

णिनिः । नान्दीवादी । दिवाकरवत् टः । नान्दीकरः । 'मदकलकलविह्वीका-
कुनान्दीकरेभ्यः' इति मुरारिः ॥

जडोऽज्ञे

जडद्वयं जडे । तदुक्तम् —

“इष्टं वाऽनिष्टं वा सुखदुःखे वा न वेत्ति यो मोहात् ।
तूष्णीकः परवशगः स भवति जडसंज्ञकः पुरुषः” ॥

अनेडमूकस्तु वक्तुं श्रोतुमशिक्षिते ।

वचनश्रवणरहितेऽनेडमूकः । कृतनञ्समासोऽवयवार्थशून्य एव
रूढः ।

‘त्रिलिङ्गोऽनेडमूकः स्याच्छठवाक्यवृत्तिवर्जिते’

इति रभसश्च । केचित्तु एडश्चासौ मूकश्चेत्येडमूकमिच्छन्ति । पूर्वं पृथक् कथि-
तत्वात् तयोः समुदायेऽपि रूपमूह्यमिति कृत्वा नेच्छन्ति ॥

तूष्णींशीलस्तु तूष्णीकः

मौनशीले तूष्णींशीलद्वयम् । *‘तूष्णींशीले को मलोपश्च वक्तव्यः’
(वा० ५. ३. ७२) इति को मलोपश्च ॥

* ‘शीले को’ इति मुद्रितवार्त्तिकपाठः ।

नग्नोऽवासा दिगम्बरः ॥ ३८ ॥

परिधानवस्तुशून्ये नग्नत्रयम् । ओलस्त्रिधातोर्लभ एव वर्णव्यत्यया-
न्नग्नः । अवासाः सान्तः ॥

निष्कासितोऽपकृष्टः स्याद्

निष्कासितद्वयं निःसारिते । निष्कासिते प्रथमो मूर्धन्यो द्वितीयो
दन्त्यसः ॥

अपध्वस्तस्तु धिक्कृतः ।

कृतधिकारेऽपध्वस्तद्वयम् ॥

आत्तगर्वोऽभिभूतः स्याद्

अरिणा भग्नदर्पे आत्तगर्वद्वयम् । आत्तो गृहीतो गर्वोऽस्येत्यात्तगर्वः ।
'वस्तु गन्ध अर्दने' । आत्तगन्ध इति पाठ इत्यन्यः ॥

दापितः साधितः समौ ॥ ३९ ॥

धनादिकं दापितद्वयम् । ददातेर्ष्यन्तात् पुकि दापितः । 'दय दानग-
तिरक्षणहिंसादानेषु' । ण्यन्तादिति पुरुषोत्तमः ॥

अधिक्षिप्तः प्रतिक्षिप्तः

अधिक्षिप्तद्वयं कृताक्षेपे प्रेषिते वा । तदुक्तम् —

“आहूय प्रेष्यते यस्तु प्रतिक्षिप्तः स उच्यते”

इति ॥

बद्धे कीलितसंयतौ ।

कीलेन निश्चलीकृते कीलितद्वयम् । रज्ज्वा तु बद्धे वक्ष्यति ॥

आपन्न आपत्प्राप्तः स्यात्

आपन्नद्वयमापद्गस्ते ॥

कान्दिशीको भयदुतः ॥ ४० ॥

भयोपदुते कान्दिशीकद्वयम् । कां दिशं गच्छामीति चिन्तयन्
पलायितः कान्दिशीकः । पृषोदरादिः ॥

आक्षारितः क्षारितोऽभिज्ञास्ते

परस्त्रियाः परपुरुषस्य वा मैथुनं प्रति दूषिते आक्षारितत्रयम् ।
मैथुनं प्रत्याहृत इत्यन्यः ॥

संकुकोऽस्थिरे ।

असन्देहविषयेऽपि यः सन्देहकृत्, तत्र संकुकद्वयम् । 'कस
गतौ' । 'समि कस उकन्' (उ० २. ३२) इत्युक्तम् । संकुको द्विदन्त्यो
ह्रस्वमध्यः ॥

व्यसनार्तोपरक्तौ द्वौ

देवी मानुषी वा पीडा व्यसनं, तदार्ते व्यसनार्तद्वयम् । चन्द्रार्कौ
राहुग्रस्तावुपरक्तावुभौ ॥

विहस्तव्याकुलौ समौ ॥ ४१ ॥

शोकादिभिरितिकर्तव्यताशून्ये विहस्तद्वयम् ॥

विक्लवो विह्वलः

विक्लवद्वयं स्वकीयाङ्गधारणाशक्ते ॥

स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः ।

आसन्नमरणमरिष्टं, तेन दूषितबुद्धिर्विवशः ॥

कश्यः कशाहं

कशामश्रुताडनीमपराधाद् योऽर्हति, तत्र कश्यद्वयम् । 'दण्डादि-
भ्यो यः' (१. १. ६६) । कश्यः ॥

सन्नद्धे स्वातन्त्र्याय वधोद्यते ॥ ४२ ॥

कृतसन्नाहे हन्तुमुद्यते आततायी ॥

द्वेष्ये त्वक्षिगतः

द्वेष्यद्वयं द्वेष्ये ॥

वध्यः शीर्षच्छेद्य इमौ समौ ।

वध्यद्वयं वध्ये । कश्यवद् वध्यः । 'शीर्षच्छेदाद् यच्च' (५. १. ६५) ।
शीर्षच्छेद्यः ॥

विष्यो विषेण यो वध्यः

विषेण वध्यो विष्यः । 'नौवयोधर्म—' (४. ४. ९१) इत्या-
दिना यत् ॥

मुसल्यो मुसलेन यः ॥ ४३ ॥

मुसलेन वध्यो मुसल्यः । कश्यवद् यः ॥

शिश्चिदानः कृष्णवर्त्मा

कृष्णवर्त्मा पापाचारः । शिश्चिदानः द्वितालव्यः । 'श्विता वर्णे' ।
'श्वितेर्दश्च' (उ० २. ९३) इत्यानच् सनो लुग् दश्चान्तादेशः ॥

चपलश्चिकुरः समौ ।

चपलद्वयं चपले ।

“अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषो वधबन्धनाद्यमाचरति ।
अविनिश्चितकारित्वात् स तु खलु चपलो बुधैर्ज्ञेयः ॥”

दोषैकदृक् पुरोभागी

दोषैकद्रष्टा पुरोभागी, नान्तः ॥

निकृतस्त्वन्जुः शठः ॥ ४४ ॥

निकृतत्रयं वक्राशये । 'शठ कैतवे' । तालव्यादिः । पचादिः ।
शठः ॥

कर्णेजपः सूचकः स्यात्

कर्णेजपद्वयमनुचितादौ प्ररोचके । 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' (३. २. १३) इति 'हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यम्' (वा० ३. २. १३) इत्यच् ।
कर्णेजपः । 'सूच पैशुन्ये' । ण्वुल् । सूचकः । दन्त्यादिः ॥

पिशुनो दुर्जनः खलः ।

परस्परभेदनशीले पिशुनत्रयम् । पिडिकाख्यशाखे पिशुनोक्ता ॥

नृशंसो घताकः क्रूरः पापः

नृशंसचतुष्कं परद्रोहाचरणशीले । 'शसु हिंसायाम्' । नैरुक्तो वर्णागमः । नृशंसः । ण्वुलि घातकः । पूर्वमुक्त्वा हिंसाशील उक्तः । 'कृती छेदेन' । *कृतेः कू च' (उ० २. २३) इति रक कू चादेशः । क्रूरः ॥

धूर्तस्तु वञ्चकः ॥ ४५ ॥

धूर्तद्वयं प्रतारणशीले । धूर्वाधातोर्हस्तवत् तः । धूर्तः । मृगालेऽपि वञ्चक उक्तः ॥

अज्ञे मूढयथाजानमूर्खवैधेयबालिशः ।

अज्ञषट्कं मूर्खे । यादृशो जातो विवेकशून्यो यथाजातः । विधेय-
शब्दाद् ज्योत्स्नाद्यणि वैधेयः । परदत्तं श्यतीति बलिशः । बलिश एव
बालिशः ॥

कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानभितम्पचाः ॥ ४६ ॥

कदर्यपञ्चकं कृपणे । उग्रवत् क्षुद्रः । कुत्सितं पचानः कि-

१. 'तं पश्य' ड. छ. पाठः.

* 'कृतेः कू च' इति मुद्रितोपादिपाठः ।

म्पचानः । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिवु चानश्' (३. २. १२९) । 'मितनखे च' (३. २. ३४) इति खश् । मितम्पचः । मितशब्देनार्थग्रहणात् 'पान्तावल्प-म्पचान् मुनीन्' (स० ६. श्लो० ९६) इति भट्टिरिति रक्षितः ॥

निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः ।

निःस्वपञ्चकं दरिद्रे । निष्क्रान्तः स्वाद् निःस्वः । विधा समृ-
द्धिर्दुःस्थास्येति दुर्विधः । 'इणसिजिद्युप्यविभ्यो नक्' (उ० ३. २) इति
दीडो नक् । दीनः । पचाद्यचि दरिद्रः । दुःपूर्वो गमिर्निःस्वे ॥

वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ ॥ ४७ ॥

वनीयकपञ्चकं प्रार्थके । 'वनु याचने' । ध्वनिवद् इः । वनी-
मिच्छतीति क्यचि ण्वुल् । वनीयकः । एवमन्तःस्थयमध्यः ।

“नवकदम्बकदम्बकसन्ततप्रसवनीपवनीपकषट्पदः”

(न गच्छति?) इति कप्किणाभ्युदये यमकादोष्ठ्यमध्यः । 'मार्ग अन्वेषणे' ।
ल्युट् । मार्गणः । याचतेर्ण्वुल् । याचकः । 'अर्थाच्चासन्निहिते' (वा० ५.
२. १३५) इतीति । अर्थी ॥

अहङ्कारी स्यादहंयुः

अहङ्कारिद्वयमहङ्कारयुक्ते । 'अहंशुभमोर्युम्' (५. २. १४०)
इति युम् । अहंयुः । सकारः 'सिति च' (१. ४. १६) इति पदसंज्ञार्थः । 'वा
पदान्तस्य' (८. ४. ९९) इति परसवर्णविकल्पः ॥

शुभंयुस्तु शुभान्वितः ।

शुभंयुद्वयं शुभान्विते ॥

दिव्योपपादुका देवाः

दिवि भवा दिव्याः । मात्रादिकारणमनपेक्ष्यादृष्टवशादुत्पद्यन्त इति
दिव्योपपादुकाख्या देवाः । कर्मधारयसमासः । देवनामत्वेऽप्यस्य त्रिलि-
ङ्गत्वादिह वर्गे पाठः ॥

नृगवाद्या जरायुजाः ॥ ४८ ॥

नृगवादयो जरायुजशब्देनोच्यन्ते । आद्येन खराश्वप्रभृतयः ॥

स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः

कृमिदंशाद्याः स्वेदजाः । ऊष्मा स्वेदः । आद्येन शकाद्याः ॥

पक्षिसर्पादयोऽण्डजाः ।

पक्षिमत्स्यसर्पादयोऽण्डजाः ॥

उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः

तृणतरुगुल्माद्या उद्भिद उच्यन्ते ॥

उद्भिच्छब्दस्याभिधेयमुत्पाद्यास्य पर्यायमाह—

उद्भिदुद्भिज्जमुद्भिदम् ॥ ४९ ॥

उद्भिन्नयं तरुगुल्मादिषु । उद्भिन्नतीति क्तिप् । उद्भिद् । भूमेरु-
द्भेदनमुद्भिद्, ततो जातमुद्भिज्जम् । सम्पदादिक्रियन्ताज्जनेर्ङः । इगुपधलक्षणः
कः । उद्भिदम् । कामचारात् क्लीबनिर्देशः ॥

सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् ।

कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम् ॥ ५० ॥

सुन्दरद्वादशकं शोभने । डीपि सुन्दरी । दारुवच्चारु । 'सुविनि-
र्दुर्भ्यः—' (८. ३. ८८) इति षत्वे सुषमम् । 'राजसूय—' (३. १.
११४) इत्यादिना रोचतेः क्यवन्ताद् रुच्यं निपातितम् ॥

तदसेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात् ।

बहुशो दर्शनेऽप्यधिकां प्रीतिमुत्पादयति, असेचनकम् । ह्रस्वादि ॥

अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं बल्लभं प्रियम् ॥ ५१ ॥

अभीष्टषट्कं प्रिये । 'हृदयस्य प्रियः' (४. ४. ९५) इति यत् ।
हृद्यम् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्यसेषु' (६. ३. ५०) इति हृदादेशः । वल्लतेः
रासभवद् वल्लभः ॥

निकृष्टप्रतिकृष्टावरेफयाप्यावमाधमाः ।

कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः ॥ ५२ ॥

निकृष्टत्रयोदशकं जात्यादिना निन्दिते । कृषेः क्तः । निकृ-
ष्टप्रतिकृष्टौ । अश्वनाम्नि अर्वा नान्त उक्तः । * 'रिफ कल्क बुद्धादौ' (?) ।
कर्मणि घञ् । रेफः । अदन्तः ।

“रवर्णे पुंसि रेफः स्यात् कुत्सिते वाच्यलिङ्गवत्”

इति रभसश्च । रेपाः सान्तोऽपि पवर्गप्रथमवान् । तथाच माघे — 'राजतः
पुपुविरे † विरेपसः' (स० १४. श्लो० ३५) इति । 'या प्रापणे' । 'अतिही —'
(७. ३. ३६) इत्यादिना पुक् । 'अचो यत्' (३. १. ९७) । याप्यः । अवश-
ब्दादधःशब्दाच्च § 'अवाधसोलोपश्च' इति भावार्थे मक् । अवमाधमौ ।
'पूयी विसरणे' । अच् । कुपूयः । कुत्सा सज्जातास्येति तारकादित्वादितचि
कुत्सितः । 'अवद्यपण्य —' (३. १. १०१) इत्यादिना नञ्पूर्वाद् वदेर्य-
त्प्रत्ययान्तादवधं निपातितम् । 'खिट उन्नासने' । अच् । खेटः । 'गर्ह गल्ह
कुत्सायाम्' । ण्यत् । गर्ह्यः । अणतेः कुन् । अणको ह्रस्वादिः ॥

मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम् ।

मलीमसचतुष्कं मलिने । 'ज्योत्स्नातमिस्रा —' (५. २. ११४)
इत्यादिना मलशब्दान्मत्वर्थे इनजीमसच्प्रत्ययान्तौ मलिनमलीमसौ निपातितौ ।
'रथवदयोश्च' (६. ३. १०२) इति चकारात् कोः कति पचाद्यच् ।
कच्चरम् ॥

* 'रिफ कल्कनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु' इति मुद्रितधातुपाठो दृश्यते । † 'निर-
नसः' इति मुद्रितमाघे दृश्यते । § 'अवद्यावमाधमावरेफाः' इति मुद्रितोणादौ दृश्यते ।

विशेष्यनिघ्नवर्गः १] टीकासर्वस्वाख्यव्याख्यासमेतम् ।

पूतं पवित्रं मेध्यं च

पूतत्रयं पवित्रे । 'मेधु सङ्गमे' । प्यत् । मेध्यम् । ब्रह्मवर्गेऽपि
पवित्रनाम प्राणिविषयमुक्तम् ॥

वीध्रं तु विमलार्थकम् ॥ ५३ ॥

स्वभावनिरमलं वस्तुमात्रं वीध्रम् । विपूर्वादिन्धेः 'वाविन्धेः*' क्रन्
(उ० २. २९) इति क्रन् । कित्वादनुनासिकलोपः ॥

निर्णिक्तं शोधितं मृष्टं निःशोध्यमनवस्करम् ।

निर्णिक्तपञ्चकं प्रक्षालिते । णिजिरः क्तः । 'उपसर्गादसमासेऽपि
णोपदेशस्य' (८. ४. १४) इति णत्वम् । निर्णिक्तम् । 'शुध शौचे' ।
क्तः । शोधितम् । 'मृजू शुद्धौ' । क्तः । मृष्टम् । निष्क्रान्तं शोध्यं क्षालनीयं
निःशोध्यम् ॥

असारं फल्गु

फल्गुद्वयमसारे । 'फल निष्पत्तौ' । वल्गुवद् उः गुगागमश्च ।
फल्गु ॥

शून्यं तु वशिकं तुत्थरिक्तके ॥ ५४ ॥

शून्यचतुष्कं शून्ये । शून्यवशिकौ तालव्यशौ । रिक्तमेव रिक्त-
कम् ॥

क्लीबे प्रधानं प्रमुखप्रवेकानुत्तमोत्तमाः ।

मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रबर्हानवरार्थवत् ॥ ५५ ॥

परार्थ्याग्रप्राग्रहरप्राग्रचाग्रचाग्रीयमग्रियम् ।

प्रधानसप्तदशकं प्रधाने । क्लीब इति निर्देशादजहल्लिङ्गता । तेन

१. 'नाकुव' ग. पाठः.

* 'वाविन्धेः' इत्येव सुद्रितोणादिपाठः ।

स्त्री प्रधानमित्येव भवति । 'न जाने सप्रधानो मे' इति चण्डीपाठः, सह प्रधानेन वर्तत इति साधुः । प्रकृष्टं मुखमारम्भोऽस्येति प्रमुखम् । 'शाखादिभ्यो यः' (५. ३. १०३) । मुख्यः । 'वर इच्छायाम्' । चुरादिरदन्तः । 'अचो यत्' (३. १. ९७) । वर्यः । ‡'वृड् एण्यः' (उ० ३. ९८) । अवरस्मिन्नर्थे भवम् अवरार्थम् । 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' (४. ३. ५) इति यत् । नञा अनवरार्थम् । 'अग्राद् यत्' (४. ४. ११६) । 'व-च्छौ च' (४. ४. ११७) इति यथाक्रमं यद्धच्छप्रत्ययाः । अग्रचम् अग्रियम् अग्रीयं च ।

“अग्रं प्राग्रहरं श्रेष्ठं मुख्यं वर्यं प्रहर्षणम्”

इति त्रिकाण्डे पाठादेकविंशतिरेव श्रेष्ठ इत्यन्यः ॥

श्रेयान् श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात् सत्तमश्चातिशोभने ॥ ५६ ॥

श्रेयःपञ्चकमतिप्रशस्ये । ईयसुन्नन्तः श्रेयान् । 'पुषः कित्' (उ० ४. ४) इति कलच् । पुष्कलः ॥

स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जराः ।

सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थगोचराः ॥ ५७ ॥

व्याघ्रादयः सप्त उत्तरपदीभूताः श्रेष्ठार्थविषयाः पूर्वपदार्थस्य श्रेष्ठत्व-वाचकाः पुँलिङ्गाश्च स्युः । तद् यथा — पुरुषव्याघ्रः । आद्येन वृषभादयः ॥

अप्राग्रयं द्वयहीने द्वे अप्रधानोपसर्जने ।

अप्राग्यत्रयमप्रधाने । द्वयहीने क्वबिलिङ्गे ॥

विशङ्कटं पृथु बृहद् विशालं पृथुलं महत् ॥ ५८ ॥

वद्रोरु विपुलं

विशङ्कटनवकं महति । 'वेः शालच्छङ्कटचौ' (५. २. २८) । विशङ्कटविशालौ तालव्यशौ । भृगुवत् पृथु । पृषदादौ महद्बृहती अतिप्रत्य-

‡ 'वृजः' इति सुप्रितोणादिपाठः ।

यान्ते निपातिते । सिध्मादिलचि पृथुलम् । वदेः 'स्फायितश्चिवाञ्च —'
(उ० २. १३) इत्यादिना रक् । वद्रेः । 'महति ह्रस्वश्च' (उ० १. ३२) इत्यनेन
ऊर्णोतिः कुः । उरु । 'पुल महत्त्वे' । इगुपधलक्षणः कः । विपुलम् ॥

पीनपीनी तु स्थूलपीवरे ।

पीनचतुष्कं स्थूले । उपचितमांसं विपुलम् आयतमाका(शा?रा)-
दिति भेदः । ओप्यायीतः क्तः । 'ओदितश्च' (८. २. ४५) इति
तो नः । 'प्यायः पी' (६. १. २८) इति पीभावः । पीनम् । 'प्यैङ् वृद्धौ' ।
'ध्याप्योः सम्प्रसारणं च' (उ० ४. ११६) इति कनिप् । 'हलः' (६.
४. २) इति दीर्घः । पीवा । स्त्रियां 'वनो र च' (४. १. ७) इति ङी-
वरेफौ । पीवरी । 'स्थूल परिवृंहणे' । चुरादिपचादी । स्थूलम् । 'छित्त्वर —'
(उ० ३. १) आदिसूत्रेण पीवरं निपातितम् ॥

स्तोकाल्पक्षुल्लकाः सूक्ष्मश्लक्ष्णदभ्रं कृशं तनु ॥ ५९ ॥

स्त्रियौ मात्रात्रुटी पुंसि लवलेशकणाणवः ।

स्तोकचतुर्दशकमल्पे ।

“अल्पं दभ्रं स्तोकं लवाणुलेशा नरे श्लक्ष्णम्”

इति रत्नकोषः । चातकेऽपि स्तोक उक्तः । क्षुल्लकोऽपि पामरे । 'सूच पैशु-
न्ये' । 'सूचेः स्मन्' (उ० ४. १७८) । सूक्ष्मम् । दन्त्यादिः । 'श्लिष आ-
लिङ्गने' । 'श्लिषेरचोपधायाः' (उ० ३. १९) इति क्तः उपधाया अकारश्च ।
श्लक्ष्णम् । 'कृश तनूकरणे' । इगुपधलक्षणः कः । कृशम् । दन्भे रकि दभ्रम् ।
'माङ् माने' । 'हुयामाश्रुसुहासिभ्यस्त्रन्' (उ० ४. १६९) । मात्रा । त्रुटिरुक्तः
स्वर्गवर्गे । 'लिश अल्पीभावे' । घञ् । लेशः ॥

प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु ॥ ६० ॥

पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च ।

प्रभूतद्वादशकं प्रचुरे । प्राङ्पूर्वाद् अजेः क्यप् । प्राज्यम् ।
बहूनर्थान् लाति बहुलम् । पुरुहं हन्तीति पुरुहम् । 'अन्येष्वपि —'

(३. २. १०१) इति डः । ‘पृभिदिव्यधिगृधिधृषिभ्यः’ (उ० १. २३) इति कुः । पुरु । ‘इष्टस्य यिट् च’ (६. ४. १५९) इति बहोर्भूभाव इडागमश्च । भूयिष्ठम् । शिशिरवत् स्फिरशब्दो निपातितः । भूयः ईयसुन्नन्तम् । अद्रिवत् क्रिन् । भूरि ॥

परश्शताद्यास्ते येषां परा सङ्ख्या शतादिकात् ॥ ६१ ॥

यच्छताद् बहु, तत् परश्शतम् । द्वितालव्यम् । शतादेरर्थादुत्तराः सङ्ख्या येषां सङ्ख्येयानां, ते पराः शतात् परश्शताः । आदिना पराः सहस्रात् परस्सहस्राः । परा अयुतात् परायुताः । तथाच नाममाला —

“अश्वसहस्रादश्वीयं परस्सहस्रं सहस्रतोऽप्यधिकम्”

इति । ‘पञ्चमी’ (२. १. ३७) इति योगविभागात् समासः । राजदन्तादित्वात् शतशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात् सुट् । सुट्श्चाभक्तत्वाद् विसर्जनीयो न भवति । श्रुत्वमेव भवति । परस्सहस्रे तु द्विदन्त्य एव ।

“आलोकयामास हरिर्महीधरानधिश्यन्तीर्गजताः परश्शताः”

इति माघः ।

(स० १२. श्लो० ५०)

“ब्रह्मादयो ब्रह्माहिताय तप्त्वा परस्सहस्राः शरदस्तपांसि”

इति परस्सहस्रस्य भवभूतेः स्त्रीलिङ्गप्रयोगः । सङ्ख्यानमात्रेऽपि शतादिकं वर्तत इति परश्शतं गवां, परस्सहस्रं गवामिति नपुंसकत्वमेव । शतादाधिका सङ्ख्या गवामित्यर्थः ॥

गणनीये तु गणेर्यं

गणयितुं शक्ये गणनीयद्वयम् । ‘गण सङ्ख्यानै’ । चुरादिण्यन्ताद् ‘अचो यत्’ (३. १. ९७) । गणेर्यम् । ‘क्यस्य विभाषा’ (६. ४. ५०) इत्यतोऽनुवृत्तस्य विभाषाग्रहणस्य व्यवस्थितविभाषात्वाद् ‘णेरानिटि’ (६. ४. ५१) इति न णिलोप इति धातुप्रदीपटीका । गण्यं तु चिन्त्यम् ॥

सङ्ख्याते गणितम्

गणिते सङ्ख्यातद्वयम् ॥

अथ समं सर्वम् ।

विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निःशेषम् ॥

समग्रसकलाखण्डपूर्णादीन्यप्यनूनके ।

समचतुर्दशकं सर्वस्मिन् । समशब्दः सर्वनामसंज्ञकः । सत्तेः 'सर्वनिघ्नृप्वरिप्व —' (उ० १. १५९) इत्यादिना वन्प्रत्ययान्तः सर्वशब्दो निपातितः । गणदेवतायां विश्व उक्तः । कृतेः 'कृत्यशूभ्यां क्लृप्तः' (उ० ३. १७) । कृत्स्नम् । अग्रेण शिखरेण सङ्गतं समग्रम् । दन्त्यादिः । पूरीधातोः पूर्णम् ॥

घनं निरन्तरं सान्द्रं

घनत्रयं घने । सान्द्रं दन्त्यादि ॥

पेलवं विरलं तनु ॥ ६३ ॥

पेलवत्रय विरले ॥

समीपे निकटासन्नसन्निकृष्टसनीडवत् ।

सदेशाभ्याससविधसमर्यादसवेशवत् ॥ ६४ ॥

उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् ।

समीपपञ्चदशकं समीपे । सङ्गता आपोऽस्मिन् इति समीपम् । 'ऋक्पूरब्धुःपथामानक्षे' (५. ४. ७४) इति अः समासान्तः । 'द्वयन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६. ३. ९७) इतीत्वम् । निकटादिवत् सदेशादिवच्च उपकण्ठादयः समीपे इति वच्छब्दार्थः । अभ्यासो दन्त्यसः । 'समीपेऽभ्यसनेऽभ्यासः' इति दन्त्यादौ रभसः । तालव्यान्तस्तु चिन्त्यः । कण्ठं सामीप्यमुपगत उपकण्ठः । 'अभेश्चाविदूर्ये' (७. २. २५) इतीणनिषेधे अभ्यर्णः । 'पर्यभिभ्यां च' (९. ३. ९) इति तसिः । अभितः ॥

संसक्ते त्वव्यवहितमपटान्तरमित्यपि ॥ ६५ ॥

संसक्तत्रयं संलग्ने । सङ्गेः संसक्तम् ॥

नेदिष्ठमन्तिकतमं

अतिसमीपे नेदिष्ठद्वयम् । ‘अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ’ (५. ३. ६३) इत्यन्तिकस्य नेदादेशः इष्टन्प्रत्ययश्च । नेदिष्ठम् । अतिशयने तमपि अन्तिकतमम् । ननु च ‘अन्तिकस्य तमपि कादिलोपः, आद्युदात्तत्वं च’ इत्यनुवृत्तौ, ‘तमे तादेश्च’ इति तमप्रत्यये ‘अन्तिकस्य तकाद्योः’ तकारादेः ककारादेश्च लोपो भवति । तत्र तादिलोपे अन्तिकं, कादिलोपे अन्तिकं वा प्राप्नोति । कथमन्तिकतमम् । उच्यते । ‘कादिलोपे बहुलम्’ इति वचनात् पक्षे लोपः । अन्तिकस्य तम इव सदि वा तादेर्लोपवचनम् ।

“अन्तिकतमोऽतिसन्निधिरन्तिसदन्तिकसदन्तमोऽन्तिकतमः”

इति रत्नकोषः ॥

स्याद् दूरं विप्रकृष्टकम् ।

दूरद्वयं दूरमात्रे । ‘इण् गतौ’ । ‘दुरीणो लोपश्च’ (उ० २. २२) इति दुस्पूर्वादिणो रक्, इणो लोपश्च । ‘रो रि’ (८. ३. १४) इति रेफलोपः । ‘दूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः’ (६. ३. १११) इति दीर्घत्वम् ॥

दवीयश्च दविष्ठं च सुदूरे

दवीयस्त्रयमतिदूरे । दूरशब्दस्य ‘स्थूलदूर —’ (६. ४. १९६) इत्यादिना ईयसुन्निष्ठनोर्यणादिभागलोपौ गुणश्च । दवीयः दविष्ठं च ॥

दीर्घमायतम् ॥ ६६ ॥

दीर्घद्वयं दीर्घं ॥

वर्तुलं निस्तलं वृत्तं

वर्तुलत्रयं वर्तुले । वृतेर्वहुलवचनाद् ‘हृषेरुलच्’ (उ० १. १०१) । वर्तुलम् ॥

बन्धुरं तून्नतानतम् ।

स्वभावाद् यदुन्नतम्, उपाधिवशादीषन्नतं, तद् बन्धुरम् ।

*“बन्धुरं बन्धुरे रम्ये नद्रे हंसे तु बन्धु(रम्भः)”

इति रभसः ॥

उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे

उच्चषट्कमुच्चैः । उच्चिनोतेर्दः । उच्चः । प्रकृष्टोऽशुदीप्तिरस्येति
प्रांशुः । उद्धतं नतमुन्नतम् । ऊर्ध्वं श्रित उच्छ्रितः ॥

अथ वामने ॥ ६७ ॥

न्यङ्नीचिखर्वह स्वाः स्युः

न्यक्पञ्चकं खर्वसामान्ये । नृवर्गे तु ‘खर्वो ह्रस्वश्च वामनः’ इति
नरवचना उक्ताः । निपूर्वादच्चेः ऋत्विगादिना क्तिन् । ‘क्तिन्प्रत्ययस्य कुः’
(८. २. ६२) इति कुत्वम् । न्यक् चान्तः । स्त्रियां नीची । पामरे
नीच उक्तः । ‘खर्व माने’ । पचाद्यच् । खर्वः ॥

अवाग्रेऽवननानतम् ।

अवाग्रत्रयमवनताग्रे । अवनतमग्रमस्येत्यवाग्रम् ॥

अरालं वृजिनं जिह्वमूर्मिमत् कुञ्चितं नतम् ॥ ६८ ॥

आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि ।

अरालैकादशकं वक्त्रे । ऊर्मिर्भङ्गः, तद्योगान्मतुपि ऊर्मिमत् । कुटिं
कुटिलतां लातीति कः । कुटिलम् । ‘भुजो कौटिल्ये’ । क्तः । ‘ओदितश्च’
(८. २. ४५) इति नत्वम् । भुग्नम् ॥

ऋजावजिह्वप्रगुणौ

ऋजुत्रयमवक्त्रे ॥

व्यस्ते त्वप्रगुणाकुलौ ॥ ६९ ॥

व्यस्तत्रयं व्यस्ते । यथा आकुलाः केशपाशाः ॥

शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः ।

१. ‘चचरते’ छ. पाठः.

* “बन्धूरबन्धुरौ रम्ये नद्रे हंसे तु बन्धुरः” इति भातुजि सम्मतः पाठः ।

शाश्वतपञ्चकं कालत्रयव्यापिनि । शश्वच्छब्दाद् भवार्थाणि शाश्वतः ।
द्वितालव्यः । ठञि शाश्वतिकोऽप्यत्र । 'सायंचिरं—' (४. ३. २३) इत्या-
दिना व्युत्थुलौ तुद् च । सदातनः ॥

स्थास्तुः स्थिरतरे स्थेयान्

स्थास्तुत्रयमतिस्थिरे । जिप्णुवत् स्थास्तुः । 'प्रियस्थिर—' (६. ४. १५७) इत्यादिना स्थिरशब्दस्य स्थादेशे स्थेयान् । शाश्वताष्टकमेव स्थिर इति कश्चित् ॥

एकरूपतया तु यः ॥ ७० ॥

कालव्यापी स कूटस्थः

एकेनैव स्वभावेन निरवधिकालस्य व्यापक आकाशादिः कूटस्थः ॥

स्थावरो जङ्गमेतरः ।

जङ्गमेतरः प्राणितोऽन्यः स्थावरः । ईश्वरवद् वरच् ॥

चरिष्णुजङ्गमचरत्रसमिङ्गं चराचरम् ॥ ७१ ॥

चरिष्णुषट्कं जङ्गमे । गमेः 'नित्यं कौटिल्ये गतौ' (३. १. २३) इति यङ् । 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' (७. ४. ८५) इति नुक् । तस्य चानुस्वारः । पचाद्यच् । 'यङोऽच् च' (२. ४. ७४) इति यङो लुक् । जङ्गमम् । त्रस्यति चलतीति त्रसम् । पचाद्यजन्तम् । इङ्गति गच्छतीति इङ्गम् । वदावदवचराचरम् ॥

चलनः कम्पनः कम्पः

चलनत्रयं चलनशीले । 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्' (३. २. १४८) । चलनः । कम्पवत् कम्पः ॥

चलं लोलं चलाचलम् ।

चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे ॥ ७२ ॥

चलसप्तकं चलमात्रे । 'लुङ् इत्येके' इत्यतः पचाद्यचि लोलम् । लोल-
तिरपरिपठितधातुरिति माघटीकाकृत् । वदावदवचलाचलम् । चञ्चतेः कलच् ।

चञ्चलम् । 'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७) इति दीर्घत्वे पारिप्लवम् ।
पचाद्यच् । परिप्लवम् ॥

अतिरिक्तः समधिकः

अतिरिक्तद्वयमधिके ॥

दृढसन्धिस्तु संहतः ।

दृढसन्धिद्वयं दृढसन्धाने । हन्तेः क्तः । संहतः ॥

कर्कशं कठिनं कूरं कठोरं निधुरं दृढम् ॥ ७३ ॥

जरठं मूर्तिमन्मूर्तं

कर्कशनवकं कठिने । 'कठ कृच्छ्रजीवने' । 'बहुलमन्यत्रापि' (उ० २. ५१) इतीनच् । कठिनम् । घातके कूर उक्तः । 'कठिचकिभ्यामोरच्' (उ० १. ६७) । कठोरम् । 'दृढः स्थूलबलयोः' (७. २. २०) इत्यत्र परि-
बृढवद् दृढो निपातितः । मूर्तिः काठिन्यं, तद्योगान्मूर्तिमत् । 'तदस्या-
स्त्यस्मिन्निति मतुप्' (९. २. ९४) । अर्शआद्यचि मूर्तम् ॥

प्रवृद्धं प्रौढमेधितम् ।

प्रवृद्धत्रयं प्रौढे । प्रैषवद् वृद्धौ प्रौढः । एधेः क्तः । एधितः ॥

पुराणप्रतनप्रत्नपुरातनचिरन्तनाः ॥ ७४ ॥

पुराणपञ्चकं पुरातने । 'सायंचिरं —' (४. ३. २३) इत्या-
दिना ट्युः । पुराणम् । 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४. ३. १०५) इति
निपातनात् तुट् । 'अबाधकान्यपि निपातनानि भवन्ति' इति पक्षे तुटि
पुरातनम् । 'प्रात्तश्च पुराणे' (वा० ५. ४. ३०) इति प्रशब्दान्नप्रत्ययः ।
चकारात् (त्तप्) तनप् (च) । प्रत्नं प्रतनं च ॥

प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः ।

नूतनश्च .

प्रत्यग्रसप्तकं नवे । प्रतिगतोऽग्नोऽस्य प्रत्यग्रः । 'पादार्धाभ्यां च' (५. ४. २५) इति चकाराद् यत् । नव्यः । 'नवशब्दस्य नूआदेश-
स्तनस्तनखाश्च प्रत्यया वक्तव्याः' (वा० ५. ४. ३०) इति यथाक्रमं स्वतन-
त्नप्प्रत्ययाः । नवीननूतननूनाः ॥

सुकुमारं तु कोमलं मृदुलं मृदु ॥ ७५ ॥

सुकुमारचतुष्कं कोमले । मृदुलं सिध्मादि । पृथुवन्मृदु ॥

अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम् ।

अन्वक्चतुष्टयमनुगन्तरि । अनु पश्चादञ्चतीत्यन्वक्, चान्तः ।
स्त्रियामनूची । अनुगतं पादेन्द्रियमन्वक्षम् । पदस्य पश्चादनुपदम् । 'अव्ययं
विभक्ति —' (२. १. ६) इत्यादिना समासः ॥

प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकम्

इन्द्रियग्राह्ये वस्तुनि प्रत्यक्षद्वयम् । अक्षं प्रति प्रत्यक्षम् । आभिमु-
ख्येऽव्ययीभावः । कुलालादेराकृतिगणत्वाद् वुञ् । ऐन्द्रियकम् ॥

अत्यध्यक्षमतीन्द्रियम् ॥ ७६ ॥

अत्यध्यक्षद्वयमप्रत्यक्षे । अतिक्रान्तमध्यक्षमत्यध्यक्षम् ॥

एकतानोऽनन्यवृत्तिरेकाग्रैकायनावपि ।

अप्येकसर्ग एकाग्रयोऽप्येकायनगतोऽपि च ॥ ७७ ॥

एकतानसप्तकमेकाग्रे । एकस्मिन् तानोऽस्यैकतानः । 'तन यज्ञोपक-
रणयोः' । चुरादिण्यन्ताद् 'एरच्' (३. ३. ५६) । तानः ॥

पुंस्यादिः पूर्वपौरस्त्यप्रथमाद्याः

आदिपञ्चकमादौ । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' (४. २. ९८) । पौर-
स्त्यः । दिगादित्वाद् यत् । आद्यः ॥

अथास्त्रियाम् ।

अन्तो जघन्यं चरममन्त्यपाश्चात्यपश्चिमम् ॥ ७८ ॥

अन्तषट्कमन्ते । जघन्यान्त्यौ दिगादी । पौरस्त्यवत् पाश्चात्यः ।

अनचि च' (८. ४. ४७) इति द्वित्वे द्वितकारः । शाकल्यमते त्रितकारम् । †'अग्रपश्चाद्धिमच्' (वा० ४. ३. २३) । पश्चिमम् ॥

मोघं निरर्थकं

मोघद्वयं निष्फले ॥

स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम् ।

स्पष्टचतुष्कं व्यक्ते । अज्ञेः क्तः । व्यक्तम् ॥

साधारणं तु सामान्यम्

यदेकमनेकसंबन्धि, तत्र साधारणद्वयम् । पूर्वं तु 'सहक् । साधारणः' इत्युक्तम् । तुल्ये साधारणः साधितः, स्त्रियां साधारणी साधारणा च । स्वार्थिकप्यञि सामान्यम् । तेन जातेरन्यत्रापीति प्रयोगः । 'सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नृपाणाम्' । सामान्यं धनम् । सामान्या भूमिः ॥

एकाकी त्वेक एककः ॥ ७९ ॥

एकाकित्रयमेकके । 'एकादाकिनिच्चासहाये' (९. ३. ९२) इत्या-
किनिच् । एकाकी । चकारात् पक्षे कन्लुकौ च । एककः एकश्च ॥

भिन्नार्थका अन्यतर एकस्त्वोऽन्येतरावपि ।

अन्यतरादयः पञ्च भिन्नार्थवाचकाः । पञ्चैव सर्वनामसंज्ञकत्व इत्येव नाम ॥

उच्चावचं नैकभेदम्

उच्चावचद्वयमनेकप्रकारे । उदक् चासाववाक् चेत्युच्चावचं, मयूरव्यं सकादिषु निपातितम् । 'उच्चावचा वीचयः' इति प्रयोगः । न एको भेदोऽत्रेति त्रिपदो बहुव्रीहिः । 'सुप् सुपा' इति नशब्देन सह समासः ॥

उच्चण्डमविलम्बितम् ॥ ८० ॥

उच्चण्डद्वयं तूर्णे ॥

† 'अग्रादिपश्चाद्धिमच्' इति मुद्रितवार्तिकपाठः ।

अरुन्तुदं तु मर्मस्पृग्

अरुन्तुदद्वयं मर्मपीडाकरे । विधुन्तुदवदरुन्तुदः । किंनि मर्म-
स्पृक्, शान्तम् ॥

अबाधं तु निरर्गलम् ।

अबाधद्वयमनिवारिते ॥

प्रसव्यं प्रतिकूलं स्यादपसव्यमपष्टु च ॥ ८१ ॥

प्रसव्यचतुष्कं प्रतिकूले । पुजः 'अचो यत्' (३. १. ९७) ।
प्रसव्यापसव्यौ । 'अपदुस्सुषु स्थः' (उ० १. २९) इति तिष्ठते कुः । 'अम्बा-
म्ब —' (८. ३. ९७) इत्यादिना षत्वम् । अपष्टु ॥

वामं शरीरे सव्यं स्याद्

शरीरे वाममङ्गं (सव्यम्) । 'सव्यं वामे च दक्षिणे' इति त्वजयः ॥

अपसव्यं तु दक्षिणम् ।

दक्षिणमङ्गमपसव्यम् । 'द्विवकार' इति वर्णदेशना ॥

सङ्कटं ना तु सम्बाधः

सङ्कटद्वयमलपावकाशे । 'सम्प्रोदश्च कटच्' (५. २. २९) । सङ्कटम् ।
वजि सम्बाधः । पुल्लिङ्ग एव नान्यलिङ्गः ॥

कलिलं गहनं समे ॥ ८२ ॥

दुष्प्रवेशे, दुर्विवेके इति यावत् । तत्र कलिलद्वयम् । यथा गहनं
शास्त्रम् । सलिलवत् कलिलम् ॥

सङ्कीर्णं सङ्कुलाकीर्णं

जनादिना निरन्तरव्याप्ते सङ्कीर्णद्वयम् । द्वयं दन्त्यादि । 'शङ्कैरुलचि
तालव्यादी'ति तु गोवर्धनः ॥

मुण्डितं परिवापितम् ।

मुण्डितद्वयं कृतकेशखण्डने । यथा मुण्डितं शिरः । 'मुडि खण्डने' ।
क्तः । मुण्डितः । वपेरनेकार्थत्वाद् मुण्डनेऽपि वृत्तिः । तत्राच भाष्यं—

“वपिः प्रकिरणे दृष्टो मुण्डने चापि दृश्यते” ।

स्वार्थिकणिचि परिवापितम् ॥

ग्रथितं सन्दितां दृढं

ग्रथितत्रयं ग्रथिते । 'ग्रन्थ सन्दर्भे' । कृचादिः । क्तः । ग्रथितम् ।
'ग्रथि कौटिल्ये' । भूवादिः । 'इदितो नुम् धातोः' (७. १. ५८)
इति नुमि ग्रन्थितमिति वा पाठः । 'मृद ओदे' । अनेकार्थत्वाद् धातूनां
ग्रन्थनेऽपि वृत्तिः । णिच् । क्तः । मर्दितः । 'दमि ग्रन्थे' । क्तः । दृढम् ॥

विस्मृतं विस्तृतं ततम् ॥ ८३ ॥

लब्धप्रसरे विस्तृतत्रयम् । 'सु गतौ' । 'स्तृञ् आच्छादने' । ह्रस्वा-
दिः । 'तनु विस्तारे' । क्तः । विमृत-विस्तृत-ततानि ॥

अन्तर्गतं विस्मृतं स्यात्

अन्तर्गतद्वयं विस्मृते ॥

प्राप्तप्रणिहिते समे ।

प्राप्तद्वयं प्रकर्षेण निहिते । अधिक्षिप्ते इति केचित् । लब्धपर्याये
च प्राप्तं वक्ष्यते । 'नेर्गद —' (८. ४. १७) इत्यादिना णत्वे प्रणिहितम् ॥

वेल्लितप्रेङ्खिताधूतचलिताकम्पिता धुते ॥ ८४ ॥

वेल्लितषट्कं कम्पिते । 'धू विधूनने' । आधूतः । 'धुञ् कम्पने' ।
ह्रस्वादिः । धुतः ॥

नुत्तनुन्नास्तनिष्क्यताविद्वक्षिसेरिताः समाः ।

नुत्तसप्तकं प्रेरिते । 'नुदविदोन्दन्नाग्राहीभ्योऽन्यतरस्याम्' (८. २. ५९)
इति निष्ठानत्वविकल्पे नुत्तनुन्ना ॥

परिक्षिप्तं तु निवृतं

परिखादिना वेष्टिते परिक्षिप्तद्वयम् । वृजो निवृतम् ॥

मुषितं मूषितार्थकम् ॥ ८५ ॥

मुषितद्वयं मुषिते । 'मुष स्तेये' । क्रैयादिको ह्रस्वोपधः ।
'मूष स्तेये' । भौवादिको दीर्घोपधः ॥

प्रवृद्धप्रसृते

प्रवृद्धद्वयं प्रसरणे । प्रपूर्वो वृधिः प्रसरणे ।

“तस्मादयं प्रवृद्धे पृथिवीपतनिमुद्गीतपुण्यचरितो भुवनेषु वंशः”
इति भवभूतिश्च । प्राक् प्रौढेऽपि प्रवृद्ध उक्तः । इत आरभ्य समे इति
वक्ष्यमाणं योज्यम् ॥

न्यस्तनिसृष्टे

न्यस्तद्वयं न्यस्ते । निक्षिप्त इति यावत् ॥

गुणिताहते ।

गुणितद्वयं गुणिते । यथा पञ्चधा गुणिता द्वादशसंख्या षष्टिर्भवति ।

निदिग्धोपचिते

निदिग्धद्वयमुपचिते । दिहेः क्तः ॥

गूढगुप्ते

कृतसङ्गोपने गूढद्वयम् ॥

गुण्डितरूपिते ॥ ८६ ॥

गुण्डितद्वयं धूलिप्रक्षिप्ते । गुण्डिर्वेष्टने । रूपिस्तु मूर्धन्यान्तो भूवादे-
रपरिसमाप्तत्वाञ् ज्ञेयः ॥

द्रुतावदीर्णे

जातद्रवीभावे मांसादौ द्रुतद्वयम् ॥

उद्गूर्णोद्यते

उद्यते शस्त्रादौ उद्गूर्णद्वयम् । ‘गुरी उद्यमे’ । क्तः । उद्गूर्णः ॥

काचितशिक्षिते ।

काचितद्वयं शिष्यारोपिते । ‘प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्टवच्च’
इति णिजन्तात् क्तान्तद्वयम् । काचितम् । शिक्षितम् ॥

घ्राणघ्राते

(जिज्ञे)घ्राते पुष्पादौ घ्राणद्वयम् । नुन्नवद् विभाषा नत्वम् ॥

दिग्धलिप्ते

दिग्धद्वयं चन्दनादिलिप्ते ॥

समुदक्तोद्धृते समे ॥ ८७ ॥

कृपादेरुद्धृते जलादौ समुदक्तद्वयम् ॥

वेष्टितं स्याद् वलयितं संवीतं रुद्धमावृतम् ।

नदीप्राकारादिना वेष्टिते वेष्टितपञ्चकम् ॥

रुग्णं भग्ने .

रुग्णद्वयं भग्ने । 'रुजो भङ्ग' । 'भङ्गो आमर्दने' । क्तः ॥

अथ निशितक्ष्णुतशातानि तेजिते ॥ ८८ ॥

शाणादौ तीक्ष्णीकृते निशितचतुष्कम् । 'शो तनूकरणे' ।
'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७. ४. ४१) इति इत्त्वविकल्पः । निशितम् ।
'क्ष्णु तेजने' । 'तिज निशाने' । चुरादिः ॥

स्याद् विनाशोन्मुखं पक्कं

विनाशोन्मुखे पक्कम् । परिणते च वक्ष्यति । 'पचो वः' (८. २. १२)
इति निष्ठावत्वम् । यथा पको वटुः । विनाशोन्मुख इत्यर्थः ॥

हीणहीनौ तु लज्जिते ।

हीणत्रयं लज्जिते । नुन्नवद् विकल्पेन नत्वे हीणहीनौ । लज्जितस्ता-
रकादिः ॥

वृते तु वृत्तवावृत्तौ

वृतादित्रयं वृत्ते । सूत्रादेर्विवरणं वृत्तिरुच्यते । दिवादौ 'तप ऐश्वर्ये'
इत्यनन्तरं 'वावृतु वर्तने' इति पठ्यते । यत्प्रयोगो भट्टौ —

“ततो वावृत्यमानासौ रामशालां न्यविक्षत ”

इति । अत्र रामं वृण्वतीत्यर्थः । ततः क्तः । वावृत्तः ॥

संयोजित उपाहितः ॥ ८९ ॥

पदार्थे पदार्थान्तरेण संयुक्तीकृते संयोजितद्वयम् ॥

प्राप्यं गम्य समासाद्यं

१. 'जाभ्यां क्तः' ख. ग. घ., 'जिभ्यां क्तः' क. पाठः. २. 'दौ व' ग. घ. पाठः.

प्राप्तुं शक्ये प्राप्यत्रयम् । प्यति प्राप्यम् । 'पोरदुपधात्' (३. १. ९८)
इति याति गम्यम् ॥

स्यन्नं रीणं स्तुतं स्तुतम् ।

स्तुते जलादौ स्यन्नचतुष्कम् । 'स्यन्दू प्रसवणे' । क्तः । स्यन्नम् ।
'स्तु प्रसवणे' । क्तः । स्तुतम् ॥

सङ्गूढः स्यात् सङ्गलितः

लेखकादिना (संवृतकृतीते?) सङ्गूढद्वयम् ॥

अवगीतः ख्यातगर्हणे ॥ ९० ॥

ख्याता प्रसिद्धा गर्हणा यस्य सोऽवगीतः ॥

विविधः स्याद् बहुविधो नानारूपः पृथग्विधः ।

विविधचतुष्कं नानाप्रकारे ॥

अवरीणो धिक्कृतश्चापि

अवरीणद्वयं कृतधिकारे । पूर्वोक्तस्यैव चाधिकृतस्य अवरीण इति
पर्यायान्तरं दृश्यते ॥

अवध्वस्तोऽवचूर्णितः ॥ ९१ ॥

दृप्तचूर्णे(?) लेखादौ अवध्वस्तद्वयम् । 'सत्यापपाश —' (३. १.
२५) इत्यादिना णिच् । क्तः ॥

अनायासकृतं फाण्टं

अनायाससाध्यं फाण्टम् ।

“द्रव्यादौ योत्थितात् तोर्ये प्रतप्ते चैव संस्थिते ।

रसो निर्याति यः सद्यः स फाण्ट इति संस्तुतः” ॥

'क्षुब्धस्वान्त —' (७. २. १८) इत्यादिना 'फण गतौ' इत्यतो निष्ठाया मि-
डभावे फाण्टं निपातितम् ॥

१. 'ति' ड. पाठः. २. 'वाधिकृत' क. पाठः. ३. 'प्ता' ड. पाठः. ४. 'द'
घ. च. पाठः. ५. 'य' क. पाठः. ६. 'स्कृ' ज. पाठः.

स्वनितं ध्वनितं समे ।

कृतस्वने स्वनितद्वयम् ॥

वद्धे सन्दानितं मूर्णमुद्धितं सन्धितं सितम् ॥ ९२ ॥

वद्धषट्कं वद्धे । सन्दानितं तारकादि । 'मुर्वी बन्धने' । क्तः ।
बलोपदीर्घनत्वानि । मूर्णम् । सूत इति पाठे 'सूज् बन्धने' । क्तः । 'दो
अवखण्डने' । उद्धितसन्धितौ । 'षिज् बन्धने' । क्तः । सितम् ॥

निष्पकं कथितं

निष्पकद्वयं कथिते । 'कथ निष्पाके' । क्तः । कथितम् ॥

पाके क्षीराज्यहविषां शृतम् ।

क्षीरादीनां पाके शृतम् । 'श्रा पाके' । 'शृतं पाके' (६. १.
२७) इति निपातितम् । पाकेऽभिधेये श्रातेनिष्ठायां शृभावो निपात्यते ॥

निर्वाणो मुनिवह्यादौ

'निर्वाणोऽवाते' (८. २. ९०) इति निष्ठानत्वम् । निर्वाणो
मुनिः । निर्वाणो वह्निः । निर्वाणो हस्ती । मुक्तो, नष्टो, मग्नश्चेति यथाक्रमं
निर्वाणशब्दार्थाः ॥

निर्वातस्तु गतेऽनिले ॥ ९३ ॥

वाते तु नत्वाभावाद् निर्वातो गते वायौ ॥

पक्कं परिणते

पक्कद्वयं परिणते । यथा परिणता बुद्धिः ॥

गूनं हन्ने

कृतमलोत्सर्गे गूनद्वयम् । 'गु पुरीषोत्सर्गे' । 'दुग्धोदीर्घत्वं चेति
वक्तव्यम्' (वा० १८. २. ४४) इति निष्ठानत्वं दीर्घत्वं च । गूनम् ।
हृदे क्तः । हन्नम् ॥

मीढं तु मूत्रिते ।

मीढद्वयं मूत्रिते । 'मिह सेचने' । कढत्वष्टुत्वढलोपदीर्घत्वानि ॥

पुष्टे तु पुषितं

पुष्टद्वयं पुष्टे पक्ष्यादौ । 'पुष पुष्टौ' । दिवादिरनिट् । भूवादेस्तु सेटः पुषितम् ॥

सोढे क्षान्तम्

सोढद्वयं क्षान्ते । यथा सोढोऽपराधः । 'सहिवहोरोदवर्णस्य' (६. ३. ११२) । सोढः ॥

उद्धानमुद्घते ॥ ९४ ॥

उद्धानद्वयमुद्घते । 'ओहाङ् गतौ' । उत्पूर्वः । ओदित्वान्नत्वम् । उद्धानम् ॥

दान्तस्तु दमिते

पूर्वं तपःक्लेशसह उक्तम् । इदानीं सामान्येन बहनादिक्लेशसहे दान्तद्वयम् ॥

शान्तः शमिते

शान्तद्वयं शान्ते । णिचि 'वा दान्त —' (७. २. २७) इत्यादिना विभाषेद् । शान्तशमितौ ॥

प्रार्थितेऽर्दितः ।

प्रार्थितद्वयं प्रार्थिते । 'अर्द गतौ याचने च' । क्तः । अर्दितः ॥

ज्ञसस्तु ज्ञपिते

ज्ञसद्वयं विनङ्ग इति ख्याते । 'ज्ञा मारणतोषणनिशामनेषु' । एतेष्वेवार्थेष्वित्यन्यः । पूर्ववद् विभाषेद् ॥

छन्नच्छादिने

छन्नद्वयं छन्ने । यथा मेघच्छन्नं नभः ॥

पूजितेऽञ्चितः ॥ ९५ ॥

पूजितद्वयं पूजिते । 'अञ्चेः पूजायाम्' (७. २. ९३) इतीद् । 'नाञ्चेः पूजायाम्' (९. ४. ३०) इत्युपधानलोपाभावः । अञ्चितः ॥

पूर्णस्तु पूरिते

पूर्णद्वयं पूरिते ॥

क्लिष्टः क्लिशिते

क्लिष्टद्वयं क्लिष्टे । 'क्लिशू विर्वाधने' । 'क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः' (७. २. ५०) इतीड्विकल्पः । क्लिष्टक्लिशितौ ॥

अवसिते सितः ।

अवसितद्वयं समाप्ते । 'बो अन्तकर्मणि' । क्तः ॥

मुष्टप्लुष्टोषिता दग्धे

मुष्टचतुष्कं दग्धे । 'श्रिषु मुषु प्लुषु दाहे' । 'उष दाहे' । क्तः । 'दह भस्मीकरणे' । क्तः ॥

तष्टत्वष्टौ तनूकृते ॥ ९६ ॥

तष्टत्रयं वैश्वतेति ख्याते । 'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे' । 'स्कोः संयो-गाद्योरन्ते च' (८. २. २९) इति कलोपः ॥

वेधितच्छिद्रितौ विद्धे

वेधितत्रयं वेधिते । ण्यन्तात् क्तः । वेधितः । द्वौ तारकादी ॥

विन्नवित्तौ विचारिते ।

विन्नत्रयं विचारिते । 'विद विचारणे' । नुन्नवद् विभाषा निष्ठानत्वम् ॥

निष्प्रभे विगतारोको

निष्प्रभत्रयं प्रभाशून्ये । रुचेर्घञि नञ्समासे अरोकः ॥

विलीने विद्रुतद्रुतौ ॥ ९७ ॥

घृतादौ विलीने विलीनत्रयम् ॥

सिद्धे निर्वृत्तनिष्पन्नौ

सिद्धत्रयं सिद्धे ॥

दारिते भिन्नभेदितौ ।

दारितत्रयं विदारिते ॥

ऊतं स्यूतमुतं चेति त्रितयं तन्तुसन्तते ॥ ९८ ॥

ऊतत्रयं सन्तते वस्त्रादौ । 'ऊयी तन्तुसन्ताने' । क्तयलोपौ ।
ऊतम् । 'ष्वितु तन्तुसन्ताने' । स्यूतम् । वेज उतम् ॥

स्यादर्हिते नमस्यितनमसितमपचायितार्चितापचितम् ।

अतः परमावर्गमार्याच्छन्दः । अर्हितषट्कं नमस्कृते । 'नमोवरिवश्चि-
त्रङः क्यच्' (३. १. १९) । 'क्यस्य विभाषा' (६. ४. ५०) इति यलो-
पविकल्पः । नमस्यितनमसितौ । 'चायृ पूजानिशामनयोः' । अपचायितम् ।
'अपचितश्च' (७. २. ३०) इति निपातनाद् अपचितम् । अपपूर्वाच्चायते-
निष्ठायामनिट्त्वं चिभावश्च निपात्यते ॥

वरिवसिते वरिवस्यितमुपासितं चापचारत च ॥ ९९ ॥

कृतपरिचये वरिवसितचतुष्कम् । नमस्यितद्वयवद् वरिवस्यितद्वयम् ।
'आस उपवेशने' । उपासितम् ॥

सन्तापितसन्नसौ धूपितधूपायितौ च दूनश्च ।

सन्तापितपञ्चकमध्वादिश्रान्ते । 'गुपूधूरविच्छि—' (३. १. २८) इत्यादिना 'आयादय आर्षधातुके वा' (३. १. ३१) इति आयविकल्पे धूपितधूपायितौ । 'दुदु उपतापे' । 'दुग्बोर्दीर्घश्च' (वा० ८. २. ४४) इति नत्वम् । दूनम् ॥

हृष्टो मत्तस्तृप्तः प्रहृन्नः प्रमुदितः प्रीतः ॥ १०० ॥

प्रीतियुक्ते हृष्टपट्कम् । 'हृषु अलीके' । अनेकार्थत्वाद् हृष्टः । 'न ध्याख्या —' (८. २. ५७) इत्यादिना नत्वनिषेधे मत्तः । 'हृदो निष्ठा-याम्' (६. ४. ९५) इत्युपधाह्रस्वत्वे प्रहृन्नः ॥

छिन्नं छातं लूनं कृत्तं दातं दितं छिनं वृक्कणम् ।

छिन्नाष्टकं छिन्ने । 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७. ४. ४१) इतीत्व-विकल्पे छातं छितं च । 'दाप् लवने' । दातम् । 'दो अवखण्डने' । 'द्यति-स्यतिमास्थामि' ति किति' (७. ४. ४०) इतीत्वम् । दितम् । 'ओन्नश्चू छेदने' । क्तः । वृक्कणम् ॥

स्रस्तं ध्वस्तं भ्रष्टं स्कन्नं पन्नं च्युतं गलितम् ॥ १०१ ॥

स्रस्तसप्तकं च्युते । 'सन्सु अन्सु ध्वन्सु अवस्रंसने' । क्तः । स्रस्तत्र-यम् । 'गड सेचने' । गलितम् ॥

लब्धं प्राप्तं विन्नं भावितमासादितं च भूतं च ।

लब्धषट्कं लब्धे । विदिर्लाभे । विन्नम् । 'भू प्राप्तावात्मनेपदी' । 'आ धृषाद् वा' इति पक्षे चुरादिणिच् । भावितम् । भूतम् । 'पहु विशर-णादौ' । आङः षदेः पद्यर्थे णिच् । आसादितम् ॥

अन्वेषितं गवेषितमन्विष्टं मार्गितं नृगितम् ॥ १०२ ॥

अन्वेषितपञ्चकमन्वेषिते । 'एप् हेप् गतौ', 'गवेष मार्गणे', 'इप् इच्छायां', 'मार्ग अन्वेषणे', 'मृग अन्वेषणे' । क्तः ॥

आर्द्रं सार्द्रं क्लिन्नं तिमितं स्तिमितं समुन्नमुत्तं च ।

आर्द्रसप्तकं स्तिमिते । आर्द्रत्वेऽप्यार्द्रम् । तेन सह वर्तमानं सार्द्रम् ।
'क्लिद्रू आर्द्रभावे' । क्लिन्नम् । 'तिम ष्टिम आर्द्रभावे' । तिमितस्तिमिते । 'उन्दी
क्लेदने' । नुन्नवद् विकल्पेन नत्वे समुन्नम्, उत्तं च ॥

त्राणं त्रातं रक्षितमवितं गोपायितं गुप्तम् ॥ १०३ ॥

त्राणषट्कं रक्षिते । नुत्तनुन्नवत् त्रातत्राणे । 'अव रक्षणे' । अवितम् ।
धूपायितवद् गोपायितम् ॥

अवगणितमवमतावज्ञाते अवमानितं च परिभूते ।

अवगणितपञ्चकं परिभूते । अवपूर्वो गणिरवज्ञायाम् । 'मान पूजा-
याम्' । चुरादिः ॥

त्यक्तं हीनं विधुतं समुज्झितं धूतमुत्सृष्टम् ॥ १०४ ॥

त्यक्तषट्कं त्यक्ते । 'ओहाक् त्यागे' । हीनम् । 'धुञ् कम्पने' ।
ह्रस्वादिः । 'धू विधूनने' । दीर्घादिः, तुदादिः ॥

उक्तं भाषितमुदितं जल्पितमाख्यातमभिहितं लपि-
[तम् ।

उक्तषट्कमभिहिते । वदेः उदितम् ॥

बुद्धं बुधितं मनितं विदितं प्रतिपन्नमवसितावगतम् ॥

बुद्धसप्तकं बुद्धे । 'बुध अवगमने' । बुद्धम् । 'बुध बोधने' ।
बुधितम् । मनःशब्दात् 'तत् करोति—' इति णिचि टिलोपः । मनितम् ।
'विद ज्ञाने' । विदितम् । 'षो अन्तर्कर्माणि' । अवसितम् ॥

ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम् ।

सङ्गीर्णविदितसंश्रुतसमाहितोपश्रुतोपगतम् ॥ १०६ ॥

ऊरीकृतैकादशकमङ्गीकृते । ऊरीकृतं दीर्घादि । अन्यथार्याभङ्गः ।

“क्रीडयापि न वैद्येन वितथा वासुकीकृता ।

हन्तुं चारिमृगान् बाणसन्ततिर्वागुरीकृता ॥”

इति कीचकवधे यमकाद् ह्रस्वादि च । शृणोतेः, आश्रुनसंश्रुतोपश्रुताः । ‘गृ
शब्दे’ । दीषादिः । गीर्णम् ॥

ईडितशस्तपणायितपनायिताः प्रणुतपणितपनितानि ।

अभिगीर्णवर्णिताभिष्टुतोडितानि स्तुतार्थानि ॥ १०७ ॥

ईडितद्वादशकं स्तुते । ‘ईड स्तुतौ’ । ईडितम् । इडितं च । ‘पन
स्तुतौ’ । ‘पण व्यवहारे’ । धूपायितधूपितवत् पणायितपनायितपणितपनि-
तानि । नौतेः प्रणुतम् ॥

भक्षितचर्वितालिप्तप्रत्यवसितगिलितखादितप्सातम् ।

अभ्यवहृतान्नजग्धग्रस्तग्लस्ताशितं भुक्ते ॥ १०८ ॥

भक्षितचतुर्दशकं भक्षिते । प्रत्यवपूर्वः स्यतिरभ्यवहारे । ‘गिल
अदने’ । गिलितम् । ‘प्सा भक्षणे’ । प्सातम् । ‘अन्नाणः’ (४. ४. ८५)
इति निपातनाद् जग्धदेशाभावपक्षे अन्नम् । ‘अदो जग्धिल्यप् ति किति’
(२. ४. ३९) इति जग्धदेशः । जग्धम् । ‘ग्रसु ग्लसु अदने’ । ग्रस्तं
ग्लस्तं च ॥

क्षेपिष्ठक्षोदिष्ठप्रेष्ठवरिष्ठस्थविष्ठबंहिष्ठाः ।

क्षिप्रक्षुद्राभीप्सितपृथुपीवरबहुप्रकर्षार्थाः ॥ १०९ ॥

क्षेपिष्ठादयः षड् यथाक्रमं क्षिप्रादीनामतिशये । प्रकर्षोऽतिशयः ।
तद् यथा — अतिशयितः क्षिप्रः क्षेपिष्ठः । अतिशयितं क्षुद्रं क्षोदिष्ठ-
मित्यादि ॥

साधिष्ठद्राधिष्ठस्फेष्ठगरिष्ठहसिष्ठवृन्दिष्ठाः ।

बाढव्यायतबहुगुरुवामनवृन्दारकातिशये ॥ ११० ॥

साधिष्ठादयः षड् यथाक्रमं बाढादीनामतिशये । अतिशयेन
चातिशयी लक्ष्यते । तद् यथा — अतिशयेन बाढं दृढं साधिष्ठम् ।

अतिशयेन दीर्घं द्राघिष्ठमित्यादि । इष्टानि, 'स्थूलदूरयुवहस्वक्षुद्रक्षिप्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (६. ४. १५६) । (प्रेष्ठादिः) 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहु-
लगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फर्वहर्गिगर्विर्त्रव्द्राघिवृन्दाः' (६. ४. १५७)
इति प्रेष्ठादि । 'अन्तिकवाढयोर्नैदसाधौ' (५. ३. ६३) इति साधादेशे
साघिष्ठः ॥

इति वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे

विशेष्यनिघ्नवर्गः ॥

अथ सङ्कीर्णवर्गः ।

प्रकृतिप्रत्ययार्थाद्यैः सङ्कीर्णं लिङ्गमुन्नयेत् ।

सङ्कीर्ण इति । लिङ्गसङ्कीर्णं भिन्नजातीयेन संसृष्टे रूपभेदादिना
निश्चेतुमशक्ये इह चान्यत्र च प्रकृतिप्रत्ययार्थैर्लिङ्गमुन्नयेत्, लिङ्गविशे-
षमवधारयेदित्यर्थः । प्रकृत्यर्थवशेन यथा — अपरस्पराः सार्था गच्छन्ती-
त्यादेर्वाच्यलिङ्गता । प्रत्ययार्थवशेन यथा — शान्तिः दान्तिः । क्तिन्नन्तत्वात् स्त्री-
त्वम् । प्रायेणात्र प्रकृतिप्रत्ययार्थाद्यैर्लिङ्गं समुच्चीयत इत्यत्रैव चेदमुक्तम् । यद्यप्यत्र
रूपभेदादिनैव लिङ्गनिर्णयः, (?) तथाप्यभ्युच्चयार्थमुक्तम् । अपरस्परा इत्यादौ
न रूपभेदादिना विवक्षितलिङ्गप्रतीतिः । तथाहि, अत्र पुलिङ्गमात्रप्रतीतिः ।
प्रकृत्यर्थेन लिङ्गमुन्नयेदिति वचनादपरस्पराणि ब्राह्मणकुलानि वहन्तीति
नपुंसकत्वमपि । एवं स्यूत्यादीनामपि न रूपभेदालिङ्गावगतिः, अपितु
स्त्रीप्रत्ययार्थेनैव । अत्र च सङ्कीर्ण इत्युपलक्षणम् । तेन पूर्ववर्गेऽपि क्वचित्
प्रकृतिप्रत्ययार्थाद्यैर्लिङ्गमुन्नयेत्, यत्र रूपभेदादिना लिङ्गनिश्चयाभावः ।
तद् यथा — 'मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यादौ मुत्प्रीत्यादीनां स्त्रीत्वा-
दिकम् । यच्चोक्तं लिङ्गादिसङ्ग्रहे 'स्त्रीभावादावनिक्तिन्' इत्याद्युक्तं, तत्
एव स्यूत्यादीनां स्त्रीत्वादिकमवगम्यते । तत् किमत्र प्रत्ययार्थेन लिङ्गमुन्न-
येदित्युच्यते । तन्न । यतस्तदेवानेन स्मर्यते । आद्यशब्देन व्यक्तलिङ्गे
सामानाधिकरण्यं लिङ्गशास्त्रं परस्परसाहचर्यादि च गृह्यते । तेन 'शुचिस्त्वय

माषाढे' 'तस्य वृन्दमि'त्यौपगवादिषु शुच्यौपगवादौनां पुंस्त्वङ्गीवत्वमवधार्यते ।
अथ कथमयं सङ्कीर्णवर्ग इत्युच्यते । सङ्कीर्णैः सङ्कीर्णार्थैः शब्दैरारब्धत्वात् ।
कथमेत एव सङ्कीर्णार्थाः । भिन्नार्थत्वात् । भिन्नजात्यर्थसंसर्ग एव हि सङ्करः ।
पूर्वं च सत्क्रियाज्ञानां (?) वर्णानां भूम्यादेश्च वस्तुनः प्रकरणवद्भाः समानार्थाः
शब्दाः क्रमेणोक्ताः । एते च नैकप्रकरणवद्भाः । तथाच क्रियत इति कर्म ।
मनिनन्तः कर्मशब्दः । कृतिः क्रियेति 'कृजः श च' (३. ३. १००) इति
भावप्रत्ययान्तः क्रियाशब्दः । 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये' (६. १. १४४) इति
क्रियासातत्ये गम्यमाने सततगमनादिक्रियासाधने सार्थाद्वावपरस्परशब्दो वर्तते
अपरे च परे च अपरस्पराः सार्था गच्छन्तीति । यद्येवं क्रमाभावादिह लिङ्ग-
सङ्करो न युक्तः । यदुक्तं — 'न सङ्करः, कृतोऽत्र भिन्नलिङ्गानाम्' इति,
उच्यते । यद्यपि वस्त्वर्थानां क्रमेणाभिधानमिह नास्ति, तथापि भावाभावा-
भिधायिनोऽत्र निबद्धा इत्यस्त्येव शब्दानां क्रमाभिधानमिति ॥

कर्म क्रिया

कर्मद्वयं क्रियायाम् ।

“कर्म व्याप्ये क्रियायां च पुनपुंसकयोर्मतम्”

इति रुद्रः ।

“क्षपयत्यशुभं कर्म कर्मणां चिनुते शुभम्”

इति च । क्रिया प्राक् साधिता ॥

तत्सातत्ये गम्ये स्युरपरस्पराः ॥ १ ॥

तच्छब्देन क्रिया परामृश्यते । अविच्छेदेन क्रियासमापकेषु सार्थादिषु
अपरस्पराः ।

“निर्दिष्टं कर्मसातत्ये सुधीभिरपरस्परम्”

इति भागुरिः ।

“अपरस्परा गदिता क्रियासातत्यवाचिका”

इत्यमरमाला । एतद्वर्गादिस्थलोकव्याख्याने अपरस्परं सुव्यक्तम् । अत्र सकृदर्थे
न सुट् । अपरपरा अपरपरे इत्येव रूपम् ॥

साकल्यासङ्गवचने पारायणपरायणे ।

यथाक्रमं साकल्यवचनं पारायणम् , आसङ्गवचनं परायणम् । पारं पर्यन्तमयते गच्छत्यत्रेति पारायणम् । यथा धातुपारायणम् ।

“रत्नपारायणं नाम लङ्केयं मम मैथिलि !”

(स० ५. श्लो० ८९)

इति भट्टिप्रयोगादाविष्टलिङ्गम् । अत्र सकलरत्नार्थो गम्यत इति साकल्यवचनत्वम् । परम् अयनम् आसक्तिस्थानं परायणम् । यथा धर्मपरायणो धर्मासक्त इत्यर्थः । ‘अथ मोहपरायणा’ (कुमा० स० ४. श्लो० १) इति कालिदासः ॥

यदृच्छा स्वैरिता

यदृच्छाद्वयं स्वाच्छन्द्ये ॥

हेतुशून्या त्वास्या विलक्षणम् ॥ २ ॥

हेतुना कारणेन शून्या निष्प्रयोजना आस्या स्थितिः विलक्षणम् ॥

शमथस्तु शमः शान्तिः

कामक्रोधादिप्रध्वंसे शमथत्रयम् । बाहुलकोऽथः । शमथः । शत्रयं तालव्यम् ॥

दान्तिस्तु दमथो दमः ।

ब्रह्मचर्यादिक्लेशसाहिष्णुतायां दान्तित्रयम् ॥

अवदानं कर्म वृत्तं

वृत्तं विशुद्धं कर्म, तदवदानम् । ‘दैप् शोधने’ । ल्युट् ॥

काम्यदानं प्रचारणम् ॥ ३ ॥

तन्त्रेण काम्यशब्दो द्विरावर्त्यते । तेन काम्यस्य वस्तुनः कामनापूर्वकं दानं प्रचारणम् । महादानं च तदुच्यते । ‘प्रचारणं महादानम्’ इति त्रिकाण्डम् ॥

वशक्रिया संवदनं

मणिमन्त्रादिभिर्वशीकरणे वशक्रियाद्वयम् । भावल्युटि संवदनम् ।

करणल्युटि वशक्रियासाधनेऽपि मन्त्रादौ । तथाच — 'जयश्रियः संवदनं यतस्तत्' (स० १६. श्लो० ७४) इति रयुः ॥

मूलकर्म तु कार्मणम् ।

कामणेति ख्याते मूलकर्मद्वयम् । मूलकर्म नान्तम् । 'तद्युक्तात् कर्मणोऽण्' (५. ४. ३६) इति स्वार्थेऽण् । 'अन्' (६. ४. १६७) इति प्रकृतिभावः । कार्मणम् ॥

विधूननं विधुचनं

विधूननद्वयं कम्पने । 'धूज्प्रीजोर्नुग् वक्तव्यः' (वा० ७. ३. ३७) इति नुक् । विधूननम् । कुटादित्वाद् गुणाभावः । एवं स्फुटनस्फुरणगुरणेषु ॥

तर्पणं प्रीणनावने ॥ ४ ॥

तर्पणत्रयं प्रीणने । विधूननवन्नुक् । प्रीणनम् । 'अव रक्षणगति-प्रीत्यादौ' । अनेकार्थत्वाल्ल्युट् । अवनम् ॥

पर्याप्तिः स्यात् परित्राणं हस्तधारणमित्यपि ।

मरणोद्यतस्य निषेधे पर्याप्तित्रयम् । यथा — 'पर्याप्तो नु सुहृदं महाभागः' इति ॥

सेवनं सीवनं स्यूतिः

सेवनत्रयं सीवनक्रियायाम् । 'अन्येषामपि —' (६. ३. १३७) इति दीर्घत्वे सीवनम् ॥

विदरः स्फुटनं भिदा ॥ ५ ॥

वस्त्रादेः स्फुटने विदरत्रयम् । दरवद् विदरः । स्फुटनं कुटादि । भिदाद्यङि भिदा ॥

आक्रोशनमभीषङ्गः

आक्रोशनद्वयं शापे । 'सञ्ज सङ्गे' । घञि षत्वे अभीषङ्गः ॥

संवेदो वेदना न ना ।

संवेदद्वयमनुभवे । 'घट्टि*वादिविदिभ्य उपसङ्ख्यानम्' (वा० ३. ३. १०७) इति युचि वेदना । न ना न पुमानित्यर्थः ॥

संमूर्छनमभिव्याप्तिः

सर्वतो व्यापने संमूर्छनद्वयम् । 'मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः' ॥

याच्ञा भिक्षार्थनार्दना ॥ ६ ॥

याच्ञाचतुष्कं याचनायाम् । 'अर्दं गतौ याचने च' । 'हेतुमति च' (३. १. २६) इति चकारात् स्वार्थणिचि अर्दना ॥

वर्धनं छेदने

वर्धनद्वयं छेदने । 'वर्धच्छेदनपूरणयोः' । चुरादिः । वर्धनम् ॥

अथ द्वे आनन्दनसभाजने ।

आप्रच्छनम्

आनन्दनत्रयं संवर्गणे । संवर्गणं च बान्धवादेरालिङ्गनचुम्बनस्वागत-
भाषणादि । आमन्त्रणमिति क्वचित् पाठः । 'सभाज प्रीतिसेवनयोः' । चुरा-
दिणिच् । सभाजनम् ॥

अथान्नायः संप्रदायः

शिष्यपरम्परागते सदुपदेशे आन्नायद्वयम् । 'न्ना अभ्यासे' ।
घञ् ॥

क्षये क्षिया ॥ ७ ॥

क्षयद्वयमपचये । क्षय उक्तः । षित्त्वादङि क्षिया ॥

* 'वन्दिबि' इति मुद्रितवार्तिकपाठः ।

ग्रहे ग्राहः

ग्रहद्वयं ग्रहणे निबन्धे च । बाहुलकाद् घञ् । ग्राहः । तथाच
'कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्' इति ॥

वशः कान्तौ

वशद्वयमिच्छायाम् । 'वश कान्तौ' । 'वशिरण्योरुपसङ्गचानम्' (वा०
३. ३. ९८) इत्यप् । वशः ॥

रक्षणस्त्राणे

रक्षणद्वयं रक्षणे । 'यजयाच —' (३. ३. ९०) इत्यादिना नङ् ।
रक्षणः ॥

रणः कृणे ।

कृणने शब्दकरणे रणद्वयम् । वशवदप् । रणः ॥

व्यधो वेधे

व्यधद्वयं वेधने । जपवद् व्यधः । 'विध विधाने' । घञ् । वेधः ॥

पचा पाके

पचाद्वयं पचने । पित्त्वादङ् । पचा । घञि पाकः ॥

हवो हृतौ

हवद्वयं हवने ॥

वरो वृतौ ॥ ८ ॥

वरद्वयं वरणे । वेष्टने प्रार्थनाविशेषे चेत्यन्यः ॥

ओषः प्लोषे

ओषद्वयं दाहे । घञ् ॥

नयो नाये

नयद्वयं नीतौ । बाहुलकाद् 'एङ्' (३. ३. ९६) । नयः । 'श्रिणी-
मुवोरनुपसर्गे' (३. ३. २४) इति घञि नायः ॥

ज्यानिर्जीर्णौ

ज्यानिर्द्वयं जीर्णतायाम् । 'ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः' (वा० ३. ३. ९५) । ज्यानिः । 'जून् वयोहानौ' । क्तिन् । § 'ऋकारल्वादिभ्यः क्तिन् निष्ठावद् भवतीति वक्तव्यम्' (वा० ८. २. ४४) इति निष्ठातिदेशाद् नत्वम् । जीर्णिः ॥

अमिर्भ्रमे ।

अमिर्द्वयं भ्रमणे । * 'इक् कृष्यादिभ्यः' (वा० ३. ३. १०८) इतीक् । अमिः । तत्र अमी गौरादिरपि ॥

स्फातिर्वृद्धौ

स्फातिर्द्वयं वृद्धौ । 'स्फायी ओष्यायी वृद्धौ' । क्तिन् । स्फातिः ॥

प्रथा ख्यातौ

प्रथाद्वयं ख्यातौ । 'घटादयः पितः' । पित्त्वादङ् । प्रथा ॥

स्पृष्टिः पृक्तौ

स्पृष्टिर्द्वयं स्पर्शे । 'पृची संपर्के' । क्तिन् । पृक्तिः ॥

स्रवः स्रवे ॥ ९ ॥

स्रवर्द्वयं स्रवणे । 'ऋदोरप्' (३. ३. ५७) । स्रवः । 'स्र गतौ' । स्रवः । बाहुलकघञि स्रावोऽपि ॥

विधा समृद्धौ

विधाद्वयं समृद्धौ । विधानं विधा । 'आतश्चोपसर्गे' (३. ३. १०६) इत्यङ् ॥

स्फुरणं स्फरणे

स्फुरणद्वयं किञ्चिच्चलने । 'स्फुर स्फुरणे' । कुटादिः । उदुपधान्तः । ल्युट् । स्फुरणम् । अदुपधान्तः स्फर इत्येके । ल्युट् । स्फरणम् ॥

§ 'ऋल्वा', * 'इत् कृ' इति मुद्रितवार्तिकपाठः ।

प्रमितौ प्रमा ।

तत्त्वानुभूतौ प्रमितिद्वयम् । बाहुलकात् क्तिन् । प्रमितिः । अङ्गि
प्रमा ॥

प्रसूतिः प्रसवे

प्रसूतिद्वयं प्रसवे ॥

श्च्योते प्राधारः

श्च्योतद्वयं घृतादिक्षरणे । 'श्च्युतिर् क्षरणे' । श्च्योतः । 'गृ घृ
सेचने' । घञि 'उपसर्गस्य घञ्यमनुप्ये बहुलम्' (६. ३. १२२) इति
दीर्घत्वे प्राधारः ॥

क्लमथः क्लमे ॥ १० ॥

क्लमथद्वयं प्रयासे ॥

उत्कर्षोऽतिशये

उत्कर्षद्वयमतिशये । कृषेर्षञ् । उत्कर्षः । शीङोऽतिशयः ॥

सन्धिः श्लेषे

सन्धिद्वयं सन्धाने ॥

विशय आशये ।

यथा आमाशयो जलाशयः । शेतरेच् । विशयः आशयः । आश्रय
इति पाठे श्रिञो रूपम् ॥

क्षिपायां क्षेपणं

क्षिपाद्वयं प्रेरणे । 'क्षिप प्रेरणे' । भिदादिः ॥

गीर्णिगीरौ

गीर्णिद्वयं मिलने । जीर्णिवद् गीर्णिः । गिरिः कृप्यादिः ॥

गुरणमुद्यमे ॥ ११ ॥

गुरणद्वयमुद्यमने । †'गुरं उद्यमने' । कुटादिः । ल्युटि गुरणम् । दीर्घोपधपाठे 'गूर उद्यमने' इत्यत्र चुरादौ व्युत्पाद्यः । यमेर्घञि उद्यमः । 'अड उद्यमे' इति निपातनाद् वृद्धयभावः ॥

उन्नाय उन्नये

उन्नायद्वयमुन्नायने । 'अवोदोर्नियः' (३. ३. २६) इति घञि उन्नायः । बाहुलकाद् 'एरच्' (३. ३. ५६) । उन्नयः ॥

श्रायः श्रयणे

श्रायद्वयमाश्रयणे । 'श्रिणी—' (३. ३. २४) इत्यादिना घञि श्रायः ॥

जयने जयः ।

जयनद्वयं जये । 'जि जिये' । ल्युडचौ ॥

निगादो निगदे

निगादद्वयं शब्दने । 'नौ गदनद —' (३. ३. ६४) इत्यादिना पक्षेऽच् ॥

मादो मदं

मादद्वयं दर्पे । उत्तरपदाधिकारे 'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (६. ३. ९६) इति निपातनाद् घञि मादः । 'मदोऽनुपसर्गे' (३. ३. ६७) इत्यप् । मदः ॥

उद्वेग उद्वभ्रमे ॥ १२ ॥

उद्वेगद्वयं चमत्कारे ॥

१. 'ह' ज, 'ह' क. ख. पाठः. २. 'दौ ल्युङ् व्यु' ड. पाठः.

† 'गुरी' इति मुद्रितधातुपाठः ।

विमर्दनं परिमले

विमर्दनद्वयं कुङ्कुमादिमर्दने । परिमलः । 'मलं मलं धारणे' । घञ् ।
संज्ञापूर्वकत्वाद् न वृद्धिः ॥

अभ्युपपत्तिरनुग्रहः ।

अभ्युपपत्तिद्वयं दानाद्यनुग्रहे ॥

निग्रहस्तु निरोधः स्याद्

अननुग्रहे निग्रहः ॥

अभियोगस्त्वभिग्रहः ॥ १३ ॥

अभियोगद्वयमुद्योगे । येनाभियुक्तश्चात्र इत्युच्यते । आभिमुख्येन
युद्धादिनिमित्तं प्रवृत्तिरित्यपरे ॥

मुष्टिबन्धस्तु सङ्ग्राहः

मुष्टिबन्धद्वयं मुष्टेर्बन्धने । दृढत्वे 'समि मुष्टौ' (३. ३. ३६) इति
घञ् ।

'स्वादयन्तः फलरसं मुष्टिसंग्राहपीडितम्'

(स० ७. श्लो० ४०)

इति भट्टिः । 'खटको मुष्टिः स्त्रियां च संग्राह' इति वोपाहितो मुष्टावेव
पठति ॥

डिम्बे डस्वरश्चिह्नौ ।

परचक्रादिजे महाभये चाठक इति ख्याते डिम्बत्रयम् । डिम्बं
मूर्धन्यादि पवर्गवृत्तीयवच्च ॥

बन्धनं प्रसितिश्चारः

येन निगडादिना बध्यते, तत्र बन्धनत्रयम् । 'समे तूद्धानबन्धने'
इत्यनेन बन्धनक्रियायां प्रागुक्तः । 'षिञ् बन्धने' । क्तिन् । प्रसितिः । चार
उक्तः । 'बन्धापसव्ययोश्चार' इति रुद्रः ॥

स्पर्शः स्पष्टोपतसरि ॥ १४ ॥

स्पर्शत्रयं रोगे । तथाच रुद्रः — ‘रुजायां स्पर्शो दानस्पर्शयो-
रपि’ इति । ‘स्पृश उपताप इति वक्तव्यम्’ (वा० ३. ३. १६) इति घञ् ।
स्पर्शः । वासरूपविधिना च तृच् । ‘अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्’ (६.
१. ५९) इति पक्षे स्पष्टा । उपतापकमात्रे स्पर्शत्रयमित्यन्यः । कश्चित् पुनरि-
दमाह — चरणानां कर्मणि चारस्पर्शौ । स्पृष्टद्वयमुपतापकारिणि ॥

निकारो विप्रकारः स्याद्

निकारद्वयमपकारे । कृओ घञ् ॥

आकारस्त्विङ्ग इङ्गितम् ।

आकारत्रयमिङ्गिते । अन्यस्तु अमियार्थसूचके चक्षुरादिचेष्टाविशेष
इङ्गितं, भ्रुकुटिमुखरागादौ आकार इति मन्यते ।

“इङ्गितं चेष्टितादन्यदाकारस्त्विङ्गवैकृतम्”

इति तन्त्रान्तरं च ।

“तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च”

(रघु० स० १. श्लो० २०)

इति कालिदासोऽपि ॥

परिणामो विकारे

परिणामद्वयं विकारे । प्रकृतेश्चान्यथात्वं विकारः । यथा मृत्पिण्ड-
विकारो घटः, काष्ठस्य भस्म ॥

द्वे समे विकृतिविक्रिये ॥ १५ ॥

विकृतिद्वयं प्रकृतेरन्यथात्वमात्रे । तच्च नावश्यं परिणामरूपमेव ।
यथा मुखस्य विकृतिः । ‘अमार्गो विक्रिया स्त्रियाम्’ इत्यमरमाला । अत
उन्मार्गे द्वयमित्यन्यः । चत्वारोऽप्येकार्थे इत्यपरः ॥

अपहारस्त्वपचयः

अपहारद्वयमपचये ॥

समाहारः समुच्चयः ।

समाहारद्वयं कूटीकरणे । यथा श्लोकसमुच्चयादिः ॥

प्रत्याहार उपादानं

विषयेभ्य इन्द्रियाहरणे प्रत्याहारद्वयम् ॥

विहारस्तु परिक्रमः ॥ १६ ॥

पञ्चधां गमने विहारद्वयम् ॥

अभिहारोऽभिग्रहणं

अन्नाहारेऽभिहारद्वयम् । चौर्यकरणे वा । अभिमुखग्रहणे वैत्यन्यः ॥

निर्हारोऽभ्यवकर्षणम् ।

शल्यादेरुत्पाटने निर्हारद्वयम् ॥

अनुकारोऽनुहारः स्याद्

अनुकारद्वयं सादृश्ये ॥

अर्थस्यापगमे व्ययः ॥ १७ ॥

अर्थस्यापगमे व्ययः । 'व्यय वित्तसमुत्सर्गे' । चुरादिणिच् । 'अतो लोपः' (६. ४. ४८) इत्यकारलोपः ॥

प्रवाहस्तु प्रवृत्तिः स्यात्

जलादीनामविच्छिन्नायां सन्ततौ प्रवाहद्वयम् । प्रवाहो घञन्तः ॥

प्रवहो गमनं बहिः ।

गृहनगरादेर्बाह्यगमनं यात्रा प्रवहो बाहुलकादपि । 'प्रवहः स्याद्
बहिर्यात्रा' इति त्रिकाण्डः ॥

वियामो वियमो यामो यमः संयामसंयमौ ॥ १८ ॥

वियामपट्कं संयामे । 'यमः समुपनिविष्टु च' (३. ३. ६३)
इति पक्षेऽपि ॥

हिंसाकर्माभिचारः स्याद्

अथर्ववेदोक्तं हिंसात्मकं कर्माभिचारः ॥

जागर्या जागरा द्वयोः ।

जागर्याद्वयं जागरे । 'जागर्तेरकारो वेति वक्तव्यम्' (वा० ३. ३.
१०१) इति शप्रत्ययाकारप्रत्ययौ । शपक्षे 'सार्वधातुके यक्' (३. १.
६७) इति यक् । 'जाग्रोऽविचिण्णलृडित्सु' (७. ३. ८५) इति गुणे जा-
गर्या । परत्वाद् 'रिङ् शयगुलिङ्क्षु' (७. ४. २८) इति रिङि जाग्रियेति धातु-
पारायणम् । अकारप्रत्ययपक्षे जागरेति ॥

विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः

विघ्नत्रयं विघ्ने । 'वज्रर्थे कविधानम्' (वा० ३. ३. ५८) इति कः ।
विघ्नः ॥

स्यादुपघ्नोऽन्तिकाश्रये ॥ १९ ॥

समीपभूत आश्रये उपघ्नः । 'उपघ्न आश्रये' (३. ३. ८५)
इत्यप्रत्ययान्तो निपातितः ॥

निर्वेश उपभोगः स्यात्

निर्वेशद्वयमुपभोगे । घञ् ॥

परिसर्पः परिक्रिया ।

परिजनादिवेष्टने परिसर्पद्वयम् । 'गन्तुं सुप्लुतं गतौ' । घञि परिसर्पः ॥

विधुरं तु प्रविश्लेषः

दुःस्थितकाद् विकृत्वत्वे विधुरद्वयम् । प्रकृत्यो विश्लेषः प्रविश्लेषः ।

“वैकल्येऽपि च विश्लेषे विधुरं विकचे त्रिषु”

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

अभिप्रायश्छन्द आशयः ॥ २० ॥

अभिप्रायत्रयमभिप्राये । छन्दोऽदन्तः । ‘अभिप्रायवशौ छन्दौ’ इत्यनेकार्थे वक्ष्यति । सान्तोऽप्यभिप्रायवाची छन्दश्शब्द इति जयादित्यः ॥

संक्षेपणं समसनं

विस्तीर्णस्य संक्षेपे संक्षेपणद्वयम् ॥

पर्यवस्था विरोधनम् ।

पर्यवस्थाद्वयं विरोधने । अङि पर्यवस्था ॥

परिसर्या परीसारः

भूमौ सर्वतो भ्रमणे परिसर्याद्वयम् । परिचर्यावत् परिसर्या । ‘उप-सर्गस्य —’ (६. ३. १२२) इत्यादिना दीर्घत्वे परीसारः ॥

स्यादास्या त्वासना स्थितिः ॥ २१ ॥

आस्यात्रयमुपवेशने । ‘आस उपवेशने’ । भावे ण्यत् । आस्या । ‘ण्यासश्रन्थो युच्’ (३. ३. १०७) । आसना । ‘स्थानापापचो भावे’ (३. ३. ९९) इति क्तिन् । स्थितिः ॥

विस्तारो विग्रहो व्यासः

विस्तारत्रयं श्रटादीनां विस्तीर्णतायाम् । ‘प्रथने वावशब्दे’ (३. १. ३३) इति घञ् । विस्तारः । ‘असु क्षेपणे’ । घञ् । व्यासः ॥

स तु शब्दस्य विस्तरः ।

स च व्यासो न शब्दसम्बन्धी विस्तरः । शब्दविषये तु अशब्द इति निषेधादेव भवति । यथा वाचां विस्तरः ॥

स्यान्मर्दनं संवाहनं

मर्दनद्वयं मर्दने । 'वाह प्रयत्ने' । भावे ल्युट् । संवाहनम् । संवाहनमित्यपपाठः । वहेर्मर्दने वृत्त्यभावात् ॥

विनाशः स्याददर्शनम् ॥ २२ ॥

विनाशद्वयं लु(क्ता?प्ता)यने । तथाहि नश्यतिरदर्शने वर्तते । प्रयुक्तं च भट्टिना — 'ननाश शत्रुर्दृष्टे सुबेलः' इति । तिरोबभूवेत्यर्थः ॥

संस्तवः स्यात् परिचयः

संस्तवद्वयं परिचये ॥

प्रसरस्तु विसर्पणम् ।

स्वल्पविटपादेर्वर्धने प्रसरद्वयम् ॥

नीवाकस्तु प्रयामः स्यात्

महार्घाद् धान्यादिषु जलादीनामतिशये नीवाकद्वयम् । 'वच परिभाषणे' । घञि दीर्घत्वे नीवाकः ॥

संनिधिः संनिकर्षणम् ॥ २३ ॥

संनिधिद्वयं संनिधौ । संनिधिर्ना ॥

लवोऽभिलावो लवने

लवत्रयं धान्यादीनां छेदने । 'ऋदोरप्' (३. ३. ५७) । लवः । 'निरभ्योः पूत्वोः' (३. ३. २८) इति घञि अभिलावः ॥

निष्पावः पवने पवः ।

धान्यादीनां पूर्तीकरणे बहुलीकरणादौ निष्पावत्रयम् । घञ्-
ल्युडपः ॥

प्रस्तावः स्यादवसरः

प्रस्तावद्वयमवसरे । 'प्रे हुस्तुहुवः' (३. ३. २७) इति घञ् । प्रस्तावः ॥

नसरः सृत्रवेष्टनम् ॥ २४ ॥

तन्तुवायानां तसलीति ख्याते तत्तरद्वयम् । 'तन्मृषिभ्यां कसरन्'
(उ० ३. ७९) । एवं तसरोऽसंयोगादिरुणादावुक्तः । 'त्रसी उद्वेगे' ।
बाहुलकोऽः । तसर इत्यन्यः ॥

प्रजनः स्यादुपसरः

स्त्रीगवीषु पुंगवानां प्रथमगमने प्रजनद्वयम् । भावे घञि 'जनि-
वध्योश्च' (७. ३. ३९) इति वृद्धिप्रतिषेधः । प्रजनः पुमान् । क्लीवं त्व-
पपाठः । 'प्रजने सतेः' (३. ३. ७१) इत्यप् । उपसरः ॥

प्रसरः प्रणयः समौ ।

प्रसरद्वयं प्रश्रये ॥

धीशक्तिर्निष्क्रमः

“शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।

ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥”

धीगुण एव धीशक्तिः, तत्र निष्क्रमः ॥

अस्त्री तु संक्रमौ दुर्गसंचरः ॥ २५ ॥

संक्राम इति ख्याते संक्रमद्वयम् ॥

प्रत्युत्क्रमः प्रयोगार्थः

१. 'क्ति' ज. पाठः. २. 'री' ज. पाठः. ३. 'निषेधे प्रज' ड. पाठः.

प्रकृष्टप्रयोगो युद्धं, तदर्थं यत् प्रत्युपक्रमणं तत् प्रत्युत्क्रमः । 'प्रत्यु-
त्क्रमः प्रयुद्धार्थम्' इति भागुरिः ॥

प्रक्रमः स्यादुपक्रमः ।

प्रथमारम्भे प्रक्रमद्वयम् ॥

स्यादभ्यादानमुद्धात आरम्भे

आरम्भमात्रेऽभ्यादानत्रयम् । पञ्चैवारम्भमात्रे इत्यन्यः ॥

संभ्रमस्त्वरा ॥ २६ ॥

संभ्रमद्वयं संभ्रमे । घटादेः पित्त्वादङ् । त्वरा ॥

प्रतिबन्धः प्रतिष्ठम्भः

कार्यप्रतीघाते प्रतिबन्धद्वयम् । 'स्तम्भेः' (८. ३. ६७) इति षत्वे
प्रतिष्ठम्भः ॥

अवनायस्तु नियातनम् ।

अधोनयेऽवनायद्वयम् । 'अवोदोर्नियः' (३. ३. २६) इति घञ् ।
अवनायः ॥

उपलम्भस्त्वनुभवः

उपलम्भद्वयमनुभवे । उपलम्भादौ 'उपसर्गात् खल्वञोः' (७. १.
६७) इति नुम् ॥

समालम्भो विलेपनम् ॥ २७ ॥

कुङ्कुमादिना गात्रघर्षणे समालम्भद्वयम् ॥

विप्रलम्भो विप्रयोगः

स्त्रीपुंसयोर्विरहे विप्रलम्भद्वयम् ॥

विलम्भस्त्वतिसर्जनम् ।

विलब्धौ विलम्भद्वयम् ॥

विश्वावस्तु प्रविख्यातिः

अतिशयितायां प्रसिद्धौ विश्वावद्वयम् । 'वौ क्षुश्रुवः' (३. ३. २५)
इति घञ् । विश्वावः ॥

अवेक्षा प्रतिजगारः ॥ २८ ॥

अवेक्षाद्वयं प्रत्यवेक्षणे ॥

निपाठनिपठौ पाठे

निपाठत्रयं पठने ॥

तेमस्तेभौ ससुन्दने ।

तेमत्रयमाद्रीभवने । 'तिम छिम आद्रीभावे' । घञ् । 'उन्दी क्कदने' ।

ल्युट् ॥

आदीनवास्रवौ क्लेशे

आदीनवत्रयं रोगादिक्लेशे । अत्यन्तदीना दरिद्राः सन्त्यत्रेति आदी-
नवः । वप्रकरणे 'अन्येभ्योऽपि—' (वा० १. २. १०९) इति मत्वर्थीयो वः ॥

मेलके सङ्गसंगमौ ॥ २९ ॥

मेलकत्रयं सङ्गमे । 'मिल सङ्गे' । घञ् । स्वार्थे कः । मेलकः ॥

संवीक्षणं विचयनं मार्गणं मृगणा मृगः ।

अपहृतवस्तुनस्तात्पर्यान्वेषणे संवीक्षणपञ्चकम् । 'मार्गं अन्वेषणे' ।
मार्गणम् । 'मृग अन्वेषणे' । चुरादिरदन्तः । युचि मृगणा । ण्यन्ताद् घञि
णिलोपः । मृगः ॥

परिरम्भः परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम् ॥ ३० ॥

परिरम्भचतुष्टयमालिङ्गने । 'रभेरशब्लितोः' (७. १. ६३) इति नुम् ।
परिरम्भः । 'उपसर्गात् सुनोति—' (८. ३. ६५) इत्यादिना षत्वे परिष्वङ्गः ।
'गुहू संवरणे' । लघूपधगुणः । तस्य च 'ऊदुपधाया गोहः' (६. ४. ८९)
इत्युत्त्वम् । उपगूहनम् ॥

निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम् ।

निर्वर्णनपञ्चकं दर्शने ॥

प्रत्याख्यानं निरसनं प्रत्यादेशो निराकृतिः ॥ ३१ ॥

प्रत्याख्यानचतुष्कं निराकरणे । 'असु क्षेपणे' । निरसनम् ॥

उपशायो विशायश्च पर्यायशयनार्थकौ ।

उपशायद्वयं क्रमात् प्रहरिकादीनां शयने । 'व्युपयोः शैतेः पर्याये'
(३. ३. ३९) इति घञ् ॥

अर्तनं च ऋतीया च हृणीया च घृणार्थके ॥ ३२ ॥

घृणा जुगुप्सा तदर्थे अर्तनत्रयम् । ऋतिः सौत्रः । ल्युट् । अर्तनम् ।
'ऋतेरीयङ्' (३. १. २९) इतीयङि ऋतीया । 'हृणीङ् लज्जायाम्' । क-
ण्डादिः । ततो यगन्तादप्रत्यये हृणीया । ऊष्मादिः ॥

स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये ।

अन्यस्यान्यस्य रूपेण ग्रहे विपर्यासचतुष्कम् । अस्यतेर्घञ् । विप-
र्यासः । 'इण् गतौ' । 'एरच्' (३. ३. ५६) । विपर्ययः ॥

पर्ययोऽतिक्रमस्तस्मिन्नतिपात उपात्ययः ॥ ३३ ॥

पर्ययचतुष्कं व्यतिक्रमे । पूर्वमानुपूर्(र्व ? र्वा)प्रक्रमेणानुक्रमादय उक्ताः,
इह तु व्यत्ययप्रक्रमेण पर्ययः । 'परावनुपात्यय—' (३. ३. ३८) इत्यनुक्रमे
घञ् । इह तु 'एरच्' (३. ३. ५६) । पर्ययः ॥

प्रेषणं यत् समाहूय तत्र स्यात् प्रतिशासनम् ।

(भर्तारान्विता ? भृत्यादीनां) यत् प्रेषणं, तत् प्रतिशासनम् ॥

संस्तावस्तु क्रतुषु या स्तुतिभूमिर्द्विजन्मनाम् ॥ ३४ ॥

यज्ञे स्तुतिं कुर्वतां ब्राह्मणानामवस्थानभूमौ संस्तावः । 'यज्ञे समि
स्तुवः' (३. ३. ३१) इति घञ् ॥

निधाय तक्ष्यते यत्र कृत्स्नं स उद्धनः ।

काष्ठतक्षणार्थमधःस्थापितकाष्ठे उद्धनः । 'उद्धनोऽत्याधानम्' (३.
३. ८०) इति निपातितः । हन्तेरप्, हकारस्य च घकारः ॥

स्तम्बघ्नस्तु स्तम्बघनः स्तम्बो येन निह्न्यते ॥ ३५ ॥

१. 'पूर्वक' छ. पाठः. २. 'क्ता' ट., 'कारं पिंत्वा य' ज., 'कारं बिंत्वा य'
घ. पाठः.

तृणादिगुच्छोन्मूलनकारिणि खनित्रादौ स्तम्बद्वयम् । 'स्तम्बे क च' (३. ३. ८३) इति कापौ प्रत्ययौ घत्वं च ॥

आविधो विध्यते येन तत्र

येन भ्रमरादिना विध्यते, तत्र आविधः । 'घञर्थे कविधानम्' (वा० ३. ३. ९८) इति कः ॥

विष्वक्समे निघः ।

विष्वक्समे समन्तात् समारोहपरिणाहे वृक्षादौ निघः । 'निघो निमित्तम्' (३. ३. ८७) इति निपातितः । हस्तेरप्, टिलोपः, घत्वं च ॥

उत्कारश्च निकारश्च द्वौ धान्यक्षेपणार्थकौ ॥ ३३ ॥

धान्यस्योर्ध्वप्रेरणे उत्कारद्वयम् । 'कृ धान्ये' (३. ३. ३०) इति घञ् ॥

निगारोद्गारविक्षावोद्गाहा निगरणादिषु ।

निगारचतुष्टयं यथाक्रमं निगरणोद्गारणक्षवणोद्ग्रहणेषु । एतच्च आदिशब्देन गृह्यते । तत्र निगारोऽभ्यवहारः । उद्गार उद्गार इति ख्यातः । क्षवः कासः । उद्गाह उद्गाहणीति ख्यातः । ऊर्ध्वोक्त्यापि ग्रहणमित्यन्यः । 'उन्नयोर्ग्रः' (३. ३. २९) इति घञि निगारोद्गारौ । 'वौ क्षुश्रुवः' (३. ३. २९) इति घञि विक्षावः । 'उदि ग्रहः' (३. ३. ३५) इति घञि उद्गाहः । यद्यपि गीर्णिर्गिरावित्युक्तः, तथापि शब्दान्यत्वादुद्गारशब्दप्रसङ्गाच्च निगारोऽपि निग(र इति ? रण इव) पुनरुच्यते ॥

आरत्यवरतिविरतय उपरामे

अथार्याद्वयम् । आरतिचतुष्टयमुपरतौ । आज्ञादिपूर्वाद् रमेः क्तिनि त्रयम् । 'यमु उपरमे' इति निपातनाद् घञि अवृद्धौ उपरमः । 'अवा-धकान्यपि निपातनानी'ति उपरामः ॥

वा स्त्रियां तु निष्ठेवः ॥ ३७ ॥

निष्ठयूतिर्निष्ठीवनं निष्ठेवनमित्यभिन्नानि ।

मुखादिना श्लेष्मादिनिःसरणे निष्ठेवचतुष्कम् । 'वा स्त्रियाम्' इति पाठात् स्त्रियामङि निष्ठेवा । अथवा 'उपरामे च' इति पाठे चकारादारक्तावप्यारतिशब्दः । अवरतिविरतिशब्दौ विरामेऽपि ॥

जवने जूतिः

जवनद्वयं वेगे । जुः सौत्रो वेगे । 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (३. ३. ९७) इति निपातनात् कितनि दीर्घः ॥

सातिस्त्ववसानं स्याद्

सातिद्वयमवसाने । क्रियासमाप्तावित्यन्यः । जूतिवत् स्यतेः सातिः ॥

अथ ज्वरे जूर्तिः ॥ ३८ ॥

ज्वरद्वयं ज्वरणे । ज्वररोगे इति यावत् । ज्वरयतेर्घञ् । ज्वरः । घटादित्वान्न वृद्धिः । 'ज्वरत्वरसव्यविमवामुपधायाश्च' (६. ४. २०) इत्यूठि जूर्तिः ॥

उदजस्तु पशुप्रेरणम्

गवादिपशूनां प्रेरणे उदजद्वयम् । 'समुदोरजः पशुषु' (३. ३. ६९) इत्यप् । उदजः ॥

अकरणिरित्यादयः शापे ।

शापे आक्रोशे, क्रियाक्षेपे इति यावत् । अकरणिः, अजननिरित्यादयोऽनिप्रत्ययान्ताः शब्दा बोद्धव्याः । आदिना 'आक्रोशेऽवन्यो-र्महः' (३. ३. ४९) इति घञन्तश्च । 'आक्रोशे नञ्यानिः' (३. ३. ११२) । अकरणिः । यथा—'अकरणिस्ते वृषल ! भूयात्' ।

"तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः" (माघ० स० २. श्लो० ४५) इति । 'अवग्राहोऽद्य ते वृषल ! भूयाद्' इति । 'निग्राहोऽद्य वृषल ! भूयाद्' इति ॥

गोत्रान्तेभ्यस्तस्य बृन्दमित्यौपगवकादिकम् ॥ ३९ ॥

गोत्रप्रत्ययान्तेभ्य औपगवादिभ्यस्तस्य वृन्दमित्यर्थे 'गोत्रोक्षोष्टोरभ्र—'
(४. २. ३९) इत्यादिना वुञि कृते औपगवकम् । आदिना कापटवकमित्यादि
विज्ञेयम् । वृन्दम् इत्ययमधिकारो वर्गसमाप्तिर्यावत् ॥

आपूपिकं शाष्कुलिकमेवमाद्यमचेतसाः ।

अचेतसाम् अप्राणिनाम् । अपूपानां वृन्दम् आपूपिकम् । शाष्कुलिकम् ।
आदिना आपौपिकप्रभृतयः । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक' (४. २. ४७) ॥

माणवानां तु माणव्यं

माणवा बालाः, तेषां समूहो माणव्यम् । 'ब्राह्मणमाणववाडवाद्
यत्' (४. २. ४२) ॥

सहायानां सहायता ॥ ४० ॥

सहायानां समूहे सहायता । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' (४. २.
४३) ॥

हल्या हलानां

हलानां समूहे हल्या । 'पाशादिभ्यो यः' (४. २. ४९) ॥

ब्राह्मण्यवाडव्ये तु द्विजन्मनाम् ।

ब्राह्मणानां समूहे ब्राह्मण्यद्वयम् । माणव्यवद् यत् ॥

द्वे पशुकानां पृष्ठानां पार्श्वे पृष्ठ्यमिति क्रमात् ॥ ४१ ॥

पशुकानां पार्श्वस्थिखण्डानां समूहः पार्श्वम् । *'पशोर्णस् वक्तव्यः'
(वा० ४. २. ४३) इति णसप्रत्ययः । 'सिति च' (१. ४. १६)
इति पदसंज्ञायाम् 'ओर्गुणः' (६. ४. १४६) इति न गुणः । पृष्ठानां
स्तोत्राणां वृन्दं पृष्ठ्यम् । न त्वधमावयववचनः । 'पृष्ठादुपसङ्ख्यानम्' (वा०
४. २. ४२) इति यत् ॥

खलानां खलिनी खल्यापि

खलो धान्यसंचयस्थानम् । तेषां समूहे खलिनीद्वयम् । 'इनि-
त्रकट्यचश्च' (४. २. ५१) इतीनिः । खलिनी । यति खल्या ॥

अथ मानुष्यकं नृणाम् ।

नृणां समूहे मानुष्यकम् । 'गोत्रोक्षोष्ट्र —' (४. २. ३९) इत्या-
दिना वुञ् ॥

ग्रामता जनता धूम्या पाश्या गल्या पृथक् पृथक् ॥ ४२ ॥

अपि साहस्रकारीषवार्मणाथर्वणादिकम् ।

ग्रामादिसमूहे यथाक्रमं ग्रामतादिपञ्चकम् । सहायतावत् तलि
द्वयम् । अपरं पाशादियदन्तम् । पाशादिषु पोटागलेति पठ्यते । तत्र
पोटशब्दात् पृथगेव गलशब्द इति प्रतिपन्ने गल्येत्युदाहृतम् । अन्ये त्वाहुः—
एक एवायं पोटागलशब्दः । तत्र पोटागल्येति रूपं साधु, न तु गल्येति ।
ततश्च पोटागल्येत्यत्र बोद्धव्यम् । तथाहि तत्र पाल्यकीर्तेर्विवरणं पोटागलो
बृहत्काशः । पृथगित्यनेन ग्रामतादीनां पर्यायतां निरस्यति । पृथक्
पृथगिति सम्बन्धप्रतिपादनार्थमपिशब्दः । सहस्राणां समूहः साहस्रम् । करीषः
शुष्कगोमयः, तत्समूहे कारीषम् । वर्म कवचं, तत्समूहे वार्मणम् । भिक्षादि-
पाठादण् । 'आथर्वणिकस्येकलोपश्च' (४. ३. १३३) इति अणि इकलोपे
आथर्वणम् । आदिना अङ्गाराणां समूह आङ्गारम् । चर्मणां समूहे चार्मणम् ॥

इति वन्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे

सङ्कीर्णवर्गः ।

नानार्थाः केऽपि कान्तादिवर्गेष्वेवात्र कीर्तिताः ।

भूरिप्रयोगा ये येषु पर्यायेष्वपि तेषु ते ॥ १ ॥

ननु य एव पूर्ववर्गेणोक्ताः, त एवात्रापि कान्तादिवर्गेऽभिहिताः ।
अथावश्यमनेकार्थवर्गारम्भः कार्यः, तदा ते किमिति पर्यायेषुक्ता इति

शङ्क्यामाह — नानार्था इत्यादि । अत्रैव कान्तखान्तादिवर्गे नानार्था
अनेकार्थाः शब्दा उक्ताः, न पूर्वपर्यायवर्गे । यथा—

“मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोम्बुनोः”

इति । केऽपीति वचनात् केऽप्यत्र नोक्ता एव । यथा बोष्टा सुगलकोलौ
पूगे च पूर्ववर्ग एवोक्ताः । ये तु शब्दा येष्वर्थेषु सूरिप्रयोगाः काव्यादिषु दृष्टाः,
ते तु पर्यायेष्वपि तेषु तेष्वर्थेषूक्ताः । अत्रापि यथा — नाकशब्दः स्वर्गे,
अत्राप्याकाशे कीर्तितः । कीर्तनं चाध्येतुः स्मरणार्थम् । अतः सर्वं सुस्थम् ॥

आकाशे त्रिदिवे नाकः

त्रिदिवे स्वर्गे ॥

लोकस्तु भुवने जने ।

भुवनं स्वर्गादि । जनो मनुष्यादिः ॥

पथे यशसि च श्लोकः

पथं चतुष्पदी । ‘श्लोक सङ्घाते’ । घञि श्लोकः ॥

शरे खड्गे च सायकः ॥ २ ॥

सायको दन्त्यादिः ॥

जम्बुकौ क्रोष्टुवरुणौ

वरुणो दिक्पतिः ॥

पृथुकौ चिपिदाभकौ ।

चिपिटः ‘चिडउ’ इति ख्यातः ॥

आलोकौ दर्शनोद्द्योतौ

चक्षुर्विज्ञानं दर्शनम्, उद्द्योत आतपः ॥

भेरीपटहमानकौ ॥ ३ ॥

१. ‘तु तेषु तेष्वर्थेषु पर्यायवर्गेषु’ क. ख. घ. ङ. छ. ट. पाठः. २. ‘तः सम्प-

‘पथे’ ठ. पाठः.

‘द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाज्ञानाम्’ (२. ४. २) इत्येकवद्भावे भेरीपटहम् ॥

उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः

उत्सङ्गः क्रोडम् ॥

कलङ्कोऽङ्गापवादयोः ।

अङ्गश्चिह्नम् ॥

तक्षको नागवर्धकयोः

नागो नागविशेषः ॥

अर्कः स्फटिकसूर्ययोः ॥ ४ ॥

अर्को वृक्षभेदोऽपि ॥

मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोम्बुनोः ।

पुंसि आत्मनीत्यर्थः । तथाच रभसः — ‘प्रजापत्यात्मवाताकै कः’
इत्यादि । रूपभेदादेव शिरोम्बुनोः कं क्लीबम् ॥

स्यात् पुलाकस्तुच्छधान्ये संक्षेपे भक्तसिक्थके ॥ ५ ॥

तुच्छधान्ये वातानेति ख्याते । संक्षेपे क्षुद्रे । तथाच बुद्धचरितं —

“निबोध किञ्चित्तु पुलाकमात्रं वाक्यं मुनेर्वाक्यविदां वरस्य”

इति । भक्तसिक्थके भक्तगुडके । ‘पुल महत्त्वे’ । ‘पिनाकादयश्च’ (उ० ४. १५)

इति आकः । पुलाकः ॥

उल्लूके करिणः पुच्छमूलोपान्ते च पेचकः ।

पुच्छमूलोपान्ते गुदस्याच्छादके मांसपिण्डे ॥

कमण्डलौ च करकः

वनौषधौ ‘करकदाडिनौ’ इत्युक्तम् । तदपेक्षया कमण्डलौ चेति
समुच्चयः ॥

सुगते च विनायकः ॥ ६ ॥

चकाराद् गणपतौ च ॥

किष्कुर्हस्ते वितस्तौ च

“किष्कुर्हस्ते वितस्तौ च प्रकौष्टेऽप्यनपुंसकम्”

इति रुद्रः ॥

शूककीटे च वृश्चिकः ।

चकाराद् गोमये वृश्चिके च वृश्चिकः ॥

प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशे च पुंस्ययम् ॥ ७ ॥

प्रतिकूले प्रतीपे त्रिषु । एकदेशे अवयवे नरि ॥

स्याद् भूतिकं तु भूनिम्बे कतृणे भूस्तृणेऽपि च ।

भूनिम्बः चिराइतेति ख्यातः । कतृणे रामकपूराख्ये । भूस्तृणे
गन्धरवेड इति ख्याते ॥

ज्योत्स्निकायां च घोषे च कोशातको

ज्योत्स्निका पजिरालीति ख्याते । घोषको लताविशेषः ॥

अथ कट्फले ॥ ८ ॥

सिते च खदिरे सोमकल्कः स्याद्

सित इति खदिरविशेषणम् ॥

अथ सिङ्गे ।

तिलकल्के च पिण्याकः

तिलकल्का तिलखलिः ॥

बाह्विकं रामटेऽपि च ॥ ९ ॥

‘बाह्विकं धीरहिङ्गुनोर्नाभदेशयोः’ । धीरं कुङ्कुमम् ॥

महेन्द्रगुग्गुलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः ।

महेन्द्रः ॥

रुक्तापशङ्कास्वातङ्कः

रुग् रोगः । शङ्का भयम् ॥

स्वल्पेऽपि क्षुल्लकस्त्रिषु ॥ १० ॥

स्वल्पे कनिष्ठे । स्तोके चेल्यन्यः । अपिना नीचेऽपि ॥

जैवातृकः शशाङ्केऽपि

दीर्घायुषि च जैवातृकः ॥

खुरेऽप्यश्वस्य वर्तकः ।

“पक्षिभेदे नरि क्लीवं खुरेऽप्यश्वस्य वर्तकः” ॥

व्याघ्रेऽपि पुण्डरीको ना

“पुण्डरीकं सितच्छत्रे सिताम्भोजेऽपि कीर्तितम् ।

पुण्डरीको व्याघ्रभेदे दिग्गजेष्वप्रभेदयोः ॥”

इत्यजयः ॥

यवान्यामपि दीप्यकः ॥ ११ ॥

जीरकैऽपि दीप्यकः ॥

शालावृकाः कपिक्रोष्टुश्चानः

शालावृकस्तालव्यादिः ॥

स्वर्णेऽपि गैरिकम् ।

शिलाविकारे च गैरिकम् ॥

पीडार्थेऽपि व्यलीकं स्याद्

अप्रियाकारविलक्षेणपि व्यलीकम् । दीर्घमध्यम् ॥

अलीकं त्वप्रियेऽनृते ॥ १२ ॥

दीर्घमध्यमलीकम् ॥

शीलान्वयावनूके द्वे

शीलं स्वभावः । अन्वयो वंशः ॥

शलके शकलवलकले ।

तालव्यादि शकलं खण्डवाचि । 'शलकं तु वलकले खण्डे' इत्य-
जयः । 'शशाङ्कशलकाकृतिपाण्डरेण' (स० १७. श्लो० ९१) इति भारविप्रयोगः ।
अथवा शकलं मत्स्यानां कवचप्राया त्वक्, तद्योगात् शकली मत्स्यः ।
वलकलं वृक्षादित्वक् ॥

साष्टे शते सुवर्णानां हेमन्युरोभूषणे पले ॥ १३ ॥

दीनारेऽपि च निष्कोऽस्त्री

सहाष्टभिर्वर्तत इति साष्टम् । साष्टं च तत् शतं चेति साष्टस्रतम
ष्टोत्तरशतम् । हेम्नीति स्वर्णमात्रे । उरोभूषणे मुखखण्डारूपे । पले इति हेमपले ।
दीनारे देशान्तरे स्वनामप्राप्तिद्वे ॥

कल्कोऽस्त्री समलैनसोः ।

दम्भेऽपि

समलः पापाशयः ।

“त्रिषु पापाशये कल्कोऽस्त्री विट्किट्टेभदम्भयोः”

इति रुद्रः ॥

अथ पिनाकोऽस्त्री शूलशङ्करधन्वनोः ॥ १४ ॥

शूलोऽस्त्रभेदः ॥

धेनुका तु करेण्वां च

करेणुः हस्तिवी । नवप्रसूतगवीषु च धेनुका ॥

मेघजाले च कालिका ।

मेघजाले मेघवृन्दे ।

“धूमरीयोगिनीभेदे मानवाब्देषु कालिका ।

क्रयंदेये वस्तुमूल्ये काण्ये काल्यां घनावलौ ॥”

इति रभसः । धूमरीह हेतिका । काल्याः कृष्णत्वम् ॥

कारिका यातनावृत्त्योः

यातना तीव्रवेदना । वृत्तिः सूत्रप्रायो बह्वर्थः प्रक्षितो विधरश्लोकः ॥

कर्णिका कर्णभूषणे ॥ १५ ॥

करिहस्ताङ्गुलौ पद्मबीजकोश्यां

कर्णभूषणं नालपत्रम् ॥

त्रिषूत्तरे ।

उत्तरे वृन्दारकादयः कान्तवर्गोक्तास्त्रिषु । अवधेरनिर्देशेऽपि कान्तवि-
जातीयतया न मयूखादयः ॥

वृन्दारकौ रूपिमुख्यौ

रूपिस्वरूपिमनोज्ञा इति पर्यायः । मुख्यो वृन्दारकः । पुरुषवृन्दारको
योषिद्वृन्दारिका कलत्रवृन्दारकम् ॥

एके मुख्यान्यकेवलाः ॥ १६ ॥

प्रधानान्यैकाकिनाम् एकशब्दः । मुख्ये यथा — ‘सर्वसार्थैकबन्धुः’ ।
अन्यार्थे यथा — ‘एके आचार्याः’ । केवलार्थे यथा — एकाकिभिः क्षुद्रैर्ज्ञा-
तम् ॥

स्याद् दाम्भिके कौकुटिको यश्चादूरेरितेक्षणः ।

कुहनावृत्तिर्दाम्भिकः । पादविक्षेपदेशे चक्षुः संयम्य यो भिक्षुर्गन्ता
सोऽदूरेक्षगो भिक्षुः । तौ कौकुटिकाख्यौ ।

“मिथ्याचर्या कुकुटिरीर्यापथकल्पना कुहना”

इति रत्नकोषः । ‘संज्ञायां ललाटकुकुट्यौ पश्यति’ (४. ४. ४६) इति ठक् ॥

लालाटिकः प्रभोः फालदर्शी कार्याक्षमद्वयः ॥ १७ ॥

यः सेवकः कोपचिह्नसंलक्षणाय प्रभोर्ललाटमेव पश्यति, स्मामिकायं
च यो नोपयुज्यते, तौ लालाटिकौ । कौकुटिकवद्वक् ॥

कान्तः ।

मयूखस्तिवद्करज्वालासु

त्विङ् दीप्तिः । करः किरणः ॥

अलिबाणौ शिलीमुखौ ।

अलिः भ्रमरः ॥

शङ्खो निधौ ललाटास्थि कम्बौ न स्त्री

निधौ निधिभेदे ललाटास्थि च । न स्त्री पुंनपुंसकम् ॥

इन्द्रियेऽपि

“खशब्दः शून्यविन्दौ च स्वर्गाकाशेन्द्रियेषु च ”

इति व्याडिः ॥

घृणिज्वाले अपि शिखे

शिखा चूडादावपि ॥

खान्तः ।

शैलवृक्षौ नगावगौ ।

नगशब्देन अगशब्देन च शैलवृक्षानुच्येते ॥

आशुगौ वायुविशिखौ

विशिखो बाणः ॥

शरार्कविहगाः खगाः ॥ १९ ॥

अर्को रविः ॥

पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च

शालिभेदे शलभे च पतङ्गः ॥

पूगः क्रमुकवृन्दयोः ।

क्रमुको गुवाकवृक्षः । एतत्फले तु क्लीबम् ॥

पशवोऽपि मृगाः

हरिणाः सर्वपशवश्च मृगाः ॥

वेगः प्रवाहजवयोरपि ॥ २० ॥

विष्ठादेर्वहिर्निर्गमे प्रवाहः । किम्पाकवृक्षेऽपि महाकालाख्ये वेगः ॥

सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु ।

स्वभावः प्रकृतिः । निर्मोक्षस्त्यागः । निश्चये यथा—‘गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते’ । अध्याये काव्यपरिच्छेदे । सृष्टिर्निर्माणम् ॥

योगः सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु ॥ २१ ॥

सन्नहनं कवचम् । उपायः सामभेदादिः । सङ्गतिः सङ्गमः ॥

भोगः सुखे स्थादिभृतावहेश्च फणकाययोः ।

स्थ्यादीत्यादिशब्देन हस्त्यादीनामपि भृतौ ॥

चातके हरिणे पुंसि सारङ्गः शबले त्रिषु ॥ २२ ॥

शबले कर्बुरे । पक्षिवाची सारङ्गो दन्त्यादिः । हरिणे तु तालव्यादिरपि ॥

कपौ च प्लवगः

भेकेऽपि प्लव(मातङ्गः)गः) ॥

शापे त्वभिषङ्गः पराभवे ।

मिथ्याभिर्शंसनं शापः ।

“आक्रोशे शपथेऽपि स्यादभिषङ्गः पराभवे”

इति रुद्रः ॥

यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु ॥ २३ ॥

यानं रथः । आदिना शकटलाङ्गलादेः । कृतादिषु कृतत्रेताद्वापर-
कलिषु ॥

स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रवृणिभूजले ।

लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः

लक्ष्यदृष्ट्या प्रयोगदर्शनात् स्त्रियां पुंसि च गोशब्द उन्नेयः ।

“स्वर्गे वज्रे च रश्मौ च बलीवर्दे च गौः पुमान् ।

स्त्री बाणरोहिणीदृग्वाग्भूष्वप्सु च ककुप्सु च ॥”

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

लिङ्गं चिह्नशेषसोः ॥ २४ ॥

चिह्नं लक्षणम् ॥

शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च

प्राधान्यं प्रभुत्वम् । चकारात् पञ्चवयवादौ च ॥

वराङ्गं मूर्धगुह्ययोः ।

“गुडत्वचि वराङ्गं स्याद् योनिमस्तकहस्तिषु ।”

इति रभसः ॥

१. ‘प्सु भूमि च ॥’ क. ख. ड. च. छ. ज. ट. ठ., ‘प्सु च भूमि च’ घ. पाठः.

भगः श्रीकाममाहात्म्यवीर्ययत्नार्ककीर्त्तिषु ॥ २५ ॥

काम इच्छा । यत्नो हितैषिता, यद्योगाद् भगिनीति प्रयोगः ।

“ज्ञानवैराग्ययोर्योनौ भगमस्त्री तु भास्करे”

इति रुद्रः ॥

शान्तः ।

परिघः परिघातेऽस्त्रेऽपि

परिघातो हननम् । अस्त्रे अस्त्रविशेषे । लोहवद्भलगुडे अर्गलेऽपि
परिघः ॥

ओघो बृन्देऽम्भसां रये ।

द्रुतनृत्येऽपि ओघः ॥

मूल्ये पूजाविधावर्घः

मूल्ये यथा — महार्घः पटः ॥

अंहोदुःखव्यसनेष्वघम् ॥ २६ ॥

व्यसनं रागद्वेषादि अघम् ॥

त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः

त्रिषु इष्टे रुच्ये ।

“कृष्णागुरुणि शीघ्रे च लघु क्लीबेऽगुरौ त्रिषु ।

निःसारे च मनोज्ञे च पृक्कायां च लघुः स्त्रियाम् ॥”

इति रभसः ॥

शान्तः ।

काचाः शिष्यमृद्भेदद्वयजः ।

शिष्यमुत्कचनद्रव्यम् । मृद्भेदः काच इत्येवाख्यातः । द्वयोः पट-
लप्रायः ॥

विपर्यासे विस्तरे च प्रपञ्चः

विपर्यासे वैपरीत्ये ॥

पावके शुचिः ॥ २७ ॥

मास्यमात्ये चात्युपधे पुंसि मेध्ये सिते त्रिषु ।

मासि आषाढे । धर्माद्यैः परीक्षणमुपधा, तामतिक्रान्ते अमात्ये स-
चिवे, उपधाशुद्ध इत्यर्थः । मेध्ये पवित्रे ॥

अभिषङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम् ॥ २८ ॥

अभिषङ्गे अत्यासक्तौ । स्पृहायां यथा — अन्ने रुचिः ॥

चान्तः ।

केकिताक्ष्यावहिभुजौ

अहीन् भुङ्क्ते इति किप् । अहिभुक् । ज्ञान्तः ॥

दन्तविप्राण्डजा द्विजाः ।

विप्र इत्युपलक्षणम् । क्षत्रियवैश्ययोरपि द्विजः ॥

अजा विष्णुहरच्छागाः

“द्वयोश्छागे हरब्रह्मविश्वस्मरहरिष्वजः”

इति रभसः ॥

गोष्ठाध्वनिवहा ब्रजाः ॥ २९ ॥

निवहः सङ्घः ॥

धर्मराजौ जिनयमौ

जिनो बुद्धः ॥

कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम् ।

लतापिहितोदरेऽपि कुञ्जः ॥

वलजे क्षेत्रपूर्वारे वलजा वल्गुदर्शना ॥ ३० ॥

क्षेत्रे नगरद्वारे च वलजं क्लीबम् । † (वल्लुदर्शना वाकुलीति ?) । तत्र ‡
रूपभेदात् स्त्रियाम् ॥

समे क्षमांशे रणेऽप्याजिः

समे क्षमांशे समे भूभाग इति यावत् ॥

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।

सन्ततिरपत्यम् ॥

अब्जौ शङ्खशशाङ्कौ च

धन्वन्तरौ चाब्जः ॥

स्वके नित्ये निजं त्रिषु ॥ ३१ ॥

‘स एषां ग्रामणीः’ (५. २. ७८) इति कन् । स्वक आत्मीयः ॥

जान्तः ।

पुंस्यात्मनि प्रवीणे च क्षेत्रज्ञो वाच्यलिङ्गकः ।

प्रवीणो निपुणः ॥

संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैरर्थसूचना ॥ ३२ ॥

चेतना धीः । नाम आख्या । हस्ताद्यैरर्थसूचनेति । युद्धे वस्त्रक्रियादौ (?)
च हस्तादिव्यवहार उपांशु क्रियन्ते, सापि संज्ञा । आदिना भ्रूलोचनादिग्रहणम् ।
सूर्यपत्नी च संज्ञा ॥

अन्तिः ।

काकेभगण्डौ करटौ

कटैकादशाहश्राद्धयोरपि करटः ॥

गजगण्डकटी कटौ ।

शवेऽपि कटोऽकारान्तः ॥

१. ‘न्ती’ ख. ठ., ‘स्ती’ ड., ‘स्मितं त’ घ. पाठः. २. ‘यः सोऽपि’ क ख. पाठः.

† ‘क्लीबमि’त्येतदनन्तरं ‘तत्र’ इत्यतः पूर्वं ‘वा तु स्त्रीति । वल्लुदर्शना’ इति
पठनीयम् । ‡ तत्र वल्लुदर्शनायां रूपभेदाद् ‘वलजा’ इति रूपस्य पुनपुंसकव्यावृत्तत्वा
दित्यर्थः । क्षेत्रपूर्वार्थयोस्तु ‘वलजे’ इति निर्दिष्टरूपस्य स्त्रीक्लीबसाधारणत्वमुभयलिङ्गत्वगमक-
मित्यभिप्रायः ।

शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे ॥ ३३ ॥

खिलिन् (?) इत्युणादिः । इकारान्तस्त्वत्र पाठः । (खलति खलितः ?)
निष्कुषितमेदूमलो दुश्चर्मा । शिपिविष्टस्तालव्यादिः ॥

देवशिल्पिन्यपि त्वष्टा

देवशिल्पी विश्वकर्मा । वर्धकौ च त्वष्टा ॥

दिष्टं देवेऽपि न द्वयोः ।

दिष्टं प्राप्तनं कर्म । कालेऽपि दिष्टो ना ॥

रसे कटुः कटुकार्यं त्रिषु मत्सरतीक्ष्णयोः ॥ ३४ ॥

रसे पिप्पल्यादिरसे । अकार्ये अकरणाहे रूपभेदात् कटु क्लीबम् ॥

रिष्टं क्षेमाशुभाभावेषु

क्षेमं कल्याणम् । अशुभं पापम् । अभावो विनाशः । खड्गेऽपि रिष्टो

ना ॥

अरिष्टे तु शुभाशुभे ।

“क्लीवं शुभे (ऽशुभे) तत्रे सूर्यगारान्तचिह्नयोः ।

अरिष्टो लशुने काके निम्बफेनिलवृक्षयोः ॥”

इति रभसः ॥

मायानिश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु ॥ ३५ ॥

अयोधने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम् ।

मायेन्द्रजालादि । निश्चलमाकाशादि । यन्त्रं यन्त्रविशेषः, येन मृगो
बध्यते । राशिः पुङ्गवः । अयो लोहं येन हन्यते, सोऽयोधनः हाथइडेति
ख्यातः । सीराङ्गं फालः ॥

सूक्ष्मैलायां तुष्टिः स्त्री स्यात् कालेऽल्पे संशयेऽपि सा ॥

कालेऽत्यन्तसूक्ष्मकाले ॥

अर्त्युत्कर्षाश्रयः कोट्यो मूले लग्नकचे जटा ।

लग्नकचे जटा मांस्यां च ॥

व्युष्टिः फले समृद्धौ च

फले हेतुकृते, न तु सत्ये । 'नियमादिफले व्युष्टिः समृद्धौ च स्त्रियाम्' इति हि रभसः ।

“तस्यैव तपसो व्युष्ट्यां प्रसादाच्च स्वयम्भुवः ।

नासुरेभ्यो न देवेभ्यो (हं ? भयं मम कदाचन) ॥”

इति प्रयोगोऽपि ॥

दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिण दर्शने ॥ ३७ ॥

दर्शनं वीक्षणम् । (सिद्धान्तः निश्चयः ?) ॥

इष्टिर्यागेच्छयोः

बाहुलकात् क्तिनि इष्टिः ॥

सृष्टं निश्चिते बहुनि त्रिषु ।

बहुनि प्रचुरे ॥

कष्टे तु कृच्छ्रगहने

दुरधिगमान्तःपातं गहनम् ॥

दक्षामन्दागदेषु तु ॥ ३८ ॥

पटुद्वौ वाच्यलिङ्गौ च

दक्षोऽनलसः । अमन्दस्तीक्ष्णः । अगदो नीरुक् । द्वौ कष्टपटू वाच्यलिङ्गौ ॥

टान्तः ।

नीलकण्ठः शिवेऽपि च ।

दात्यूहग्रामचटकखञ्जरीटमयूरेष्वपि नीलकण्ठः ॥

पुंसि कोष्ठोऽन्तर्जठरं कुसूलोऽन्तर्गृहं तथा ॥ ३९ ॥

१. 'द्वयामिति प्रयोगः । दर्शनं' ख. पाठः.

अन्तर्जठरमुदरमध्यम् । कुसूलो मरावः । 'कुस संश्लेषणे' । 'कुसेः कूल—' इत्यादिना ऊलः । कुसूलः । एवं दन्त्यसः । गृहस्यान्तरमन्त-
गृहम् ॥

निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः

नाशोऽदर्शनम् । अन्तो विनाशः ॥

काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि ।

स्थितिर्मर्यादा ॥

त्रिषु ज्येष्ठोऽतिशस्तेऽपि

अतिशस्तेऽतिशयप्रशस्ते । अपिनाप्रजातिवृद्धयोश्च । वृद्धप्रशस्ययोरिष्टनि
'वृद्धस्य च', 'ज्य च' (५. ३. ६२. ६१) इति ज्यादेशः ॥

कनिष्ठोऽतियुवाल्पयोः ॥ ४० ॥

अतियूनि अत्यल्पे च कनिष्ठः । 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (५. ३.
६४) इति कनादेशः ॥

ठान्तः ।

दण्डोऽस्त्री लगुडेऽपि स्याद्

“दण्डो यमे मानभेदे चण्डांशोः पारिपाश्चिके ।

दण्डो लगुडमन्थानदमसैन्येषु वाजिनि ॥”

इति धरणिः ॥

गुडो गोलेक्षुपाकयोः ।

गोलो मृत्तिकादिगुडकः । इक्षुपाको गुडाख्य एव ॥

सर्पमांसात्पशू व्याडौ

मांसात्पशुर्व्याघ्रादिः ॥

भूगोवाचस्त्विडा इलाः ॥ ४१ ॥

गौः स्त्रीगवम् । संक्षेपार्थं डान्तवर्ग एवोक्ता ॥

क्ष्वेडा वंशशलाकापि

सिंहनादे क्ष्वेडा । 'ना तु ध्वनौ विषे' इति रुद्रः ॥

नाडी कालेऽपि षट्क्षणे ।

षट्क्षणात्मके काल इत्यर्थः । सिरायां शाकादिनाले च नाडी ॥

काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्धवर्गावसरवारिषु ॥ ४२ ॥

दण्डे यथा — कदलीकाण्डः । अर्वा कुत्सितः । वर्गे यथा — त्रिका-
ण्डोऽमरकोषः । अवसरो निर्व्यापारस्थितिः । क्षण इति यावत् । वारिणि
यथा — 'शरत्काण्डसमद्युतिः' ॥

स्याद् भाण्डमश्वाभरणेऽमत्रे मूलवणिग्धने ।

सुवर्णादिकृतमश्वाभरणसामान्यं भाण्डम् । अमत्रं पात्रम् । वणिजं
मूलधनं भाण्डमित्येव ख्यातम् ॥

डान्तः ।

भृशप्रतिज्ञयोर्बाढं

प्रतिज्ञा अभ्युपगमः ॥

प्रगाढं भृशकृच्छ्रयोः ॥ ४३ ॥

कृच्छ्रं गहनम् ॥

१. 'क्ता । एवं शशशल्यसि' ग. पाठः.

शक्तस्थूलौ त्रिषु दृढौ व्यूढौ विन्यस्तसंहतौ ।

संहते यथा— व्यूढोरस्कः ॥

दान्तः ।

भ्रूणोऽर्भके स्त्रैणगर्भे

अर्भको बालः । स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः, स्त्रैणश्चासौ गर्भश्चेति कर्मधारयः ॥

बाणो बलिसुते शरे ॥ ४४ ॥

बलिसुतो बाणासुरः । शिण्ख्यां तु बाणा द्वयोः ॥

कणोऽतिसूक्ष्मे धान्यांशे

अतिसूक्ष्मे अत्यल्पे । पृथगेवेदं नाम । धान्यांशः कण इत्येव ख्यातः ॥

संघाते प्रमथे गणः ।

संघाते वृद्धे । प्रमथाः रुद्रानुचराः ॥

पणो द्यूतादिषूत्सृष्टे भृतौ मूल्ये धनेऽपि च ॥ ४५ ॥

द्यूतादिषूत्सृष्टे अड्ड इति ख्याते । आदिना मेषकुक्कुटादौ धनोत्सृष्टे, तत्राप्यड्डः क्रियते । भृतौ वेतने । धने अर्थे ॥

मौर्व्यां द्रव्याश्रये सत्त्वशुक्लसन्ध्यादिके गुणः ।

‘द्रव्यं भव्ये गुणाश्रये’ इति वक्ष्यति । तत्र भव्योऽभिप्रेतानां पात्रम् । गुणाश्रयस्तु पृथिव्यादिः । (त?अ)त्रोभयोर्ग्रहणम् । तेन भव्याश्रिते त्यागशौर्यादिके पृथिव्या(द्या)श्रिते च रूपरसादिके गुणः । आदिशब्दस्य सत्त्वादिभिः प्रत्येकमभिसम्बन्धः । सत्त्वादीनि सत्त्वरजस्तमांसि । शुक्लादिः शुक्लकृष्णलोहितादिः । सन्ध्यादिः सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः षट् ॥

निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः ॥ ४६ ॥

‘क्षणो व्यापारशून्यत्वे’ इति रुद्रः । कालविशेषो मुहूर्तस्य द्वादशो
भागः ॥

वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे ।

आदिना क्षत्रविद्शूद्रा नीललोहितादयश्च । अक्षरे वा क्लीबं, पक्षे
पुमान् ॥

ग्रामणीर्नापिते पुंसि श्रेष्ठे ग्रामाधिपे त्रिषु ॥ ४७ ॥

श्रेष्ठं प्रधानम् । अधिपः पतिः ॥

ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादावर्ते चान्तरा भ्रुवौ ।

आदिना शशकोष्टप्रभृतीनां ग्रहणम् । भ्रूमध्यलोमावर्तविशेषेऽपि च
ऊर्णा । एतच्च महापुरुषलक्षणम् । ‘अन्तरान्तरेण युक्ते’ (२. ३. ४) इत्य-
नेन भ्रुवौ इत्यत्र द्वितीया ॥

हरिणी स्यान्मृगी हेमप्रतिमा हरिता च या ॥ ४८ ॥

सुवर्णस्य प्रतिमा । या हरितवर्णा, सापि हरिणी ॥

त्रिषु पाण्डौ च हरिणः

चकारान्मृगे ॥

स्थूणा स्तम्भेऽपि वेदमनः ।

लोहप्रतिमायां च स्थूणा ॥

तृष्णे स्पृहापिपासे द्वे

तृष्णेत्युपलक्षणम् । तृष्णा तृट् तर्ष इत्येतेऽपि लिप्सापिपासयोः ॥

जुगुप्साकरुणे घृणे ॥ ४९ ॥

जुगुप्सा निन्दा ॥

वणिक्पथेऽपि विपणिः

वणिक्पथो हट्टः ।

“आपणे पण्यवीथ्यां च पण्ये च विपणिः स्त्रियाम्”

इति रुद्रः ॥

सुरा प्रत्यक् च वारुणी ।

प्रत्यक् प्रतीची दिक् ॥

करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे

इभ्यां हस्तिन्यां स्त्री करेणुः । इभे तु हस्तिनि ना पुमानित्यर्थः ॥

द्रविणं तु धनं बलम् ॥ ५० ॥

बलं पराक्रमः ॥

शरणं गृहरक्षित्रोः

शरणं तालव्यादि ॥

श्रीपर्णं कमलेऽपि च ।

अग्निमन्थेऽपि श्रीपर्णम् ॥

विषाभिमरलोहेषु तीक्ष्णं क्लीबं खरे त्रिषु ॥ ५१ ॥

अभिमरो युद्धम् । यः शीघ्रं कार्यकारी स खरस्त्रिषु ॥

प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु ।

येनाग्निरनुमीयते, स हेतुः धूमादिः । मर्यादा सीमा । शास्त्रे यथा —

आर्षं प्रमाणम् । इयत्ता मानम् । प्रमाता यथार्थानुभवयुक्तः ॥

करणं साधकतमे क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि ॥ ५२ ॥

साधकतमं कारकभेदः ॥

प्राण्युत्पत्तौ संसरणमसंबाधचमूगतौ ।

घण्टापथे

प्राणिनामुत्पत्तौ जन्मानि । असंकटेन रथाश्वादिगमनमसंबाधचमूगतिः ।

घण्टापथो नगरस्योपनिर्गमः ॥

अथ वान्तान्ने समुद्धरणमुन्नये ॥ ५३ ॥

वान्तान्ने भुक्तोज्झिते । उन्नय उत्तोलनम् ॥

अतस्त्रिषु विषाणं स्यात् पशुशृङ्गेभदन्तयोः ।

अतः परं णकारान्तास्त्रिषु । विषाणं मूर्धन्यषम् ॥

प्रवणः क्रमनिम्नोर्व्यां प्रहे ना तु चतुष्पथे ॥ ५४ ॥

क्रमनिम्नोर्व्यां वाच्यलिङ्गतया त्रिषु त्रिलिङ्गः । पूर्वप्रवणा भूः । पूर्वप्र-
वणो देशः । पूर्वप्रवणं स्थलम् । ना त्विति त्रिष्वित्यस्य बाधकः ॥

संकीर्णौ निचिताशुद्धौ

निचितं व्याप्तम् ॥

इरिणं शून्यमूषरम् ।

इरिणं ह्रस्वादि' दीर्घादि च ॥

णान्तः ।

देवसूर्यौ विवस्वन्तौ

देवो देवसामान्यम् ॥

सरस्वन्तौ नदार्णवौ ॥ ५५ ॥

“सरस्वती स्यात् स्त्रीरत्ने नद्यां नद्यन्तरे गवि”

इत्यजयः ॥

पक्षिताक्षर्यौ गरुत्मन्तौ

पक्षिसामान्यं पक्षी ॥

शकुन्तौ भासपक्षिणौ ।

‘कोष्ठकुक्कुटको भासः’ इत्यमरमाला ॥

अग्न्युत्पातौ धूमकेतू

उत्पातः प्रसिद्धः । धूमः केतुश्चिह्नमस्येति धूमकेतुः अग्निः ॥

जीमूतौ मेघपर्वतौ ॥ ५६ ॥

देवताख्याख्यौषधे^१ च जीमूतः ॥

हस्तौ तु पाणिनक्षत्रे

नक्षत्रं तारकाभेदः ॥

मरुतौ पवनामरौ ।

अमरे, मरुत्वानिन्द्रः ॥

यन्ता हस्तिपके सूते

सूते सारथौ ॥

भर्ता धातरि पोष्टरि ॥ ५७ ॥

धातरि यथा,— वज्रस्य भर्ता ॥

यानपात्रे दिशौ षोतः

यानपात्रे वहित्रे ॥

प्रेतः प्राण्यन्तरे मृते ।

प्राण्यन्तरं प्रेताख्यमेव ॥

ग्रहभेदे ध्वजे केतुः

ध्वजश्चिह्नम् ॥

पार्थिवे तनये सुतः ॥ ५८ ॥

पार्थिवो राजा ॥

१. 'धिविशेषे च' ठ. पाठः.

स्थपतिः कारुभेदेऽपि

बृहस्पतिसवयाजी कञ्चुकी च स्थपतिः ॥

भूमृद् भूमिधरे नृपे ।

भूमिधरः पर्वतः ॥

मूर्धाभिषिक्तो भूपेऽपि

क्षत्रियमात्रे प्रधानेऽपि मूर्धाभिषिक्तः ॥

ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च ॥५९॥

हेमन्तादावपि ऋतुः ॥

विष्णावप्यजिताव्यक्तौ

“त्रिषु स्यादस्फुटोऽव्यक्तः क्लीवं तु परमात्मनि”

इति रुद्रः ॥

सूतस्त्वष्टरि सारथौ ।

त्वष्टा वर्धकिः ॥

व्यक्तः प्राज्ञेऽपि

स्फुटेऽपि व्यक्तः ॥

दृष्टान्तावुभौ शास्त्रनिदर्शने ॥६०॥

शास्त्रं व्याकरणशास्त्रादि । निदर्शनमुदाहरणम् ॥

क्षत्ता स्यात् सारथौ द्वाःस्थे क्षत्रियायां च शूद्रजे ।

द्वाःस्थे प्रतिहारे । क्षत्रियायामिति पाठः । वैश्यायामित्यपपाठः ॥

वृत्तान्तः स्यात् प्रकरणे प्रकारे कात्स्न्यवार्तयोः ॥६१॥

प्रकरणं प्रक्रिया । प्रस्ताव इत्यन्यः । प्रकारो विशेषः ॥

आनर्तः समरे नृत्तस्थाननीवृद्धिशेषयोः ।

नृत्तस्थानं मण्डपादि । नीवृद्धिशेषो जनपदभेदः ॥

कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु ॥ ६२ ॥

दैवं जन्मान्तरीयं शुभाशुभकर्म । अकुशलकर्म पापकर्म ॥

श्लेष्मादि रसरक्तादि महाभूतानि तद्गुणाः ।

इन्द्रियाण्यश्मविकृतिः शब्दयोनिश्च धातवः ॥ ६३ ॥

श्लेष्मादीत्यादिशब्देन वातपित्ते । रसः आहारस्य परिणामः विकारः सारो भागः । रक्तममृक् । आदिना मांसादिः । महाभूतानि पृथिव्यप्तेजोवा-
य्वाकाशानि । तद्गुणाः पृथिव्यादीनामाश्रिता गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः । इन्द्रि-
याणि प्राणजिह्वाचक्षुःस्पर्शश्रोत्राणि । अश्मविकृतिर्गैरिकमनःशिलादिः । श-
ब्दयोनिः भूवादिः । एते धातुवाच्याः ॥

कक्ष्यान्तरेऽपि शुद्धान्तो नृपस्यासर्वगोचरे ।

कक्ष्यान्तरे प्रकोष्ठान्तरे । नृपस्यासर्वगोचर इत्येतदस्यैव विशेषणम् ।

“शुद्धान्तोऽन्तःपुरे गुह्ये कक्ष्याभेदे च भूपतेः”

इत्यजयः ॥

कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः

कासूः शर्वला ॥

मूर्तिः काठिन्यकाययोः ॥ ६४ ॥

काठिन्यं दृढता ॥

विस्तारवल्ल्योर्व्रततिः

विस्तारो विस्तीर्णता ॥

वसती रात्रिवेदमनोः ।

स्थितावपि वसतिः । सर्वत्रेयं स्त्री ॥

क्षयार्चयोरपचितिः

क्षयो हानिः । अर्चा पूजा ॥

सातिर्दानावसानयोः ॥ ६५ ॥

अवसानमन्तः ॥

अर्तिः पीडाधनुःकोट्योः

अर्तिः ह्रस्वादिः । धनुःकोटिरटनिः ॥

जातिः सामान्यजन्मनोः ।

जन्म जननम् । चुल्ल्यामपि जातिः ॥

प्रचारस्यन्दयो रीतिः

प्रचारो व्यवहारः । स्यन्दः प्रक्षेपणम् । लोहकिट्टे च रीतिः ॥

ईतिर्दिम्बप्रवासयोः ॥ ६६ ॥

दिम्ब उपप्लवः । स च षड्विधः । तदुक्तम्—

“अतिवृष्टिरनावृष्टिः शरभा मूषिकाः खगाः ।

प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥”

‘ई गतौ’ । दीर्घादिः । क्तिनि ईतिः ॥

उदयेऽधिगमे प्राप्तिः

उदय उद्गमः । अधिगमो लाभः ॥

कक्ष्यान्तरे प्रकोष्ठान्तरे । नृपस्यासर्वगोचर इत्येतदस्यैव विशेषणम् ।

“शुद्धान्तोऽन्तःपुरे गुह्ये कक्ष्याभेदे च भूपतेः”

इत्यजयः ॥

कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः

कासूः शर्वला ॥

सूतिः काठिन्यकाययोः ॥

काठिन्यं दृढता ॥

विस्तारवल्लयोर्ब्रततिः

विस्तारो विस्तीर्णता ॥

वसनी रात्रिदेहमनोः ।

स्थितावपि वसतिः । सर्वत्रेयं स्त्री ॥

क्षयार्चयोरपचितिः

क्षयो हानिः । अर्चा पूजा ॥

सातिर्दानावसानयोः ॥ ६५ ॥

अवसानमन्तः ॥

अर्तिः पीडाधनुष्कोट्योः

अर्तिर्ह्रस्वादिः । धनुष्कोटिरटनिः ॥

जातिः सामान्यजन्मनोः ।

जन्म जननम् । चुल्ल्यामपि जातिः ॥

प्रचारस्यन्दयो रीतिः

प्रचारो व्यवहारः । स्यन्दः प्रसवणम् । लोहकिट्टे च रीतिः ॥

इतिर्दिम्बप्रवासयोः ॥ ६६ ॥

दिम्ब उपप्लवः । स च षड्विधः । तदुक्तम् —

“अतिवृष्टिरनावृष्टिः शरभा मूषिकाः खगाः ।

प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥”

‘ई गतौ’ । दीर्घादिः । क्तिनि ईतिः ॥

उदयेऽधिगमे प्राप्तिः

उदय उद्गमः । अधिगमो लाभः ॥

त्रेता त्वग्नित्रये युगे ।

गार्हपत्याद्यग्नित्रयं त्रेता ॥

वीणाभेदेऽपि महती

नारदस्य वीणाभेदः । महत्त्वयुक्तायां च महती ॥

भूतिर्भस्मानि संपदि ॥ ६७ ॥

अणिमादिगुणेऽपि भूतिः ॥

नदीनगर्योर्नागानां भोगवती

नागनदी नागनगरी च भोगवती ॥

अथ सङ्गरे ।

सङ्गे सभायां समितिः

सङ्गरो युद्धम् । सङ्गः सङ्गमः ॥

क्षयावासावपि क्षितिः ॥ ६८ ॥

क्षमापि क्षितिः ॥

रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः ।

हन्तेर्हेतिशब्दः क्तिन्नन्तः । ‘निर्माश्रंसौ नीतिमयेन हेतिना’ इति कप्फिणाभ्युदये । ततः शस्त्रे बाहुलकात् पुंस्यपि ॥

जगती जगतिच्छन्दोविशेषेऽपि क्षिणावपि ॥ ६९ ॥

जगति भुवने । छन्दोविशेषे द्वादशाक्षरपादे ॥

पङ्क्तिश्छन्दोऽपि दशमं

दशमं छन्दो दशाक्षरपादकम् । राजिदशमं स्वयमेवपि पङ्क्तिः ॥

स्यात् प्रभावेऽपि चायनिः ।

दीर्घत्वागामिकालयोरप्यायतिः ॥

पत्तिर्गतौ च

“पत्तिर्ना पतगे सैन्यविशेषे तु स्त्रियां मता” ॥

मूले तु पक्षतिः पक्षभेदयोः ॥ ७० ॥

पक्षभेदयोरिति षष्ठी । एकः पक्षो मासार्थः, तस्य मूले प्रतिपदीत्यर्थः ।

द्वितीयो विहगावयवः । तन्मूलं कक्षस्थानम् ॥

प्रकृतियोंनिलिङ्गे च

योनिरुत्पत्तिकारणम् । लिङ्गं स्त्रीत्वादि ।

“पौरामात्यादिलिङ्गेषु स्वभावे प्रकृतिर्भगे ।

सत्त्वरजस्तमसां च समवस्थापि दृश्यते ॥ ”

इति व्याङ्गिः ॥

कैशिक्याद्याश्च वृत्तयः ।

“भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा ।

चतस्रो वृत्तयस्त्वेतास्तासु नाख्यं प्रतिष्ठितम्” ॥

सिकताः स्युर्बालुकापि

वाउका तां सिकताः ऋत्वे । ‘बहवश्च समाः सिकताः’ इति वा । नः ।

सिकतामयदेशश्च सिकता ॥

वेदे श्रवसि च श्रुतिः ॥ ७१ ॥

श्रवसि कर्णे । वार्तायां च श्रुतिः ॥

वनिता जनितात्यर्थानुरागायां च योषिति ।

जनितात्यर्थानुरागायां योषिति योषिन्मात्रेऽपि वनिता ॥

गुप्तिः क्षितिव्युदासेऽपि

क्षितिव्युदासो गर्तार्थं क्षितेरुत्खननम् । गोपनेऽपि गुप्तिः ॥

धृतिधारणधैर्ययोः ॥ ७२ ॥

सुखे योगान्तरे यागे च धृतिः ॥

बृहती क्षुद्रवर्षाताकीच्छन्दोभेदे महत्यपि ।

छन्दोभेदो नवाक्षरपादः । महती विपुला । कण्टकारिकायामुत्तरीयेऽपि
बृहती ॥

दाशिता स्त्रीकरेण्वोश्च

स्त्रीति स्त्रीमात्रम् ॥

वार्ता वृत्तौ जनश्रुतौ ॥ ७३ ॥

वार्तं फल्गुन्यसारे च त्रिषु

वृत्तौ वर्तने । किंवदन्ती जनश्रुतिः । फल्गुन्यसारे क्लीबम् । अरोगे
नीरोगे त्रिषु ॥

अप्सु च घृतामृते ।

आज्ये च घृतम् ।

“अयाचिते यज्ञशेषे निर्वाणे चापि सुन्दरे ।

अमृतं वारिणि प्रोक्तमतिहृद्ये च यस्तुति ॥”

इति व्याडिः ॥

कलधौतं रूप्यहेम्नोः

रूप्यमन्तस्थावत् ॥

निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः ॥ ७४ ॥

‘निमित्तं कारणे चिहे’ इत्यजयः ॥

श्रुतं शास्त्रावधृतयोः

अवधृते आकलिते ॥

युगपर्याप्तयोः कृतम् ।

युगं (सत्य)युगम् । पर्याप्तं निवारणम् ।

“शक्तौ निवारणे तृप्तौ पर्याप्तं स्याद् यथेप्सिते”

इति रुद्रः ॥

अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च ॥ ७५ ॥

कर्म जीवानपेक्षीति साहसं कर्म ॥

युक्ते क्षमादावृते भूतं प्राण्यतीति समे त्रिषु ।

युक्तं न्याय्यम् । क्षमादौ महाभूतपञ्चके । ऋते सत्ये । प्राणीति प्राणिमात्रम् । अतीति वृत्ते । भूतं क्लीबम् । उत्तरपदभूतं भूतशब्दः समे सदृशे वर्तते । यथा पितृभूतो मातृभूतः ।

“क्षमा(दौ च तौ ? दावृते) च भूतं स्यात् पिशाचादौ नृशण्डयोः”

इत्यमरमाला ॥

वृत्तं पद्ये चारत्रे त्रिष्वतीति दृढनिस्तले ॥ ७६ ॥

श्लोकचरित्रयोर्वृत्तं क्लीबम् ॥

महद्राज्यं च

महद् बृहदपि ॥

अवगीतं जन्ये स्याद् गर्हिते त्रिषु ।

जन्ये जनापवादे क्लीबम् ॥

श्वेतं रूप्येऽपि

सितेऽपि श्वेतम् ॥

रजतं हेस्मि रूप्ये सिते त्रिषु ॥ ७७ ॥

हेमरूप्ययोः क्लीबम् ॥

अवदातः सिने पीते शुद्धे

शुद्धे विशुद्धेऽवदातं कर्म ॥

वद्धार्जुनौ सितौ ।

वद्धः । अर्जुनः धवलः ॥

युक्तेऽतिसंस्कृते मर्षिण्यभिनीतः

युक्ते न्याय्ये । मर्षः क्षमा ॥

अथ संस्कृतम् ॥

कृत्रिमे लक्षणोपेतेऽपि

क्रियया निर्वृत्तं कृत्रिमं । घटादि । लक्षणोपेते पाणिनीयादिलक्षण-
युक्ते शब्दे साककह इति ख्याते ॥

अनन्तोऽनवधावपि ।

अवधिशून्ये । दुरालभा वि (शापू? शल्या दू.) र्वा (पि?) उत्पलशा-
(लिनी? रिवा) ।

“अनन्तो ना हरौ शेषे नगे क्लीबं विहायसि” ॥

ख्याते हृष्टे प्रतीतः

हृष्टः सन्तुष्टः ॥

अभिजातस्तु कुलजे बुधे ॥ ७९ ॥

कुलजः कुलीनः ॥

विविक्तौ घृतविजनौ

विगतजनसङ्घातो विजनः ॥

वृद्धिर्नो मूढसोच्छ्रयो ।

मूढो मूर्खः । सोच्छ्रयो वृद्धियुक्तः ॥

द्वौ चाम्लपरुषौ शुक्तौ

‘शुक्तं पूताम्लनिष्ठुर’ इति तालव्यादौ रमसः । अम्लविशेषेऽपि शुक्तम् । यदाह —

“मृन्मयादिशुचौ भाण्डे सक्षौद्रमुडकात्रिके ।

धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्रं तच्छुक्तमुच्यते” ॥

शित्ती धवलमेचकौ ॥ ८० ॥

‘शितिर्धवलकोष्णयोरिति तालव्यादावजयः । स्त्रियां शित्ती ॥

सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत् ।

सत्ये यथासंभूते । अभ्यर्हिते अर्चिते ॥

पुरस्कृतः पूजितेऽरात्यभियुक्तेऽग्रतः कृते ॥ ८१ ॥

अरात्यभियुक्तः शत्रुणाक्रान्तः । अग्रतः कृतः पुरो व्यवस्थापितः ॥

निवातावाश्रयावातौ शस्त्राभेद्यं च वर्म यत् ।

आश्रयो निवासः । अवातो वातशून्यो देशः ॥

जातोन्नद्धप्रवृद्धाः स्युरुच्छ्रिताः

जात उत्पन्नः । उन्नद्ध उन्नतः । प्रवृद्धो बहलतां गतः ॥

उत्थितास्त्वमी ॥

वृद्धिमत्प्रोद्यतोत्पन्नाः

वृद्धिमदादिषु त्रिषु उत्थितः । प्रोद्यते यथा — सुत्थितो राजा ॥

आदृतौ सादरार्चितौ* ।

* अत्र तान्तसमाप्तिर्मातृकासु न दृश्यते ।

अर्थोऽभिधेयैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ॥ ८३ ॥

निदानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ ।

निदानमादिकारणम् । आगमो मुनिवचनम् । ऋषिसेवितज्जलं वारा-
णस्यादि ॥

समर्थस्त्रिषु शक्तिस्थे सम्बद्धार्थे हितेऽपि च ॥ ८४ ॥

शक्तिस्थे शक्तियुक्ते । सम्बद्धोऽर्थोऽस्येति सम्बद्धार्थः ॥

दशनीस्थौ क्षीणरागवृद्धौ

क्षीणरागो नष्टबीजः ॥

वीथी पदव्यपि ।

पदवी मार्गः । पङ्क्तिर्गृहाङ्गं रूपकं च वीथी ॥

आस्थानीयत्नयोरास्था

आस्थानी सभा ॥

प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः ॥ ८५ ॥

मानं परिमाणविशेषश्च ॥

थान्तः ।

अभिप्रायवशौ छन्दौ

अभिप्राय आशयः । वशे यथा स्वच्छन्दाश्छात्राः ॥

अब्दौ जीमूतवत्सरौ ।

पर्वतभेदेऽप्यब्दः ॥

अपवादौ तु निन्दाज्ञे

आज्ञा निदेशः ॥

दायादौ सुतवान्धवौ ॥ ८६ ॥

वान्धवो ज्ञातिः ॥

पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्याशाः

तुर्याशश्चतुर्थाशः ॥

चन्द्रान्यर्कास्तमोनुदः ।

अर्कः सूर्यः ॥

निर्वादो जनवादेऽपि

जनवादो निन्दा । अवज्ञानिश्चितवादयोरपि निर्वादः ॥

शादो जज्वालशब्दयोः ॥ ८७ ॥

शप्पं नवतुणम् ॥

सारावे रुदिते त्रातर्याक्रन्दो दारुणे रणे ।

आर्तध्वनिरारावः, तत्सहिते रुदिते आक्रन्दः । त्रातरि यथा —
निराक्रन्दं जगत् । दारुणे इति रणविशेषणम् ॥

स्यात् प्रसादोऽनुरोधेऽपि

कार्यप्रमाणप्रसक्तिषु प्रसादः ॥

सूदः स्याद् व्यञ्जने त्रिषु ॥ ८८ ॥

सूपकारोऽपि सूदः ॥

गोष्ठाध्यक्षेऽपि गोविन्दः

हरौ च गोविन्दः ॥

हर्षेऽप्यामोदवन्मदः ।

यथा आमोदशब्दो हर्षे तथा मदशब्दश्च । अतिनिर्हारिगन्धोऽप्या-
मोदः । गर्वगजदानयोश्च मदः ॥

प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् ॥ ८९ ॥

प्रधानमेव प्राधान्यम् । राजलिङ्गं राजचिह्नं कनकदण्डादि । ककुच्छब्दो-
ऽप्येषु ॥

स्त्री संविज्ज्ञानसम्भाषाक्रियाकाराजिनामसु ।

क्रियायाः कारो निश्चयः । आजिः युद्धम् । स्त्रीति उपनिषदा शरदा
च सम्बध्यते ॥

धर्मे रहस्युपनिषत्

वेदान्तेऽप्युपनिषत् ॥

स्यादृतौ वत्सरे शरत् ॥ ९० ॥

ऋतुविशेषे ऋतौ ॥

पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्षाद्भिवस्तुषु ।

व्यवसितिश्च व्यवसायः । लक्षं व्याजः । 'पदं स्थानेऽपदेशे चे'त्यादिना
धरणिश्च । लक्ष्मपाठे तु लक्ष्म चिह्नम् । तथाहि—

“पदं स्थाने परित्राणे व्यवसायापदेशयोः” (?)

इत्यजयः ॥

गोष्पदं सेविते माने

सेविते गोभिरेव सेविते देशे । मीयतेऽनेनेति मानं गोखुरश्चञ्च गोष्प-
दमात्रक्षेत्रम् । गोष्पदं मूर्धन्यवत् ।

“गोष्पदं गोपदश्चञ्च गवां च गतिगोचरे”

इति रभसः ॥

प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम् ॥ ९१ ॥

प्रभुत्वं स्थानमात्रकं च प्रतिष्ठा । कृत्यं कार्यम् ॥

त्रिष्विष्टमधुरौ स्वादू

इष्टो मृष्टः । दान्तवर्गावधि त्रिष्वित्यधिकारः ॥

मृदू चातीक्ष्णकोमलौ ।

अतीक्ष्णो मन्दः ॥

सूढाल्पापट्टनिर्भाण्या मन्दाः स्युः

मूढो मूर्खः ॥

द्यौ तु शारदौ ।

प्रत्यग्राप्रतिभौ

प्रत्यग्रोऽभिनवः । अधृष्टोऽप्रतिभः । शारदस्तालव्यादिः ॥

विद्वत्सुप्रगल्भौ विशारदौ ।

विद्वान् पण्डितः ॥

दान्तः ।

व्यामो वटश्च न्यग्रोधौ ।

व्यामो विआम इति ख्यातः । वटो वृक्षमेव ।

उत्सेधः काय उद्यमिः ॥ ९३ ॥

उन्नतिः उच्छ्रायः । 'सिधु गत्यान्' । यच् । उत्सेधः ॥

पर्याहारश्च भार्गश्च विधौ बीवधौ च तौ ।

पर्याहारः भात्स इति ख्यातः ॥

परिधिर्यज्ञियतरोः शाखायाभ्युपवर्त्यकं ॥ ९४ ॥

यज्ञियतरुदुम्बरादिः, तच्छाखायां परिधिः । उपसृष्टमादित्यमण्डलम् ॥

बन्धकं व्यसनं चेतःपीडाधिष्ठानमाधयः ।

बन्धकं भूम्यादिवन्धकम् । अधिष्ठानमाक्रमणम् ॥

स्युः समर्थननीवाकनियमाश्च सलाययः ॥ ९५ ॥

दुर्घटप्रतिविधानं समर्थनम् । धान्यादिप्वादरो नीवाकः । नियम इन्द्रियसंयमः ॥

दोषोत्पादेऽनुबन्धः स्यात् प्रकृत्यादिदिनम्बरे ।

मुख्यानुयायिनि शिशौ प्रकृतस्यानिवर्तने ॥ ९६ ॥

चतुर्षु अनुबन्धः । प्रकृतिप्रत्ययादेर्योऽदर्शनीयो लोप्यस्वभावो वर्णः, सोऽनुबन्धः । यथा — तिपः पकारः । विवाहामन्त्रणयात्रायां यो नुत्यं पित्रा-
दिकमनुयाति शिशुः, तत्राप्यनुबन्धः । प्रकृतस्यानिवर्तने निवर्तनाभावे ।
यथा — वैरानुबन्धः । अनुवर्तनमिति क्वचित् पाठः ॥

विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि

चन्द्रमसि चन्द्रे ॥

परिच्छेदे विलेऽवधिः ।

परिच्छेदः सीमा ॥

विधिर्विधाने दैवेऽपि

विधानं क्रिया । देवं कर्म ॥

प्रणिधिः प्रार्थने चरे ॥ ९७ ॥

प्रार्थनचरौ सुप्रसिद्धौ ॥

बुधवृद्धौ षण्डितेऽपि

सुगते बुधितेऽपि बुधः । स्थविरेऽपि वृद्धः । शैलेये तु क्लीबम् ॥

स्कन्धः समुदयेऽपि च ।

समुदयः समूहः ।

“प्रकाण्डेऽशौ नृपे स्कन्धः समुदायसमूहयोः”

इति रुद्रः ॥

देशे नदविशेषेऽथौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम् ॥ ९८ ॥

देशे देशविशेषे ॥

विधा विधौ प्रकारे च

विधानं विधिः । राजवेतने हस्त्यनेऽपि विधिः ॥

साधु रम्येऽपि च त्रिषु ।

रम्यं मनोहरम् । वार्षिके सज्जने च साधुः ॥

वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च

जाया स्वभार्या । स्नुषा पुत्रादिभार्या । स्त्रीति स्त्रीमात्रम् । वधूः न-
वोढा, पृक्का शटी च ॥

सुधा लेपोऽमृतं स्नुहिः ॥ ९९ ॥

लेपः सौधादिलेपनद्रव्यम् । स्नुहिः सिन्धुः ॥

सन्धा प्रतिज्ञा सन्धा

प्रतिज्ञायां यथा — सत्यसन्धा । सन्धायां यथा —

“उपकारिणि विलम्बं शुद्धततो यः नमाचरति पापम् ।

तं जनमसत्यसन्धं जगदति । कुरुये । कथं वहति” ॥

अत्र सत्यसन्धः स्पृहा ।

स्पृहा काङ्क्षा ॥

मधु मद्ये पुष्परसो द्रव्यैः

“दैत्यचैत्रवसन्तेषु हन्तेषु च वा मधुः” ॥

अन्यं मधुस्यपि ॥ १०० ॥

अक्षिहीनेऽप्यन्धः ॥

अतस्त्रिषु

अतः परे धान्तवर्गान्तस्त्रिषु ॥

समुद्रस्य पण्डितमन्यगर्वितौ ।

पाण्डित्याभिमानयुक्तः पण्डितमन्यः ॥

ब्रह्मबन्धुराधिक्षेपे निर्देशे

अधिक्षेपे यथा — ब्रह्मबन्धोः । अधिक्षेपे कर्मित्यादि । निर्देश इति । यस्य

द्वेषाद् नाम न ग्रहीतव्यं, स ब्रह्मबन्धुर्निर्दिश्यत इत्यर्थः ॥

अथ ब्रह्मन्धितः ॥ १०१ ॥

अविदूरोऽप्यवष्टब्धः

अवलम्बित आश्रितः । अविदूर आत्त(नेत्रो) नातिदूरश्च ॥

प्रसिद्धौ ख्यातभूषितौ ।

भूषितोऽलङ्कृतः ॥

धान्तः ।

सूर्यवह्नी चित्रभान्

वह्निरग्निः ॥

भान् रश्मिदिवाकरो ॥ १०२ ॥

रश्मिः किरणः ॥

भूतात्मानौ भ्रातृदेहौ

भूतानां प्राणिनां परमात्मत्वाद् ब्रह्मा भूतात्मा । पृथिव्यादिभूतस्वभावाद्
देहोऽपि ॥

सुख्खनीचौ पृथग्जनौ ।

नीचो हीनजातिः ॥

ग्रावाणौ शैलपाषाणौ

अभेदाच्छैलेऽपि ग्रावा ॥

पत्रिणौ शरपक्षिणौ ॥ १०३ ॥

श्येनाख्यविहगोऽपि पत्री ॥

तरुशैलौ शिखरिणौ

अपामार्गे शिखरी ॥

शिखिनौ वह्निर्बर्हिणौ ।

बर्हिणो मयूरः ॥

प्रतियत्नावुभौ लिप्सोपग्रहौ

लिप्सा तृष्णा । उपग्रहो बन्दीग्रहणादिः । सतो गुणान्तराधानेऽपि
प्रतियत्नः ॥

अथ सादिनौ ॥ १०४ ॥

द्वौ सारथिहयारौहौ

हयारौहोऽश्ववा(वः)रः ॥

वाजिनोऽश्वेषुपक्षिणः ।

इषुः काण्डः ॥

कुलेऽप्यभिजनो जन्मभूम्यामपि

कुलस्थानेऽप्यभिजनः ॥

अथ हायनाः ॥ १०५ ॥

वर्षार्चिर्ब्रह्मिभेदाश्च

वर्षो वत्सरः । अर्चिर्मयूखः ॥

चन्द्रान्यर्का विरोचनाः ।

अर्को रविः ॥

केशोऽपि वृजिनः

“वृजिनं कलमषे क्लीबं के(शोऽशौ)नो कु(न्त । टि)ले त्रिषु”

इति रमसः ॥

विश्वकर्माकसुराक्षिपिनोः ॥ १०६ ॥

अर्को रविः ॥

आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्म च ।

ब्रह्म परमात्मा । वर्म कायः ॥

शक्रो घातुकमत्तेभो वर्षुकाब्दो घलाघनः ॥ १०७ ॥

घातुकश्चासौ मत्तेभश्चेति कर्मधारयः । एवं वर्षुकाब्दः ॥

अभिमानोऽर्थादिदर्पेऽज्ञाने प्रणयहिंसयोः ।

अर्थादीत्यादिना कु(लदर्पा?)लादिदर्पे ॥

घनो मेघे मूर्तिगुणो त्रिषु मूर्ते निरन्तरे ॥ १०८ ॥

मूर्तिः काठिन्यं, स एव गुणः । यथा — अभ्रवनः । मूर्ते काठिन्य-
युक्ते यथा — घनं दधि । निरन्तरे यथा — घनं वनम् । मुस्तकविस्तारलोहमु-
द्वरे(षु) घनो ना, कांक्ष्यतालादिवाद्ये च क्लीबम् ॥

इनः सूर्ये

इनो ह्रस्वादिः । ‘हेतुरहामिनो वः’ इति मयूरः ॥

प्रभौ राजा मृगाङ्गे क्षत्रिये नृपे ।

“प्रभौ भूमिपतौ राजा क्षत्रिये रजनीपतौ”

इति रमसः । अतः प्रभाविति राज्ञि सम्बध्यते ॥

वाणिन्यौ नर्तकीद्वयौ

१. ‘शानां तरलेऽपि च इति विश्वः ॥’ इति ट. पाठः. २. ‘नान्तरले’ क. ख.
ग. ड. छ. ट. पाठः.

“अर्पायस्तु प्रतीवा(यो ? पो) मारिरीतिरुपद्रवः”

इति निघण्टुः । जवनं वेगः । आप्यायनं पीवनम् ॥

व्यञ्जनं लाञ्छनद्वयश्रुतिष्ठानावयवेऽपि ॥ ११३ ॥

लाञ्छनं चिह्नम् । निष्ठानं तेजनम् । लीपुंसयोः तस्थोऽवयवः ॥

स्यात् कौलीनं लोकवादे युद्धे पश्वद्विपक्षिणाम् ।

लोकापवादो लोकवादः । पशुयुद्धे, अहियुद्धे, पक्षियुद्धे ॥

स्यादुद्यानं निस्सरणे वनभेदे प्रयोजने ॥ ११४ ॥

निस्सरणे गृहादिनिर्गमे । कृत्रिमवनं वनभेदः ॥

अवकाशे स्थितौ स्थानं

स्थितौ यथा— गवां स्थानेऽश्वो वध्यताम् ॥

क्रीडादावपि देवनम् ।

आदिना व्यवहारविजिगीषापरिदेवनेऽपि । पाशके तु पुंसि ॥

उत्थानं पौरुषे तन्त्रे सन्निविष्टोद्गमेऽपि च ॥ ११५ ॥

पौरुषे यथा — उत्थानसम्पन्नो राजा । (तन्त्रेन ? तन्त्रे) सैन्ये ॥

व्युत्थानं प्रतिरोधे च विरोधाच्चरणेऽपि च ।

प्रतिरो(ह ? ध) आस्कन्दनम् ॥

मारणे मृतसंस्कारे गतौ द्रव्येऽर्थदापने ॥ ११६ ॥

निर्वर्तनोपकरणानुव्रज्यासु च साधनम् ।

मारणे यथा — रससाधनम् । मृतस्य संस्कारोऽग्निदानम् । गति-
र्गमनम् । द्रव्यं धनम् । अर्थस्य भूमिधनादेर्दापने । उपकरणमुपायो हस्त्य-
श्वादिः । अनुव्रज्या अनुगमनम् ॥

निर्यातनं वैरशुद्धौ दाने न्यासार्पणेऽपि च ॥ ११७ ॥

दानं त्यागः ॥

व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे ।

विपद् दुःखम् । भ्रंशोऽपार्यपतनम् । कामजे दोषे कोपजे च दोषे ॥

पक्ष्माक्षिलोम्नि किञ्जल्के तन्त्वाद्यंशेऽप्यणीयसि ॥

अणीयसीति तन्त्वाद्यंशस्य विशेषणम् ॥

तिथिभेदे क्षणे पर्व

तिथिभेदे पूर्णमायाम् ।

“दर्शप्रतिपदोः सन्धौ ग्रन्थिप्रस्तावयोरपि ।

पर्व क्लीबं महे चैव विषुवत्प्रभृतिष्वपि ॥”

इति रभसः ॥

वर्त्म नेत्रच्छदेऽध्वनि ।

नेत्रच्छदे पिधानचर्मपुटे ॥

अकार्यगुह्ये कौपीनं

अकार्यमकर्तव्यम् । गुह्यमुपस्थः । तादर्थ्यात् तदावरणं चीराख्यं च
वस्त्रं कौपीनम् ॥

मैथुनं सङ्गतौ रते ॥ ११९ ॥

संगतिः संयोगः । ‘विवाहः सङ्गतिरिति कलिङ्गः ॥

प्रधानं परमात्मा धीः प्रज्ञानं बुद्धिचिह्नयोः ।

प्रसूनं पुष्पफलयोर्निधनं कुलनाशयोः ॥ १२० ॥

क्रन्दने रोदनाह्वाने वर्ष्म देहप्रमाणयोः ।

गृहदेहत्विट्प्रभावा धामान्यथ चतुष्पथे ॥ १२१ ॥

संनिवेशे च संस्थानं

आकृति(सू?मृ)त्योरपि संस्थानम् ॥

लक्ष्म चिह्नप्रधानयोः ।

चिह्नं प्रसिद्धम् ॥

आच्छादनं संपिधानमपवारणमित्युभे ॥ १२२ ॥

संपिधानं परिधानम् । अपवारणं तिरोधानम् । एते आच्छादनाख्ये ॥

आराधनं साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च ।

साधनं निष्पादनम् । अवाप्तिर्लभः । तोषणं संतोषणम् ॥

अधिष्ठानं चक्रपुरप्रभावाध्यासनेष्वपि ॥ १२३ ॥

चक्रं रथाङ्गम् । पुरं नगरम् । अध्यासनमाक्रमणम् ॥

रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि

स्वजातिश्रेष्ठे — स्त्रीरत्नम् अश्वरत्नम् । नरतक्रादौ च रत्नम् ॥

वने सलिलकानने ।

(नि)लयनिद्रासयोरपि वनम् ॥

तलिनं विरले स्तोके वाच्यलिङ्गं

‘त्रिष्व(ष्टे? ल्पे) तलिनं ल(ये? वे)’ इति रमत्तः ॥

तथोत्तरे ॥ १२४ ॥

यथा तलिनं वाच्यलिङ्गं, तथोत्तरे नान्तावधि वाच्यलिङ्गाः ॥

समानाः सत्समैके स्युः

सत् सज्जनः । समः सदृशः । एकस्मिन् यथा—समानोदरे शयितः ॥

पिशुनौ खलसूचकौ ।

सूचकः कर्णेजपः ॥

‘षोत्पादनम् ॥’ क. ख. ग. ड. च. छ. ज. पाठः.

हीनन्यूनावूनगर्ह्यौ

हीनन्यूनौ द्वावनेकार्थौ । गर्ह्यः कुत्सितः ॥

वेगिशूरो तरस्विनौ ॥ १२५ ॥

शूरो बली ॥

अभिपन्नोऽपराद्धोऽभिग्रस्तश्चापद्गतावपि ।

अपराद्धोऽपराधवान् । अभिग्रस्तः शत्रुणा आक्रान्तः ॥

नान्तः ।

कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतेऽपि च ॥ १२६ ॥

भूषणं काञ्च्यादि । बर्हं मयूरपिञ्जम् ॥

परिच्छदे परीचायः पर्याप्तौ सलिलस्थितौ ।

परिच्छदः पटकुटीपटवादिः । सर्वतो व्यापनं पर्याप्तिः । सलिलस्थितौ जलाधारे ॥

गोधुग् गोष्ठपतिर्गोपौ

गोधुग् गोपालः । गोष्ठपतिः गोष्ठाध्यक्षः । अग्नौ च ॥

हरो विष्णुर्वृषाकपिः ॥ १२७ ॥

वृषाकपिर्मूर्धन्यषः ॥

बाष्पमूष्माश्रु

ऊष्मणि — बाष्पायते स्थाली । अश्रुणि — बाष्पाम्भसां बिन्दवः । समाहारद्वन्द्वे ऊष्माश्रु ॥

कशिपुस्त्वन्नमाच्छादनं द्वयम् ।

अन्नमाहारः । आच्छादनं वस्त्रम् ।

“एकोक्त्या कशिपू भक्ताच्छादने द्वे पृथक्कृते”

इति रभसः । कशिपुस्तालव्यमध्यः पुमांश्च । क्लीबमिति त्रिकाण्डशेषः ॥

तल्पं शय्याददारेषु

अट्टोऽट्टालिका । वक्ष्यमाणोऽस्त्रियामिति तत्प्रेनापि संबध्यते । तथा
च भट्टिः—‘ययुः सुषुप्सवस्तरुणान्’ (स० ८. श्लो० १०१) इति ॥

स्तम्बेऽपि विटपोऽस्त्रियाम् ॥ १२८ ॥

पल्लवे शाखायां च विटपम् ॥

प्राप्तरूपस्वरूपाभिरूपा बुधमनोज्ञयोः ।

भेद्यलिङ्गा अमी

प्राप्तरूपादित्रयं भेद्यलिङ्गं बुधमनोज्ञयोः ॥

कूर्मी वीणाभेदश्च कच्छपी ॥ १२९ ॥

कमठीसारस्वतवीणयोः कच्छपी ॥

पान्तः ।

रवर्णे पुंसि रेफः स्यात् कुत्सिते वाच्यलिङ्गकः ।

फान्तः ।

अन्तराभवसत्त्वेऽश्वे गन्धर्वो दिव्यगायने ॥ १३० ॥

यो मृतो नैव कायान्तरं लभते, किञ्च(न्त्व)शरीरी, स मरणजन्मनो-
र्मध्यमवत्त्वादन्तराभवसत्त्वम् ॥

कम्बुर्ना वलये शङ्खे

वलयो बाहुभूषणम् ॥

द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ ।

सूचकः कर्णेजपः ॥

पूर्वोऽन्यलिङ्गः प्रागाह पुंवहुत्वेऽपि पूर्वजान् ॥ १३१ ॥

पूर्वोऽन्यलिङ्गः वाच्यलिङ्गः सन् प्रागाह पूर्वदिग्देशकालसम्बन्धि वस्तु
आह । यथा — पूर्वो ग्रामः, पूर्वं धनं, पूर्वा नदी । यदा च पूर्वजान्
पितामहादीनाह, तदा पुंवहुत्वे वर्तते । यथा — पूर्वे वदन्ति । पूर्वेः कृतम् ॥

वान्तः ।

कुम्भौ घटेभमूर्धाशौ

इभमूर्धाशो मस्तकपिण्डद्वयम् ॥

डिम्भौ तु शिशुबालिशौ ।

बालिशो मूर्खः ॥

स्तम्भौ स्थूणाजडीभावौ

जडीभावो निष्पन्दता ॥

शम्भू ब्रह्मत्रिलोचनौ ॥ १३२ ॥

विष्णौ च शम्भुः ।

कुक्षिभ्रूणार्भका गर्भाः

गर्भस्थसत्त्वेऽपि भ्रूणः ॥

विस्रम्भः प्रणयेऽपि च ।

“विस्रम्भः स्यात् परिचये विश्वासे विप्रलम्भयोः”

इत्यजयः ॥

स्याद् भेर्यां दुन्दुभिः पुंसि स्यादक्षे दुन्दुभिः स्त्रियाम् ॥

अक्षः पाशकः ॥

स्यान्महारजने क्लीवं कुसुम्भं करके पुमान् ।

महारजने पुष्पे कोसुम्ब इत्येवाख्याते । करके कमण्डलौ ॥

क्षत्रियेऽपि च नाभिर्ना

“सुसदक्षत्रिययोर्नाभिः पुंसि प्राण्यङ्गके द्वयोः ।

चक्रमध्ये प्रधानेऽपि स्त्रियां कस्तूरिकामदे ॥”

इति रभसः ॥

सुरभिर्गवि च स्त्रियाम् ॥ १३४ ॥

वसन्तजातीफलचम्पकेऽपि सुरभिर्ना, सुगन्धिमनोज्ञयोस्त्रिषु ॥

सभा संसदि सभ्ये च

संसद् गोष्ठी । सभ्यः सभासत् ॥

त्रिष्वध्यक्षेऽपि वल्लभः ।

दयिते च वल्लभः ॥

भान्तः ।

किरणप्रग्रहौ रश्मी

अश्वादिसंयमनी रज्जुः प्रग्रहः ॥

कपिभेकौ प्लवङ्गमौ ॥ १३५ ॥

प्रवङ्गमोऽप्यत्र ॥

इच्छामनोभवौ कामौ

निकाम(रेतः)कामे(भ्ये)षु च कामं क्लीबम् ॥

शौर्योद्योगौ पराक्रमौ ।

प्राणमात्रेऽपि पराक्रमः ॥

धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः ॥ १३६ ॥

षट्सु धर्मः ॥

उपायपूर्व आरम्भ उपधा चाप्युपक्रमः ।

उपायज्ञानपूर्वको यः कार्यारम्भः स उपायपूर्वः । अमात्यशीलपरीक्षो-
पाय उपधा ॥

वणिक्पथः पुरं वेदो निगमाः

वणिक्पथो वाणिज्यम् ॥

नागरो वणिक् ॥ १३७ ॥

नैगमौ द्वौ

नगरे भवो नागरः ॥

, बले रामो नीलचारुसिते त्रिषु ।

बले रामो ना, नीलादित्रये त्रिषु ॥

शब्दादिपूर्वो वृन्देऽपि ग्रामः

शब्दादिपूर्वो ग्रामो वृन्दे । यथा — शब्दग्रामः । विषयग्रामः । अपिना
संवसथेऽपि ग्रामः ॥

क्रान्तौ च विक्रमः ॥१३८॥

क्रान्तिः क्रमणम् । पराक्रमो विक्रमः ॥

स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे जिह्वस्तु कुटिलेऽलसे ।

गुल्मा रुक्सभ्यसेनाश्च

रुक्सभ्यो गुल्मपतिरिति केचित् । सभ्योऽपपाठः, स्तम्भ इत्येव पाठ
इत्यन्यः । सेनाभेदः सेना । गुल्मकेऽपि गुल्मः ॥

जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः ॥१३९॥

“प्रहरे संयमे यामो यामिः स्वसृकुलस्त्रियोः”

इति रभसः ।

“जिह्वस्तु कुटिले मन्दे जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः”

इति चवर्गादावजयः ॥

क्षितिक्षान्त्योः क्षमा युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु ।

क्षितिर्भूमिः । युक्ते न्याय्ये ॥

त्रिषु श्यामौ हरित्कृष्णौ श्यामा स्याच्छारिबा निशा ॥

हरिति यथा — शुकः श्यामः । शारिबा श्यामलता । (अनन्तापन ?)
यस्या मूलम् अनन्तमूलमिति ख्यातम् । निशा रात्रिः ॥

ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु ।

“ललाम च ललामं च भूषावाढिवाजिषु ।

चिह्नप्रभावपुण्ड्रेषु प्रधाने ध्वजशृङ्गयोः ॥”

इत्यजयः । अतोऽदन्तमपि ललामम् । पुच्छं लाङ्गूलम् । पुण्ड्रं गवादीनां ललाटे चित्रम् ॥

सूक्ष्ममध्यात्ममपि

आत्मन्यधि अध्यात्मम् । परमात्मनीत्यर्थः । स्वल्पेऽपि सूक्ष्मम् ॥

आदौ प्रधाने प्रथमः

प्रधाने श्रेष्ठे ॥

त्रिषु ॥ १४१ ॥

वामौ बल्लुप्रतीपौ द्वौ

मान्तं यावत् त्रिष्वित्यधिकारः । वामो मनोहरः । यथा — वामलो-
चना । प्रतीपो विपरीतः ॥

अधमौ न्यूनकुत्सितौ ।

न्यूनः ऊनः ॥

जीर्णं च परिभुक्तं च यातयाममिदं द्वयम् ॥ १४२ ॥

परिभुक्तं भुक्तोज्झितम् । यातयामे यद्वयमन्तःस्थम् ॥

मान्तः ।

तुरङ्गगरुडौ ताक्ष्यौ

तुरङ्गोऽश्वः ॥

निलयापचयौ क्षयौ ।

निलयो गृहम् । अपचयो ह्रासः ॥

श्वशुर्यौ देवरक्षालौ

‘राजश्वशुराद् यत्’ (४. १. १३७) इति यत् । श्वशुर्यः ॥

भ्रातृव्यौ भ्रातृजद्विषौ ॥ १४३ ॥

‘भ्रातृव्यच्च’ (४. १. १४४) इति व्यत् । भ्रातृव्यः ॥

पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ

‘पृषु सेचने’ । ‘पर्जन्यः’ (उ० ३. १०३) इत्यनेन अन्यप्रत्ययः
षकारस्य चवर्गीयो जकारश्च निपात्यते । पर्जन्यः । अर्जेर्वान्यप्रत्ययः पु-
डागमश्च धातोः । रसदब्दः सशब्दो मेघः ॥

स्यादर्यः स्वामिवैश्ययोः ।

स्वामी प्रभुः ॥

तिष्यः पुष्ये कलियुगे

पुष्यो नक्षत्रभेदः ॥

पर्यायोऽवसरे क्रमे ॥ १४४ ॥

प्रकारेऽपि पर्यायः ॥

प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु ।

रन्ध्रे शब्दे

अधीने यथा — ‘स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः’ । हेतौ यथा — ‘अपेक्षते
प्रत्ययमुत्तमं त्वाम्’ । (सः?) शब्दः स(न्ध्यः? न्क्य)जादिः ॥

अथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः ॥ १४५ ॥

दीर्घद्वेषश्चिरद्वेषः ॥

स्थूलोच्चयस्त्वसाकल्ये नागानां मध्यमे गते ।

असाकल्यमकात्स्न्यम् । नागानां गजानां मध्यमं गतं गमनं नाति-
त्वरया नातिमन्दं सेवितम् ॥

समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः ॥ १४६ ॥

क्रियाकारो निश्चय इति यावत् (?) ॥

व्यसनान्यशुभं दैवं विपदित्यनयास्त्रयः

व्यसनं भ्रंशादिदोषः । अशुभं दैवविशेषणम् ॥

अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽपि

नाशेऽप्यत्ययः ॥

अथापदि ॥ १४७ ॥

युद्धायत्योः संपरायः

आयतिरागामिकालः ॥

पूज्यस्तु श्वशुरेऽपि च ।

पूजाहेऽपि पूज्यः ॥

पश्चादवस्थापि बलं समवायश्च संनयौ ॥ १४८ ॥

सेनायाः पृष्ठस्थायि बलम् । समवायः समूहः ।

“समुन्नयः समुदये पृष्ठस्थायिवलेऽपि च”

इति त्वजयः ॥

सङ्घाते सन्निवेशे च संस्त्यायः

सन्निवेशो निकर्षणम् ॥

प्रणयास्त्वमी ।

विस्त्रम्भयाच्छाप्तेनाणः

विस्त्रम्भः परिचयः ॥

विरोधेऽपि समुच्छ्रयः ॥ १४९ ॥

विरोधो वैरम् । उन्नतावपि समुच्छ्रयः ॥

विषयो यस्य यो ज्ञातस्तत्र शब्दादिकेष्वपि ।

यस्य यो ज्ञात इति येन य एकान्तं परिशीलितो निषेवित इति यावत् ।

ब्दादिकाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥

निर्यासेऽपि कषायोऽस्त्री

निर्यासः काथरसः ।

“रसभेदेऽङ्गरागे च निर्यासे च विलेपने ।

कषायोऽस्त्री त्रिलिङ्गस्तु सुरभौ रुधिराऽपि च ॥”

इति रभसः ॥

सभायां च प्रतिश्रयः ॥ १५० ॥

आश्रयमन्दिरयोरपि प्रतिश्रयः ॥

प्रायो भूम्नयन्तगमने

भूम्नि बाहुल्ये । अन्तं गम्यतेऽनेनेत्यन्तगमनम् । संन्यासपूर्वकम-
नशनम् ॥

मन्युर्देन्ये क्रतौ क्रुधि ।

‘मन्युर्देन्ये क्रतौ क्रुधी’त्यमरमालायां पुंस्काण्डम् ॥

रहस्योपस्थयोर्गुह्यं

कमठेऽपि गुह्यः पुमान् ॥

सत्यं शपथतथ्ययोः ॥ १५१ ॥

युगभेदेऽपि सत्यम् ॥

वीर्यं बले प्रभावे च

बलं रेतः ॥

द्रव्यं भव्ये गुणाश्रये ।

भव्यो भाग्यसंपन्नः ॥

धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ

भे नक्षत्रे । ‘गृहे धिष्ण्यः पुमान्’ इति शाश्वतः ॥

भाग्यं कर्म शुभाशुभम् ॥ १५२ ॥

शुभाशुभमिति सङ्घातविगृहीतम् । तेन न केवलमशुभं शुभं च ॥

कशेरुहेम्नोर्गोङ्गयं

कशेरु स्वनामप्रसिद्धम् ॥

विशल्या दन्तिकापि च ।

दन्तिका दन्तीमूलम् । ओषधिभेदे च विशल्या ॥

वृषाकपायी श्रीगौर्योः

वृषाकपेर्भार्या वृषाकपायी । 'वृषाकप्यमि—' (४. १. ३७) इत्यादिना
डीवैकारादेशौ ॥

अभिरुषा नामशौभयोः ॥ १५३ ॥

कीर्त्तावप्यभिरुषा ॥

आरम्भो निष्कृतिः शिक्षा पूजनं संश्रधारणम् ।

उपायः कर्म चेष्टा च चिकित्सा च जड क्रियाः ॥ १५४ ॥

आरम्भादिषु नवमु क्रियाशब्दः ॥

छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बलनातपः ।

अनातप आतपाभावः ॥

कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः काञ्चयां मध्ये भवन्धने ॥ १५५ ॥

मध्येभवन्धनं करिकक्षरज्जुः । त्रिकाण्डशेषे तु कक्षा मूर्धन्यान्ते पठ्यते ॥

कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेदे धनादिभिः ।

देवता यज्ञदेवताविशेषः । धनस्त्रीभूम्यादिनिर्भेदनीयो यः परराष्ट्रे पुरुषः
तत्र वर्तमानः कृत्स्नशब्दो वाच्यलिङ्गः । इतः परं यान्तावाधि त्रिष्वित्य-
नुवर्तते ॥

जन्यः स्याज्जनवादेऽपि

जामातृस्निग्धेऽपि जन्यः ॥

जघन्योऽन्त्येऽधमेऽपि च ॥ १५६ ॥

अन्त्ये पश्चाद्भवे ॥

गर्ह्याधीनौ च वक्तव्यौ

गर्ह्यः कुत्सितः । अधीनो वचनग्राही ॥

कल्यौ सज्जनिरामयौ ।

सज्जं संभृतम् । निरामयो नीरुक् ॥

आत्मवाननपेतोऽर्थादर्थ्यौ

आत्मवान् विज्ञः । 'अर्थ्यो विज्ञार्थशालिनोः' इत्यजयः । 'धर्मपथ्यर्थन्या-
यादनपेते' (४. ४. ९२) इति यत् । अर्थ्यः ॥

पुण्यं तु चार्चपि ॥ १५७ ॥

सुकृतेऽपि पुण्यम् ॥

रूप्यं प्रशस्ते रूपेऽपि

'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' (५. २. १२०) इति यप् । रूप्यम् ॥

वदान्यो वल्गुवागपि ।

व(र्ण? ल्गु)वाग् वाग्मी । दानशीलेऽपि वदान्यः ॥

न्याय्येऽपि मध्यं

न्याय्यमुचितम् । आद्यन्ताभ्यामन्यश्च मध्यः ॥

सौम्यं तु सुन्दरे सोमदैवते ॥ १५८ ॥

सोमदैवते यथा — सौम्यं हविः । 'सोमादृचग्' (४. २. ३०)
इति खण् ॥

यान्तः ।

निवहावसरौ वारौ

निवहः समूहः ॥

संस्तरौ प्रस्तराध्वरौ ।

वलकलदर्भादिशय्या प्रस्तरः ॥

गुरू गीर्पतिपित्राद्यौ

गीर्पतिः सुरमन्त्री ॥

द्वापरौ युगसंशयो ॥ १५९ ॥

युगं तृतीयम् ॥

प्रकारौ भेदसादृश्ये

भेदे नानाविधे ॥

आकाराविज्ञिताकृती ।

आकृतिः संस्थानम् ॥

किंशारू धान्यशूकेषू

इषुः शरः । धनुश्च किंशारुः, ना ॥

मरू धन्वधराधरौ ॥ १६० ॥

धन्वा निर्जलो देशः । धराधरो गिरिः ॥

अद्रयो द्रुमशैलार्काः

अर्को रविः ॥

स्त्रीस्तनाव्दौ पयोधरौ ।

अब्दो मेघः ॥

ध्वान्तारिदानवा वृत्राः

स वृत्रो य इन्द्रेण हतः ॥

बलिहस्तांशवः कराः ॥ १६१ ॥

राजग्राह्यो भागो बलिः ॥

प्रदरा भङ्गनारीरुग्वाणाः

नारीरुग् रक्तप्रवाहः ॥

अस्त्राः कचा अपि ।

नेत्राम्बुरुधिरयोरप्यस्रः ॥

अजातशृङ्गो गौः कालेऽप्यश्मश्रुर्ना च तूवरौ ॥ १६२ ॥

प्रातकालेऽपि यस्य गोः शृङ्गं नोत्पद्यते, यस्य वा पुरुषस्य कालेऽपि न श्मश्रुसम्भवः, तौ तूवरौ ॥

स्वर्णेऽपि राः

* 'रादेवीर्विहले (?) स्वर्ण' इति रुद्रः ॥

परिकरः पर्यङ्कपरिवारयोः ।

“भवेत् परिकरो वृन्दे परिवारविवेकयोः ।

आरम्भगात्रिकाबन्धपर्यङ्केषु परिच्छिदे ॥”

इत्यजयः । परिवारः परिजनः ॥

मुक्ताशुद्धौ च तारः स्यात्

मुक्तायाः शुद्धिः धवलता । अत्युच्चस्वरोऽपि तारः ॥

शारो वायौ स तु त्रिषु ॥ १६३ ॥

कर्बुरे

कर्बुरे शबले त्रिषु । शारः तालव्यादिः ॥

१. 'मे' ड. छ. ट. पाठः. २. 'वि' ज., 'वीतिह' ख., 'विः ह' ट. पाठः.

* 'रा दाने विभ्रमे स्वर्णे' इति पाठः स्यात् ।

अथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु संगरः ।

आजिः युद्धम् । संवित् क्रियाकारः । आपद् विपत्तिः ॥

वेदभेदे गुप्तिवादे मन्त्रः

गुप्तिवादे सम्यगालोचने ॥

मित्रो रवावपि ॥ १६४ ॥

सुहृदि मित्रं क्लीबम् ॥

मखेषुयूपखण्डेऽपि स्वरुः

इषुः काण्डम् । दम्भोलौ स्वरुः ॥

गुह्येऽप्यवस्करः ।

गूढेऽप्यवस्करः ॥

आडम्बरस्तूर्यरवे गजेन्द्राणां च गर्जिते ॥ १६५ ॥

तूर्यरवे साङ्ग्रामिके ॥

अभिहारोऽभियोगे च चौर्ये संनहनेऽपि च ।

अपचिकीर्षयाभिक्रम्याक्रमणमभियोगः ॥

स्याज्जङ्गमे परीवारः खड्गकोशे परिच्छदे ॥ १६६ ॥

जङ्गमः परिजनः ।

“(परीवारः)परिजने खड्गकोशे परिच्छदे”

इति रुद्रः ॥

विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम् ।

विटपी वृक्षः । ‘वृक्षासनयोर्विष्टरः’ (८. ३. ९३) इति षत्वम् ॥

द्वारि द्वाःस्थे प्रतीहारः प्रतीहार्यप्यनन्तरे ॥ १६७ ॥

निकटवाङ्मी अनन्तरशब्दः । अनन्तरे द्वाःस्थे प्रतीहारिशब्दा णिन्यन्त इत्यर्थः । अणन्त इत्यपरः ॥

विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु ।

विपुल इति नकुलविशेषणम् ॥

सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु ॥ १६८ ॥

बलं सामर्थ्यम् । स्थिरांशः खदिरसारादिः । न्याय्ये युक्ते क्लीबम् ।
वरे श्रेष्ठे ॥

दुरोदरो द्यूतकरे पणे द्यूते दुरोदरम् ।

द्यूतकरोऽक्षदेवी, तत्र पुंसि । अन्यत्र क्लीबम् ।

“आश्रित्य दुर्गं गिरिकन्दरोदरं क्रीडन्नमुष्मिन् सततं दुरोदरम्”
इति निरुकारं गोवर्धनः पठति ॥

महारण्ये दुर्गपथे कान्तारः पुन्नपुंसकम् ॥ १६९ ॥

दुर्गपथे अनवगम्यवने ॥

मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे तद्वत्कृपणयोस्त्रिषु ।

अन्यशुभद्वेषः परसंपत्तावसहमानता । तद्वति परसंपत्तिद्वेषिणि ॥

देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाविप्रये ॥ १७० ॥

देवात् सकाशाद् वृते वाञ्छिते । मनाविप्रये मनागिष्टे । जामातर्या
वरः ॥

वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री तरुभेदे घटे च ना ।

घटे कलशे ॥

ना चमूजघने हस्तसूत्रे प्रतिसरोऽस्त्रियाम् ॥ १७१ ॥

चमूजघने सेनायाः पश्चाद्भागे ॥

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।

शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥ १७२ ॥

चतुर्देशेषु हरिः ॥

शर्करा कर्परांशोऽपि

कर्परांशो शर्कराख्यः । शर्कराश्म(री?)रोगयोश्च ॥

यात्रा स्याद् यापने गतौ ।

यापनं स्नानभोजनादिना वर्तनम् ॥

इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्

सुरा मद्यम् ॥

तन्द्रा निद्राप्रमीलयोः ॥ १७३ ॥

प्रमीला मोहप्राया ॥

धात्री स्यादुपमातापि क्षितिरप्यामलक्यपि ।

मात्रा उपमिता उपमाता इति व्याख्याता ॥

क्षुद्रा व्यङ्गा नदी वेद्या सरघा कण्टारिका ॥ १७४ ॥

त्रिषु क्रूरेऽधनेऽल्पेऽपि क्षुद्रः

अङ्गविकला व्यङ्गा । सरघा मधुमक्षिका ॥

मात्रा परिच्छदे ।

अल्पे च परिमाणे स्यान्मात्रं कात्स्न्येऽवधारणे ॥ १७५ ॥

परिच्छदः परिकरः । यथा — कापालिकस्य मात्रा । अल्पे यथा —
शाकस्य मात्रा । परिमाणे यथा — किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशः । एषु मात्रा स्त्रि-
याम् । कात्स्न्ये — जीवमात्रं न हि स्यात् । अवधारणे — पयोमात्रं भुङ्के ।
अनयोः क्लीबम् ॥

आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रं

आलेख्यं चित्रकरकर्म ॥

कलत्रं श्रोणिभार्ययोः ।

श्रोणिः कटीभागः ॥

योग्यभाजनयोः पात्रं

योग्यः शक्तः । तीरद्वयान्तरे पात्रम् ॥

पत्रं वाहनपक्षयोः ॥ १७६ ॥

वाहनमश्वादि । पक्षो गरुत् । पर्णेऽपि पत्रम् ॥

निदेशग्रन्थयोः शास्त्रं

निदेश आज्ञा ॥

शस्त्रमायुधलोहयोः ।

आयुधं खड्गादि ॥

स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रं

जटा वृक्षमूलम् । अंशुकं नेत्राख्यम् । लोचनमन्थकर्षणयोरपि
नेत्रम् ॥

क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः ॥ १७७ ॥

केदारसिद्धस्थानयोश्च क्षेत्रम् ॥

मुखाग्रे क्रोडहलयोः पोत्रं

सूकरमुखाग्रे हलमुखाग्रे च पोत्रम् ॥

गोत्रं च नाम्नि च ।

“गोत्रं कुले बले नाम्नि गोत्रस्तु धरणीधरे ।

गोत्रा भुवि गवां वृन्दे”

[त्यजयः ॥

सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च ॥ १७८ ॥

आच्छादने छादने ॥

अजिरं विषये कायेऽपि

विषयो रूपादिः । अङ्गणेऽप्यजिरम् ॥

अम्बरं व्योम्नि वासासि ।

सुगन्धिद्रव्यभेदेऽप्यम्बरम् ॥

चक्रं राष्ट्रेऽपि

“चक्रः कोके व्रजे पुंसि क्लीवे सैन्यरथाङ्गयोः ।

ग्रामजाले कुम्भकारभाण्डे राष्ट्रे च दृश्यते ॥”

इति त्रिकाण्डशेषः ॥

अक्षरं तु मोक्षेऽपि

‘अक्षरं ब्रह्मवर्णयोरिति रुद्रः ॥

क्षीरमप्सु च ॥ १७९ ॥

दुग्धेऽपि क्षीरम् ॥

स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ

प्रचुरेऽपि भूरिस्त्रिषु । स्वर्णपर्याये त्वस्य रूपभेदाद् क्लीबत्वमुक्तम् ।

“इन्दुकर्पूरकम्पिलाश्चन्द्राश्चन्द्रोऽपि हेमनि”

इति रुद्रः ॥

द्वारमात्रे तु गोपुरम् ।

पूर्व्वारे कैवर्तीमुस्तके च गोपुरम् ॥

गुहादम्भौ गह्वरे द्वे

गुहा गुहा इति ख्याता । ‘गह्वरी गुहे’ति तूणादिवृत्तिः ॥

रहोऽन्तिकमुपह्वरे ॥ १८० ॥

रहो विजनम् । अन्तिकं समीपम् ॥

पुरोऽधिकमुपर्यग्राणि

पुर इति पुरस्तात् । प्रलयविनाशेऽप्यग्रम् ॥

अगारे नगरे पुरम् ।

मन्दिरं च

यथा पुरमगारे नगरे च तथा मन्दिरमप्येतयोः ॥

अथ राष्ट्रोऽस्त्री विषये स्यादुपद्रवे ॥ १८१ ॥

विषयो जनपदः । उपद्रवो नागरादिः ॥

दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे

श्वभ्रो गर्तः ॥

वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ ।

पविर्वज्रम् ॥

तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवापे परिच्छदे ॥ १८२ ॥

प्रधाने यथा — स्वतन्त्रः । कुविन्दा येन तन्तुवापं कुर्वन्ति, स सूत्र-
वापः । परिच्छदे पाँचकादौ(?) ॥

औशीरं चामरे दण्डेऽप्यौशीरं शयनासने ।

चमरस्यायं चामरो दण्डः । आसनं पीठादि ॥

पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले ॥ १८३ ॥

व्योम्नि खड्गफले पद्मे तीर्थौषधिविशेषयोः ।

करिहस्ताग्रेऽङ्गुलौ । वाद्यभाण्डमुखं मुरजादिमुखम् । खड्गस्य फलं
मध्यम् ॥

अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ॥ १८४ ॥

छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि च ।

अवकाशे — 'मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्' । अन्तर्धौ — 'ज्योत्स्ना-
न्तराणीव कलान्तराणि' । भेदे — 'यदन्तरं वायसवैनतेययोः' । तादर्थ्ये —
तवान्तरे ऋणं गृहीतम् । छिद्रं रन्ध्रम् ॥

१. 'वायका' ग. छ. च. छ. ज., 'वायिका' क. ख. ट., 'पायिका' घ. पाठः.
२. 'रेण ऋ' ट. पाठः.

मुस्तेऽपि पिठरं

“स्थाल्यां ना पिठरः क्लीबं मुस्तमन्थनदण्डयोः” ॥

राजकशेरुण्यपि नागरम् ॥ १८५ ॥

राजकशेरु विशिष्टं तृणम् । शुण्ठ्यां च क्लीबम् । विदग्धे तु
नागरः ॥

शार्वरं त्वन्धतमसे घातुके भेद्यलिङ्गकम् ।

शार्वरं तालव्यादि । घातुको मारणशीलः । अतः परं वाच्यलिङ्गग्रहणं
रान्तान्तमनुवर्तते ॥

गौरोऽरुणे सिते पीते

चन्द्रेऽपि गौरः ॥

व्रणकार्यप्यरुष्करः ॥ १८६ ॥

भल्लातक्यां चारुष्करः ॥

जठरः कठिनेऽपि स्याद्

“उदरे जठरो न स्त्री बद्धकक्खटयोल्लिषु”

इति रुद्रः ॥

अथ तादपि चाधरः ।

हीने त्वधराल्लिषु । ओष्ठे तु ना ॥

अनाकुलेऽपि चैकाग्रः

अप्येकतानोऽप्येकाग्रः ॥

व्यग्रोऽन्यासक्त आकुले ॥ १८७ ॥

अन्यासक्तो दन्त्यवान् ॥

उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः स्याद्

उदीच्यो देशादिः । प्रतिवाक्ये तु उत्तरं क्लीबम् ॥

अनुत्तरः ।

एषां विपर्यये श्रेष्ठे

उपर्यादीनां विपर्यये अनुत्तरः । नञ्समासः ॥

दूरानात्मोत्तमाः पराः ॥ १८८ ॥

अ(न्याः)नात्मनि यथा — परस्य भोजनमिच्छति ग्लानः ॥

स्वादुप्रियौ च मधुरौ

रसेऽपि मधुरः पुंसि । रसवति त्रिषु । विषेऽपि क्लीबम् ॥

क्रूरौ कठिननिर्दयौ ।

भयङ्करेऽपि क्रूरः ॥

उदारो दातृमहतोः

दक्षिणेऽप्युदारः ॥

इतरस्त्वन्यनीचयोः ॥ १८९ ॥

नीचः पामरः ॥

मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरः

मन्दः मन्थरः ॥

शुभ्रमुद्दीप्तशुक्लयोः ।

दीप्तम् उद्दीप्तम् ॥

रान्तः ।

चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः ॥ १९० ॥

चूडा शिखा । किरीटं रत्नादिघटितम् । संयताः कचाः धम्मिल्लः ॥

हुमप्रभेदमातङ्गकाण्डपुष्पाणि पीलवः ।

मातङ्गो हस्ती ॥

कृतान्तानेहसोः कालः

अनेहा समयः ॥

चतुर्थेऽपि युगे कलिः ॥ १९१ ॥

युद्धेऽपि कलिः ॥

स्यात् कुरङ्गेऽपि कमलः

पद्मजलयोः कमलं क्लीबम् ॥

प्रावारेऽपि च कम्बलः ।

प्रावारे मेषलोमादिमये । उत्तरासङ्गसाखानागविशेषाणामपि कम्बलः ॥

करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गजे स्त्रियाम् ॥ १९२ ॥

करो राजप्रत्यादेयः । उपहारः पूजोपहारः । प्राण्यङ्गजमिति जराश्रुथं चर्म, यौवनादिकृतमुदरे जटिकाकारं च चर्म ॥

स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः ।

सीरी बलभद्रः ॥

वातूलः पुंसि वात्यायामपि वातासहे त्रिषु ॥ १९३ ॥

वातसमूहो-वात्या ।

“वातूलो वातसङ्घाते वातले मरुतोऽसहे”

इति व्याडिः ॥

भेद्यलिङ्गः शठे व्यालः पुंसि श्वापदसर्पयोः ।

शठः खलः । श्वापदो व्याघ्रः ।

मलोऽस्त्री पापविदकिट्टानि

पापम् अपुण्यम् । विट् गूढं^१थम् । किट्टानि स्वेदशिङ्घाणका-
दीनि ॥

अस्त्री शूलं रुगायुधम् ॥ १९४ ॥

रुक् शूलम् । आयुधं त्रिशूलादि । वेश्यायां तु शूला ॥

शङ्कावपि द्वयोः कीलः

शङ्कुः कीलकः । कफोणिघातज्वालयोस्तु कीलः ॥

पालिः स्वयश्च्यङ्कपङ्क्तिषु ।

आश्रिः कोणः ॥

कला शिल्पे कालभेदेऽपि

चित्रं गीतिचित्रादिनैपुण्यम् (?) । कालभेदो निमेषाणां चत्वारिंशदधि-
कपञ्चशतानि ॥

आली सख्यावली अपि ॥ १९५ ॥

आवलिः पङ्क्तिः । सेतौ चालिः ॥

अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि ।

अब्धेरम्बुविकृतिर्जलवृद्धिः । कालो घटिकादिः । मर्यादा सीमा ॥

बहुलाः कृत्तिका गावो बहुलोऽग्नौ शितौ त्रिषु ॥ १९६

शितिः कृष्णः । गावः स्त्रीगव्यः ।

“कृत्तिकासु स्त्रियां भूमि बहुला बहुला गवि ।

एलायां च पुमानग्नौ कृष्णपक्षे शितौ त्रिषु ॥”

इति रभसः ॥

लीला विलासक्रिययोः

केलौ च लीला ॥

उपला शर्करापि च ।

शर्करा खण्डविकारः ॥

“उपलौ रत्नपाषाणावुपला शर्करापि च”

इति रुद्रः ॥

शोणितेऽम्भसि कीलालं

शोणितं रक्तम् ॥

मूलमाद्ये शिफाभयोः ॥ १९७ ॥

आद्यं निजम् ॥

“मूलं निजे शिफायां स्यान्नक्षत्रान्तिकयोरपि”

इत्यजयः ॥

जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपि ।

आनाये यथा — ‘जाले पुनर्निपतितः शफरो वराकः’ इति । अव्य-
क्ता कलिका क्षारकः ॥

शीलं स्वभावे सदृत्ते

शोभनं वृत्तं सदृत्तम् ॥

सस्ये हेतुकृते फलम् ॥ १९८ ॥

सस्यं धान्यादि । हेतुकृते यथा — प्रमाणफलमनुभवः ॥

छदिर्नेत्ररुजोः क्लीबं समूहे पटलं न ना ।

छदिः गृहच्छादनम् ॥

अधःस्वरूपयोरस्त्री तलं

अधोर्धे रसातलम् । स्वरूपे करतलम् ॥

स्याच्चाभिषे पलम् ॥ १९९ ॥

‘पलमुन्मानमांसयोरिति रुद्रः ॥

और्वानलेऽपि पातालं

रसातलेऽपि पातालम् ॥

चेलं वस्त्रेऽधमे त्रिषु ।

वस्त्रे क्लीबं चेलम् । अधमे यथा — ब्राह्मणचेली ॥

कुक्कूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले ॥ २०० ॥

शङ्कुकीर्णश्चभ्रं कीलकाकीर्णगर्तः ॥

निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः ।

निर्णीते केवलं क्लीबम् । यथा —

“केवलं दन्तभङ्गाय दन्तिनः शैलताडनम्” ।

एकस्मिन् यथा — केवलो व्रजति । कृत्स्ने सकले यथा — केवला भिक्षवः ॥

पर्यासिक्षेमपुण्येषु कुशलं शिक्षिते त्रिषु ॥ २०१ ॥

पर्यासिः सामर्थ्यम् । शिक्षितो निपुणः ॥

प्रवालमङ्कुरेऽप्यस्त्री

“वीणादण्डे प्रवालोऽस्त्री विट्टमे नवपल्लवे”

इति रभसः ॥

त्रिषु स्थूलं जडेऽपि च ।

जडोऽजुद्धिः । पीवरेऽपि स्थूलम् ॥

करालो दन्तुरे तुङ्गे

दन्तुरमुन्नतावनतम् ॥

चारौ दक्षे च पेशलः ॥ २०२ ॥

चारुर्जन्ममनोहरः ॥

मूर्खेऽर्भकेऽपि बालः स्यात्

मूर्खार्भकावज्ञशिशू । हस्तिघोटकयोर्बालधौ कुन्तले च पुमान् । द्वीबरे

क्लीबं बालम् ॥

लोलश्चलसतृष्णयोः ।

सतृष्णः साकाङ्क्षः । जिह्वालक्ष्म्योस्तु लोला । (शाखी ?) ॥

लान्तः ।

दवदावौ वनारण्यवह्नी

वनारण्याग्न्योर्दवो दावश्च । बाहुलकात् पचाद्यचि दवः । दुनोतेः
'दुन्योरनुपसर्गे' (३. १. १४२) इति णः । दावः ॥

जन्महरौ भवौ ॥ २०३ ॥

जन्म उत्पत्तिः । संसारेऽपि भवः ॥

मन्त्री सहायः सचिवौ

सहायः निजः ॥

पतिशाखिनरा धवाः ।

शाखी शाखिविशेषः ॥

अवयः शैलमेषार्काः

अर्को रविः ॥

आज्ञाहानाध्वरा हवाः ॥ २०४ ॥

आह्वानमाहूतिः । 'हवतेश्चोपसंख्यान्मि'ति णः । हावः ॥

भावः सत्त्वस्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु ।

सत्त्वे पदार्थे । चेष्टा क्रिया । जन्मनि यथा — बीजादङ्कुरस्य भावः ॥

स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने ॥ २०५ ॥

उत्पाद उत्पत्तिः । गर्भमोचनं प्रसूतिः ॥

अविश्वासेऽपहवेऽपि निकृतावपि निहवः ।

“अविश्वासेऽपलापेऽपि निकृतावपि निहवः”

इति रुद्रश्च ॥

उत्सेकामर्षयोरिच्छाप्रसरे मह उत्सवः ॥ २०६ ॥

उत्सेकः उद्गतिः । अमर्षोऽक्षमा । इच्छाप्रसर इच्छाया अतिरोहः ।
मह आनन्दकालः ॥

अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये ।

सतां मतेरभिप्रायस्य निश्चये निश्चायके । अनुभावो भावबोधकः ।
यथा — देवानुभावः । सतामिति किं, चौरस्य प्रभावः ॥

स्याज्जन्महेतुः प्रभवः स्थानं चाद्योपलब्धये ॥ २०७ ॥

जन्मनो हेतुः कारणम् । आद्योपलब्धये प्रथमज्ञानार्थं, स्थानम् ।
यथा — वाल्मीकिः संस्कृतप्रभवः । हिमालयो गङ्गाप्रभवः ॥

शूद्रायां विप्रतनये शस्त्रे पारशवो मतः ।

ध्रुवो भभेदे क्लीबे तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु ॥ २०८ ॥

भभेदे नक्षत्रभेदे ॥

स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्व्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने ।

ज्ञातौ स्वः पुंसि ॥

स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च ॥ २०९ ॥

स्त्रीकटीवस्त्रबन्धो ग्रन्थिः । 'नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण' । प-
रिपणो वणिजां मूलधनम् ॥

शिवा गौरीफेरवयोः

फेरवः सृगालः ॥

द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः ।

कलहे युद्धे ॥

द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु ॥ २१० ॥

द्रव्ये वस्तुनि । असवः प्राणाः । तथा च निस्सत्त्वो मनुष्यः । सत्त्व-
शब्दो द्वितकारवान् ॥

क्लीबं नपुंसके षण्डे वाच्यलिङ्गमविक्रमे ।

षण्डः तृतीया प्रकृतिः । अत्र वर्तमानः क्लीबशब्दो नपुंसकलिङ्गः ।
अविक्रमोऽलसः ।

“अस्त्री नपुंसके क्लीबं वाच्यलिङ्गमविक्रमे”

इति तु रुद्रः ॥

वान्तः ।

द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ

वैश्यो विद् ॥

द्वौ चराभिमरौ स्पशौ ॥ २११ ॥

चरो गूढपुरुषः । अभिमरः सङ्ग्रामः ॥

द्वौ राशौ पुञ्जमेषाद्यौ

मेषाद्यो मेषवृषमिथुनप्रभृतिः ॥

द्वौ वंशौ कुलमस्करौ ।

मस्करो वेणुः ॥

रहःप्रकाशौ वीकाशौ

प्रकाशः स्फुटः ॥

निर्वेशो भृतिभोगयोः ॥ २१२ ॥

कृतान्ते पुंसि कीनाशः क्षुद्रकर्षकयोस्त्रिषु ।

क्षुद्रः कृपणः ॥

पदे लक्ष्ये निमित्तेऽपदेशः स्यात्

पदे व्याजे ॥ ”

कुशमप्सु च ॥ २१३ ॥

दशावस्थानेकविधापि

अनेकविधावस्था बाल्यादिः ।

“दशावस्था(ववस्थायां ? दीपवर्त्योः) वस्त्रांशे भूम्नि पुंस्त्रियोः”

इति रभसः ॥

आशा तृष्णापि चायता ।

आयता दीर्घा तृष्णा । दिगप्याशा ॥

वशा स्त्री करिणी च स्याद्

वशा आयत्ता ।

“वशा वन्ध्यगवीयूथ्योरायत्तायोषितोरपि”

इत्यजयः ॥

दृग् ज्ञाने ज्ञातरि त्रिषु ॥ २१४ ॥

ज्ञाने बुद्धौ ॥

स्यात् कर्कशः साहसिकः कठोरामसृणावपि ।

कठोरो दृढो निर्दयश्च । अमसृणो दुस्पर्शश्च ॥

प्रकाशोऽतिप्रसिद्धेऽपि

‘प्रकाशः स्फुटरोचिषोः’ इत्यजयः । आतपेऽपि प्रकाशः ॥

शिशावज्ञे च बालिहाः ॥ २१५ ॥

अज्ञो मूर्खः ॥

शान्तः ।

सुरमत्स्यावनिमिषौ

सुरो देवः ॥

पुरुषावात्ममानवौ ।

आत्मा क्षेत्रज्ञः ॥

काकमत्स्यात्खगौ ध्वाङ्क्षौ

मत्स्यात्खगः बकः । 'ध्वाङ्क्षौ च (काकवासना ? बकवायसौ)' इत्यमर-
माला ॥

कक्षौ तु तृणवीरुधौ ॥ २१६ ॥

वीरुत् लता ॥

अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ

प्रग्रहोऽश्वादीनां मुखरज्जुः । रश्मिः किरणः । हरिप्रबोधयमकात् ता-
लव्यान्तोऽप्यभीषुः ॥

प्रैषः प्रेषणमर्दने ।

मर्दनं पीडा । 'प्रैषः प्रेषणपीडयोः' इत्यजयः ॥

पक्षः सहायेऽपि

पञ्चदशदिनात्मकेऽपि काले पक्षः ॥

उष्णीषं शिरोवेष्टकिरीटयोः ॥ २१७ ॥

शिरोवेष्टो वस्त्रादिमयः ॥

शुक्रले मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृषः ।

शुक्रलो बहुलशुक्रः ॥

कोषोऽस्त्री कुङ्मले खड्गपिधानेऽथौघदिव्ययोः ॥ २१८ ॥

अथौघो धनसमूहः ॥

व्यूतेऽक्षे शारिफलकेऽप्याकर्षः

अक्षः पाशकः ॥

अथाक्षमिन्द्रिये ।

ना द्यूताङ्गे कर्षे चके व्यवहारे कलिद्रुमे ॥ २१९ ॥

द्यूताङ्गे पाशकादौ । व्यवहारे यथा — प्राङ्निवाकाक्षदर्शकौ । कलिद्रुमो
विभीतकः ॥

कर्षूर्वार्ता करीषाग्निः कर्षूः कुल्याभिधायिनी ।

कुल्याभिधायिनी नद्यभिधायिनी ।

“करीषाग्नौ पुमान् कर्षूः कुल्यायामपि च स्त्रियाम्”

इति रभसः ॥

पुंभावे तत्क्रियायां च पौरुषं

पुरुषस्य भावे पुरुषस्य क्रियायां च ।

“उर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु ।

भावे कर्मणि च क्लीबं पुरुषस्य च तेजसि” ॥

विषमप्सु च ॥ २२० ॥

“स्त्री विषातिविषायां स्यात् क्लीबे क्ष्वेडे जलेऽपि च” ॥

उपादानेऽप्यामिषं स्याद्

उत्कोचादिकेषूपपादानम् । मत्स्येऽप्यामिषम् ॥

अपराधेऽपि किल्बिषम् ।

स्याद् वृष्टौ लोकधात्र्यंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम् ॥ २२१ ॥

लोकधात्र्यंशो भारतवर्षादिः ।

“पुनपुंसकयोर्वर्षं जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु”

इति रुद्रः ॥

प्रेक्षा नृत्येक्षणं प्रज्ञा

नृत्येक्षणं वीक्षणम् । प्रज्ञा धीः ॥

भिक्षा सेवार्थना भृतिः ।

अर्थेना याच्या ॥

त्विद् शोभापि

‘कान्तौ वाचि रुचौ त्विद् स्त्री’ इति रभसः ॥

त्रिषु परे

परे षान्तास्त्रिषु ।

न्यक्षं कात्स्न्यनिकृष्टयोः ॥

कात्स्न्यं साकल्यम् । निकृष्टोऽधमः । ‘न्यक्षौ कात्स्न्यनिकृष्टावि’त्य-
मरमाला ॥

प्रत्यक्षेऽधिकृतेऽध्यक्षः

अधिकृतो ग्रामादिष्वधिकृतः ॥

स्वक्षस्त्वप्रेम्ण्यचिक्कणे ।

अप्रेम्णि प्रेमशून्ये ॥

षान्तः ।

रविश्वेतच्छदौ हंसौ ।

श्वेतच्छदो हंसः ॥

सूर्यवह्नी विभावन् ॥ २२३ ॥

वह्निः अग्निः ॥

वत्सौ तर्णकवर्षौ द्वौ

तर्णको गोपोतः । वर्षो वत्सरः ॥

सारङ्गाश्च दिवौकसः ।

सारङ्गाश्चातकाः । देवाश्च दिवौकसः ॥

शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ॥ २२४ ॥

शृङ्गारादयो नव नाट्यरसाः । विषं क्ष्वेदं जलं च । वीर्यं पारतः । गुणे
तिक्तादौ । रागो रक्तिः ॥

पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे ।

“शेखरे कर्णपूरेऽस्त्री स्यादुत्तंसोऽवतंसवत्”

इति रुद्रः ॥

देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु ॥ २२५ ॥

रश्मिः प्रग्रहः किरणं च । रत्नधनयोः क्लीबं वसु ॥

विष्णौ च वेधाः

ब्रह्मणि पण्डिते च वेधाः ॥

स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाहिदंष्ट्रयोः ।

हिताशंसा अभीष्टाशंसनम् ॥

लालसे प्रार्थनौत्सुक्ये

“तृष्णातिरेके वाञ्छायामौत्सुक्ये लालसा द्वयोः”

इति रुद्रः ॥

हिंसा चौर्यादिकर्म च ॥ २२६ ॥

आदिना त्रासनबन्धनादिविधेऽपि हिंसा ॥

प्रसूरश्वापि

अश्वा बडवा । माता च प्रसूः ॥

भूद्यावौ रोदस्यौ रोदसी च ते ।

भूद्यावौ सहिते विगृहीते च रोदसीरोदःशब्दयोर्वाच्ये । तथाचाजयः—

“रोदसी रोदसा सार्धं पृथ्वीस्वर्गे दिवि क्षितावितौ”

ज्वालाभान्वोर्न पुंस्यर्चिः

मयूखो भानुः ॥

ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु ॥ २२७ ॥

“ज्योतिर्ना भास्करेऽग्नौ च क्लीबं भद्योतदृष्टिषु”

इति रुद्रः ॥

पापापराधयोरग्नः

आगः क्लीबम् ॥

खगवाल्यादिनोर्वयः ।

खगः पक्षी । वाल्यादि यौवनादि ॥

तेजःपुरीषयोर्वर्चः

वर्चः क्लीबम् ॥

महस्तूत्सवतेजसोः ॥ २२८ ॥

तेजो रश्मिः ॥

रजो गुणे च स्त्रीपुष्पे

गुणः रज इति ख्यातः आत्मगुणः । स्त्रीपुष्पम् आर्तवम् ॥

राहौ ध्वान्ते गुणे तमः

गुणे तमआख्ये आत्मगुणे ॥

छन्दः पद्येऽभिलाषे च

अभिलाष इच्छा । वेदेऽपि छन्दः ॥

तपः कृच्छ्रादिकर्म च ॥ २२९ ॥

सान्तपनादिकं कृच्छ्रं व्रतम् । धर्मेऽपि तपः । शिशिरर्तुमाघयोस्तु

उमान् ॥

सहो बलं संहामार्गः

सहो बलम् । मार्गे सहाः पुमान् ॥

नभः खं आवणो नभाः ।

खमाकाशम् ॥

ओकः सद्माश्रयश्चौकाः

आश्रय इत्याश्रयमात्रम् ॥

पयः क्षीरं पयोऽम्बु च ॥२३०॥

क्षीरं दुग्धम् ॥

ओजो दीप्तौ बले

अवष्टम्भेऽप्योजः ॥

स्रोत इन्द्रिये निम्नगारये ।

* इन्द्रिये ॥

तेजः प्रभावे दीप्तौ च बले शुक्लेऽपि

बलं पराक्रमः ॥

अतस्त्रिषु ॥२३१॥

अतः परे सान्तास्त्रिषु ॥

विद्वान् विदंश्च

विदन् प्राज्ञः । आत्मवित्पण्डितयोरपि विद्वान् ॥

बीभत्सो हिंस्रोऽपि

हिंस्रो हिंसाशीलः ।

“बीभत्सो विकृते पार्थे क्रूरे पापिघृणात्मनोः”

इत्यजयः ॥

* ‘इन्द्रि...न्द्रिये’ इति ग. च. ज. पुस्तकेषु सान्तरः पाठो दृश्यते । अत इन्द्रि-
रे इन्द्रिये इति पाठः सम्भाव्यते ।

अतिशये त्वमी ।

अमी सान्तपर्यन्ता अतिशये वर्तन्ते । सर्वे स्त्रियां ङ्यन्ताः ॥

वृद्धप्रशस्ययोज्यायान्

अतिशयवृद्धेऽतिशयप्रशस्ते ज्यायान् ॥

कनीयास्तु युवाल्पयोः ॥ २३२ ॥

अत्यर्थतरुणाल्पयोः कनीयान् ॥

वरीयास्तूरुवरयोः

अतिमहति अतिश्रेष्ठे च वरीयान् ॥

साधीयान् साधुबाढयोः ।

अत्यर्थशोभने अत्यर्थगाढे च साधीयान्

सान्तः ।

दलेऽपि बर्ह

दलं पत्रम् । मयूरपिच्छोऽपि बर्हम् ॥

निर्वन्धोऽपरागाकादयो ॥ २३३ ॥

निर्वन्धो बालग्रहः । सूर्याचन्द्रमसो राहुग्रसनमुपरागः । आदिना चन्द्रादयोऽष्टौ ॥

द्वार्यापीडे काथरसे निर्यूहो नागदन्तके ।

द्वारि द्वारे । आपीडः शेखरः । काथरसे घने द्रव्यनिर्यासे । आलम्ब-
नार्थं गेहादिभित्तिनिर्गतं काष्ठद्वयं नागदन्तकः ॥

तुलासूत्रेऽश्वदिरश्मौ प्रग्राहः प्रग्रहोऽपि च ॥ २३४ ॥

वाणिजां तुलादण्डस्य सूत्रे । अश्ववृषादीनां रश्मौ योक्त्रे । प्रग्रहो-
ऽप्येतयोः ॥

पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः ।

आदानं स्वीकारः । शापः शपथः ॥

दारेषु च गृहाः

गृहेऽपि गृहाः पुंसि ॥

श्रोण्यामप्यारोहो वरस्त्रियाः ॥ २३५ ॥

“हस्त्यारोहे दुमाङ्गे च वरारोहाकटावपि ।

आरोहणेऽपि चारोहो दीर्घत्वेऽपि समुच्छ्रये” ॥

व्यूहो वृन्देऽपि

बलविन्यासे व्यूहः ॥

अहिर्वृत्रेऽपि

वृत्रे वृत्रासुरे । सर्पेऽप्यहिः ॥

अग्नीन्द्रकास्तमोपहाः ।

अर्को रविः ॥

परिच्छदे नृपाह्नेऽर्थे परिवर्हः

नृपाह्नेऽर्थः सितच्छत्रादिः ॥

हान्तः ।

अव्ययाः परे ॥ २३६ ॥

परेऽनेकार्था अव्यया उच्यन्ते ॥

आङ्गिषदर्थेऽभिध्यासौ सीमार्थे धातुयोगजे ।

आङ्गित्यव्ययो ङकारानुबन्धवान् । ईषदर्थे— आपिङ्गलः । अभिध्या-
सौ—आजन्म ब्रह्मचारी । सीमार्थे— आ उदकान्तात् (न?) प्रोषन्तं प्रियमनु-
व्रजेत् । धातुयोगजे क्रियायोगज इत्यर्थः । यथा — आहरति ॥

आ प्रगृह्यः स्मृतौ वाक्येऽपि

आ इत्याङित् । स च 'निपात एकाजनाङ्' (१. १. १४) इति प्रगृह्य-
संज्ञकः । स्मृतौ — आ ज्ञातं स जटायुरेष इति । वाक्ये — आ एवं मन्यसे
इति । एवं मन्यसे इत्यर्थः ॥

आस्तु स्यात् कोपपीडयोः ॥ २३७ ॥

सविसर्ग आः कोपपीडयोः ॥

पापकुत्सेषदर्थे कु

पापे — कुब्राह्मणः । कुत्सायां — कुदानमप्रीतिकरम् । कुशब्दस्ये-
षदर्थस्य कादेशे कोष्णम् ॥

धिङ् निर्भर्त्सननिन्दयोः ।

अपकारैर्भयोत्पादनं निर्भर्त्सनम् ॥

चान्वाचयसमाहारेतरेतरसमुच्चये ॥ २३८ ॥

एकस्य यत्र प्राधान्येन विधानमपरस्य तदनुष्ठानाविरोधितया, सोऽन्वाचयः ।
यथा — भिक्षामट गाश्चानय । समाहारे — शुष्मिणीं हरीतकीं चाङ्घ्रि । इतरे-
तरे — माता पिता च जयतः । समुच्चये — योगिने रोगिणे च दद्यत् ॥

स्वस्त्याशीःक्षेमपुण्यादौ

आशीः आशीर्वादः । स्वस्ति ते भूयात् । क्षेमे — 'नि(सृत्य ? वर्त्य)
मां स्वस्ति गताः स्वयूथ्याः' । पुण्यं पापक्षालनम् । आदिना मङ्गलादौ ॥

प्रकर्षे लङ्घनेऽप्यति ।

प्रकर्षो नितान्तम् । लङ्घनमतिक्रमणम् । अपिना प्रशंसायामपि ॥

स्वित् प्रश्ने च वितर्के च

वितर्को विकल्पः ॥

तु स्याद् भेदेऽवधारणे ॥ २३९ ॥

भेदः पृथक्करणम् ॥

सकृत् सहैकवारे चापि

सकृद् दन्त्यादिः ॥

आराद् दूरसमीपयोः ।

आराद् ग्रामः, शनैर्गच्छ ॥

प्रतीच्यां चरमे पश्चाद्

प्रतीच्यां पश्चिमायां दिशि । यथा — पश्चादागतः । चरमे — 'आरो-
पितं यद् गिरिशेन पश्चात्' । कुमारोत्पत्तिकालादित्यर्थः ॥

उताप्यर्थविकल्पयोः ॥ २४० ॥

'उत बाढविकल्पयोरि'त्यजयः ॥

पुनःसहार्थयोः शश्वत्

शश्वत् तालव्यः ॥

साक्षात् प्रत्यक्षतुल्ययोः ।

साक्षाद् दन्त्यादिः ॥

खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत ॥ २४१ ॥

आमन्त्रणे — एहि बत ॥

हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः ।

वाक्यारम्भे — हन्त वदामि त्वाम् ॥

प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः ॥ २४२ ॥

मुख्यसदृशः प्रतिनिधिः । यथा — विष्णुरर्जुनतः प्रति । सदृश इ-
त्यर्थः । (प्रा ? व्या)मुमिच्छा वीप्सा । वृक्षं वृक्षं प्रति । लक्षणे — वृक्षं प्रति वि-
द्योतते विद्युत् । आदिना इत्थम्भूताख्यानभागप्रतिदानस्तोकेषु । कञ्चित् प्रका-
रमापन्न इत्थंभूतः, तस्याख्याने — साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति । भागे — य-
दत्र मां प्रति स्यात् । गृहीतस्य प्रत्यर्पणं प्रतिदानम् । तिलेभ्यः प्रति माषान्
प्रयच्छति । स्तोके — अन्नं प्रति । शाकं प्रति । प्रयोगत इति शिष्टप्रयोगा-
नुसारतः ॥

इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु ।

हेतौ — हस्तीति पलायते । प्रकरणं प्रक्रमः प्रस्ताव इति पर्यायाः ।
यथा — इति वृत्तान्तः । एषोऽयं प्रस्ताव इत्यर्थः । प्रकाशे — इति पाणि-
नेर्यशः । प्रकटमित्यर्थः । आदौ — 'शमित्यष्टाभ्यो विनुग्' । (३.२.१४१)
समाप्तौ — हलिति प्रत्याहारः ॥

प्राच्यां पुरस्तात् प्रथमे पुरार्येऽग्रत इत्यपि ॥ २४३ ॥

चतुर्षु पुरस्तात् ॥

यावत् तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे ।

यावत्तावच्छब्दौ चतुर्षु ॥

मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येऽवथो अथ ॥ २४४ ॥

अथोअथशब्दौ पञ्चसु ॥

वृथा निरर्थकाविध्योः

अविधौ यथा — 'वृथावाक्यं च वर्जयेत्' ॥

नानानेकोभयार्थयोः ।

अनेकार्थे बहुलप्रकारे ॥

नु पृच्छायां विकल्पे च

पृच्छा प्रश्नः ॥

पश्चात्सादृश्ययोरनु ॥ २४५ ॥

पश्चादर्थे — अनु रथं गच्छ । सादृश्ये — मातरमनुकरोति ॥

प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु ।

अवधारणमेवार्थः । अनुनयः सान्त्वनम् ॥

गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासंभावनास्वपि ॥ २४६ ॥

पवर्गीयपकारवानयमपिशब्दः । गर्हा निन्दा ॥

उपमायां विकल्पे वा

उपमायां — शुक्तौ वा रजताकारः ॥

सामि त्वर्धे जुगुप्सिते ।

अर्धे — सामि भुक्तम् ॥

अमा सह समीपे च

समीपम् अन्तिकम् ॥

कं वारिणि च मूर्धनि ॥ २४७ ॥

‘कं शिरस्सुखतोयेष्वि’त्यजयः ॥

इवेत्थमर्थयोरेवं

इवार्थ औपम्यम् । इत्थंशब्दार्थः प्रकारः । ‘एवंप्रकार औपम्य’
इत्यजयः ॥

नूनं तर्केऽर्थनिश्चये ।

तर्के ऊहे । अर्थनिश्चये — ‘नूनं साहसिकेन चूतमुकुले दृष्टिः समा-
रोपिता’ ॥

तूष्णीमर्थे सुखे जोषं

तूष्णीमर्थो मौनम् । ‘जोषं तूष्णीं सुखेऽव्ययमि’ति त्ववर्गादावजयः ॥

किं पृच्छायां जुगुप्सने ॥ २४८ ॥

जुगुप्सायां — स किंराजा, यो न रक्षति ॥

नाम प्राकाश्यसंभाव्यक्रोधोपगमकुत्सने ।

पञ्चमु नाम । प्राकाश्ये — ‘राजाभूच्छूद्रको नाम’ । सम्भाव्ये —
अपीह भविष्यति सीता नाम । क्रोधे — किन्नाम शकुनः । उपगमः स्वी-
कारः । अस्तु नाम धनी, किञ्चिद् ददाति । कुत्सने — स्नानेऽपि नाम पुण्यम् ॥

अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम् ॥ २४९ ॥

भूषणे — कन्यामलङ्करोति । पर्याप्तिः पूर्णता । यथा — अलं
मुक्तवान् । शक्तौ — अलं मल्लो मल्लाय । वारणे — अलं बाले ! रुदित्वा ।
निरर्थकेऽप्यलम् ॥

हुं वितर्के परिप्रश्ने

अनुमतौ च हुम् ॥

समयान्तिकमध्ययोः ।

अन्तिके निकटे ॥

पुनरप्रथमे भेदे

अप्रथमे — पुनर्ददाति । भेदे — भ्रातृषु पुनर्दीर्घो भवान् ॥

निर्निश्चयनिषेधयोः ॥ २५० ॥

निश्चये — निरुक्तम् ॥

स्यात् प्रबन्धे चिरातीते निकटान्तिके पुरा ।

प्रबन्धो वाक्यरचना पुराणादिः, चिरन्तन इति यावत् । अतीतं भूतम् । निकटः सन्निहितः । आगामिनि अनागते ॥

ऊर्यूरी चोररी च विस्तारेऽङ्गीकृतौ त्रयम् ॥ २५१ ॥

ऊ(र)र्यादित्रयं विस्तारेऽङ्गीकारे च ॥

स्वर्गे परे च लोके स्वर

परे चेति लोकविशेषणम् । व्योम्नि च स्वः ॥

वार्तासंभाव्ययोः किल ।

वार्तायाम् — एवं किल राजाभवत् । संभाव्ये — स ते किल दास्यति ॥

निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु ॥ २५२ ॥

निषेधे — किं खलु रुषित्वा । वाक्यालङ्कारे — अथ खलु स भवान् विस्तीर्णां परिषदमामन्त्रयते स्म । जिज्ञासायां — किं खलु जानासि । सान्त्वने — देहि खलु प्रतिवचनम् ॥

समीपोभयतः शीघ्रसाकल्याभिमुखेऽभितः ।

साकल्ये — अभितो वनं दग्धम् ॥

नामप्राकाश्ययोः प्रादुः

नामशब्दार्थे प्रादुः । अनादरणीयं केचिज्जन्म वर्णयन्ति । प्रादुर्भूतानि
सौधे तृणानि । प्राकाश्ये — प्रादुर्भवन्ति निशि तारकाः ॥

मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि ॥ २५३ ॥

रहसि विजने ॥

तिरोऽन्तर्धौ तिर्यगर्थे

तिर्यगर्थे — तिरः कृत्वा का(ण्डः/ण्डं) गतः ॥

हा विषादशुगर्तिषु ।

खेदशोकदुःखेषु हा ॥

अहहेत्यद्भुते खेदे

अद्भुते विस्मये — अहह कथं जानासि । खेदे — अहह विधेरपु-
ष्यता ॥

हि हेताववधारणे ॥ २५४ ॥

हेतुः कारणम् । विशेषेऽपि हिः । दीर्घान्तस्तु ईः खहेतौ ॥

इति वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे

अनेकार्थवर्गः ।

अथाव्ययवर्गः ।

चिरायचिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थकाः ।

चिरायेत्यादयस्त्रयो दीर्घकालवाचकाः । आदिना चिरं चिरेण चिरा-
त्पित्यादि ॥

मुहुः पुनःपुनः शश्वदभीक्षणमसकृत् समाः ॥ १ ॥

मुहुः पञ्चकमसकृदर्थे पौनःपुन्ये ॥

साग् झटित्यञ्जसाहाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते ।

सागादयः (पञ्च ? सप्त) द्रुते शीघ्रे । मङ्क्षुशब्द ओष्ठ्यादिरनुस्वारवा-
नुकारान्तः । साग् दन्त्यसः ॥

बलवत् सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे ॥ २ ॥

बलवत्षट्कं निर्भरे अतिशये । किमुत समस्तम् ॥

पृथग् विनान्तरेणार्ते हिरुङ् नाना च वर्जने ।

पृथक्षट्कं वर्जने वियोगे । विनञ्भ्यां नानाञौ प्रत्ययौ । विना ना-
ना । मध्यार्थवाच(कमःको)ऽप्यन्तरेणशब्दः । मध्यार्थे सामीप्ये च हिरुक् ॥

यत् तद् यतस्ततो हेतौ

यदादिचतुष्टयं हेतौ ॥

असाकल्ये तु चिच्चन ॥ ३ ॥

चिदादिद्वयमसाकल्ये । यथा — किञ्चित् किञ्चन ॥

कदाचिज्जातु

कदाचिद्वयं कदाचिदर्थे । जातु चवर्गीयतृतीयादि ॥

सार्धं तु साकं सत्रा समं सह ।

सार्धपञ्चकं सहार्थे । सजूश्शब्दोऽप्यत्र ॥

आनुकूल्यार्थकं प्राध्वं

प्राध्वंशब्द आनुकूल्ये । नम्रेऽपि प्राध्वम् ॥

व्यर्थके तु मुधा वृथा ॥ ४ ॥

मुधाद्वयं व्यर्थके निष्फले ॥

आहो उताहो किमुत विकल्पे किं किमूत च ।

आहोषट्कं विकल्पे वितर्के ॥

“दृष्ट आहो उताहो च विकल्पार्थे प्रयोक्तृभिः”

इति भागुरिः । एवं दीर्घादिः ॥

“ईश्वरेऽधिकृतेऽधि स्याद् विकल्पे विस्मयेऽप्यहो”

इति रुद्रो ह्रस्वं पठति । उताहो किमुतेति च समस्तम् । किं किमु उत इति शब्दत्रयम् । उत ह्रस्वादि ॥

तु हि च स्म ह वै पादपूरणे
तुषट्कं श्लोकपादपूरणे ॥

पूजने स्वती ॥ ५ ॥

सुशब्दोऽतिशब्दश्च पूजने ॥

दिवाहीति

दिवाशब्दोऽहि दिने ॥

अथ दोषा च वक्तुं च रजनाविति ।

अहीति रजनावितीतिशब्दाभ्यां दिवादोषादीनामधिकरणप्रधानतां दर्शयति । रजनौ रात्रौ दोषाद्वयम् ॥

तिर्यगर्थे साचि तिरोऽपि

तिर्यगर्थे वक्रार्थे साचिद्वयम् । ‘साचि स्त्रियामि’ति तु रत्नकोषः ॥

अथ सम्बोधनार्थकाः ॥ ६ ॥

स्युः प्याट् पाडङ्ग हे हे भोः

प्याट्पट्कं संबोधने । प्याट् पाट् पवर्गीयादी । अङ्ग इतिच्छेदः ॥

समया निकषा हिरूक् ।

समयात्रयं मध्ये । तथाच विश्वप्रकाशः — ‘समयान्तिकमध्ययोरिति ।

“निकषा त्वन्तिके मध्ये रक्षोवाची त्वनव्ययम्”

इति । निकटे त्रयमिदमिति केचित् । तदयुक्तम् । निकषान्तिक इति वक्ष्यमाणेन पुनरुक्तेः । समयान्तिकमध्ययोरिति पुनरुक्तिर्न दोषः ।

“भूरि यो गा ये येषु पर्यायेष्वपि तेषु ते”
इत्यनेन परिहृतत्वात् ॥

अतर्किते तु सहसा

अतर्कितेऽनालोचिते सहसा ॥

स्यात् पुरः पुरतोऽग्रतः ॥ ७ ॥

पुरस्त्रयम् अग्रत इत्यर्थे । ‘पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्’ (५. ३.
३९) इति असि पुरादेशश्च । पुरः । परतो निरुकारः शब्द इत्यन्यः ॥

स्वाहा देवहविर्दाने औषड् वौषड् वषट् स्वधा ।

देवहविर्दाने स्वाहापञ्चकम् । पितृहविर्दानेऽपि स्वधा ॥

किञ्चिदीपन्मनागल्पे

किञ्चिन्नयमल्पेऽणौ ॥

प्रेत्यालुत्र भवान्तरे ॥ ८ ॥

भवान्तरे जन्मान्तरे प्रेत्यद्वयम् । प्रेत्यशब्दोऽदन्तः(?) ॥

वद् वां यथा तथैवैवं साम्ये

वदादिषट्कं साम्ये सादृश्ये । अग्निवदयं वटुः ॥

अहो ही च विस्मये ।

अहोद्वयं विस्मये । अहो ह्रस्वादि । प्रमादेऽपि ही ॥

मौने तु तूष्णीं तूष्णीकां

तूष्णीमादिद्वयं मौने । ‘अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम्प्रत्ययो दक्त-
व्यः’ (५. ३. ७९) इति काम्प्रत्ययः । मकारो ‘मिदचोऽन्त्यात् परः’ (१. १.
४७) इति विशेषणार्थः । तूष्णीकाम् ॥

सद्यः सपदि तत्क्षणे ॥ ९ ॥

सद्योद्वयं (क्ष? तत्क्ष)णे । 'सद्यःपरुद्—' (५. ३. २२) इत्यादिसूत्रे सद्यो निपातितः । अहन्यभिधेये वस्प्रत्ययः प्रकृतेश्च समावः । समाने अहनि सद्यः ॥

दिष्टया शमुपजीषं चेत्यानन्दे

आनन्दे चित्तानन्दे दिष्टयात्रयम् । शं तालव्यादि । शुभसन्तोषशब्दावप्यत्र ॥

अथान्तरेऽन्तरा ।

अन्तरेण च मध्ये स्युः

अन्त(स्त्र?रेत्र)यं मध्ये ॥

प्रसह्य तु हठार्थकम् ॥ १० ॥

हठार्थकं बलात्कारार्थकम् ॥

युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने

युक्ते उचिते साम्प्रतद्वयम् ॥

अभीक्षणं शश्वदनारते ।

अभीक्षणमादिद्वयमनारते सतते ॥

अभावे नह्य नो नापि

नहिचतुष्टयमभावे । नहि समस्तम् । नहिशब्दात् परः अकारः । यथा — नहि स्थूलम् । अस्थूलः । नो जागर्ति । न जागर्ति ।

“नहि नोऽना न मा मास्म प्रतिषेधे प्रकीर्तिताः”

इति त्रिकाण्डम् । अपिशब्देन अनशब्दस्य ग्रहणम् । तथाच शृङ्गारप्रकाशः — ‘अनोपमा ते बुद्धिरिति’ ॥

मास्म मालं च वारणे ॥ ११ ॥

मास्मत्रयं वारणे निषेधे ॥

पक्षान्तरे चेद् यदि च

वेत्तादित्यं पक्षान्तरे ॥

तत्त्वे त्वद्वाञ्जसा द्वयम् ।

अद्वा द्वयं तत्त्वे सत्ये । 'रवा बद्धा' इति कप्तिणाभ्युदये भाषासमा-
वेशः । तत्र प्राकृतपक्षे रवाः शब्दाः बद्धाः संयताः । बन्ध बन्धने क्तः ।
संस्कृते तु रवौ सूर्ये अद्वा तत्त्वमिति प(रिः द)च्छेदः । अञ्जसाशब्दो दन्त्य-
सकारवान् ॥

प्राकाशये प्रादुराविः स्याद्

प्राकाशये स्फुटत्वे प्रादुरादिद्वयम् ॥

ओमेवं परमं मते ॥ १२ ॥

मतेऽनुमते ओमादित्रयम् ।

“अव्ययं स्यादनुज्ञाने परमं परमः परे”

इति रुद्रः ॥

समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि ।

समन्ततआदिचतुष्टयं सर्वत इत्यर्थे । समन्तादित्यप्यत्र ॥

अकामानुमतौ कामम्

अकामानुमतौ अनिच्छयानुमतौ कामम् । अथवा आकामानुमता-
विति दीर्घोऽयमाकारः, न नञ् । तेन निकामानुमतौ काममित्यर्थः । तथाच
त्रिकाण्डे — 'कामं कामाभ्यनुज्ञायामि'ति ॥

असूयोपगमेऽस्तु च ॥ १३ ॥

असूयापूर्वके उपगमे अस्तु । यथा — अस्तु नाम शूरः, तथापि
जेप्यामि ।

“असूयायामनुज्ञाने पीडाशमस्तु दृश्यते”

इति रुद्रः ॥

ननुच स्यात् विरोधोक्तौ

ननुचेति समस्तं विरोधोक्तौ ॥

कच्चित् कामप्रवेदने ।

कामप्रवेदने इच्छाया आख्यानं कच्चित् ॥

निःषमं दुःषमं गह्वे

निःषमद्वयं गह्वे । 'सुविनिर्दुर्भ्यः—' (८. ३. ८८) इति मूर्धन्य-
षत्वम् ॥

यथास्वं तु यथायथम् ॥ १४ ॥

यो य आत्मा यश्चात्मीयः तत्र यथास्वमादिद्वयम् । यथास्वमिति बी-
प्तायामव्ययीभावः । स्वशब्दोऽत्रात्मीयवचनः आत्मवचनश्च । 'यथास्वे यथा-
यथम्' (८. १. १४) इति यथायथं निपातितम् ॥

मृषा मिथ्या च वितथे

वितथेऽस्त्ये मृषाद्वयम् ॥

यथार्थं तु यथातथम् ।

यथार्थद्वयं सत्ये ॥

स्युरेव तु पुनर्यै वेल्यवधारणवाचकाः ॥ १५ ॥

एवादयः पञ्चावधारणे । चकारोऽयमन्त इति रुद्रः । वांकार
इत्यन्यः ॥

प्रागतीतार्थकं

अतीतार्थं प्राक् ॥

नूनमवश्यं निश्चये द्वयम् ।

नूतमादिद्वयं निश्चये ॥

संवत् वर्षे

वर्षे वत्सरे उक्तः ॥

अवरे त्वर्वाग्

अर्वागवरे । यथा — अर्वाक् तीरम् ॥

आमेवं

आमित्येवंशब्दार्थे ज्ञानावधारणे । 'आं ज्ञाननिश्चये' इति हि
वोपादितः ॥

स्वयमात्मना ॥ १६ ॥

आत्मनेत्यस्यार्थे स्वयम् ॥

अल्पे नीचैः

दैर्घ्येणाल्पे नीचैः ॥

महत्युच्चैः

दीर्घत्वेन महति उच्चैः ॥

प्रायो भूम्नि

भूम्नि बाहुल्ये प्रायः ॥

अद्रुते शनैः ।

अशीघ्रे शनैः ॥

सना नित्ये

सना नित्ये । सदाशब्दोऽप्यत्र ॥

बहिर्बाह्ये

बाह्ये बहिः ॥

स्मातीते

स्मशब्दोऽतीते ॥

अस्तमदर्शने ॥ १७ ॥

अदर्शनेऽस्तम् ॥

अस्ति सत्त्वे

सत्त्वे विद्यमाने अस्ति ॥

रूपोक्ताव्

रूपोक्तौ रोषे । ऊ इति दीर्घादिः ॥

उं प्रश्ने

प्रश्ने पृच्छायाम् । उं ह्रस्वादिः ॥

अनुनये त्वयि ।

अनुनये सान्त्वने अयि । यरलवीययकारः ॥

हुं तर्के स्याद्

तर्के वितर्के हुम् ॥

उषा रात्रेरवसाने

रात्र्यन्ते उषा ॥

नमो नतौ ॥ १८ ॥

नतौ प्रणामे नमः ॥

पुनरर्थेऽङ्ग

अङ्ग पुनरर्थे ॥

निन्दायां दुष्टु

दुष्टु निन्दायाम् ॥

सुष्टु प्रशंसने ।

सुष्ठु प्रशंसायाम् ॥

सायं साये

साये दिनान्ते सायम् ॥

प्रगे प्रातः प्रभाते

प्रगेप्रातःशब्दौ प्रभाते । प्रातःशब्दो रेफान्तः ॥

निकषान्तिके ॥ १९ ॥

अन्तिके समीपे निकषा ॥

परुत् परायैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति ।

पूर्वे अब्दे वर्षे परुत् । पूर्वतरे अब्दे वर्षे परारि । यति गच्छति, वर्तमाने अब्दे वर्षे इति यावत् । ऐषमः मूर्धन्यषः । शब्दत्रयं 'सद्यः-परुद् —' (५. ३. २२) इत्यादिसूत्रेण निपातितम् । पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारिचप्रत्ययौ, इदम् ऐभावः समसणप्रत्ययश्च निपात्यन्ते ॥

अद्यात्राहि

अत्रास्मिन्नहनि अद्यशब्दः ॥

अथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् ॥ २० ॥

तथाधरान्यान्यतरेतरात् पूर्वेष्वुरादयः ।

पूर्वेऽह्नीत्यादिशब्देन उत्तरेऽह्नीत्यादीनां षण्णां ग्रहणम् । पूर्वेष्वुरादय इत्यादिशब्देन उत्तरेद्युःप्रभृतीनां षण्णां ग्रहणम् । तद् यथा — पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेष्वुः । उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः । अपरस्मिन्नहनि अपरेद्युः । अधरास्मिन्नहनि अधरेद्युः । अन्यस्मिन्नहनि अन्येद्युः । अन्यतरास्मिन्नहनि अन्यतरेद्युः । इतरास्मिन्नहनि इतरेद्युः । एते सद्यःपरुदादिना निपातिताः । तत्र पूर्वादिशब्देभ्य एद्युसप्रत्ययः ॥

उभयद्युश्चोभयेद्युः

उभयस्मिन्नहनि उभयद्युद्वयम् । 'द्युश्चोभयाद् वक्तव्यः' (वा० ५. ३. २२) इति द्युः । उभयद्युः । सद्यःपरुदादिसूत्रेणैव उभयेद्युर्निपातितः । उभयशब्दादेद्युम् निपात्यते ॥

परे त्वहि परेद्यवि ॥ २१ ॥

परस्मिन्नहनि परेद्यवि ॥

ह्योऽतीते

गतेऽहि ह्यशब्दः ॥

अनागतेऽहि श्वः

अनागते भविष्यत्यहि श्वः । तालव्यशः ॥

परश्वश्च परेऽहनि ।

अनन्तरागामिदिवसात् परस्मिन्नहनि परसू इति ख्याते परश्वः । अतिक्रान्ते तु परतरे दिने परश्वो जात इति गौणः प्रयोगः ॥

तदा तदानीं

तस्मिन् काले तदाद्वयम् । 'सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा' (५. ३. १५) इति दा । तदा ॥

युगपदेकदा

तुल्यकाले युगपदादिद्वयम् । युगपच्छब्दो निर्वकारः, किन्तु पकारवान् ॥

सर्वदा सदा ॥ २२ ॥

सर्वकाले सर्वदाद्वयम् । 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि' (९. ३. ६) इति सभावविकल्पः ॥

एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा ।

एतर्ह्यादिपञ्चकम् एतस्मिन् काले ॥

दिग्देशकाले पूर्वादौ प्रागुदक्प्रत्यगादयः ॥ २३ ॥

पूर्वादिषु दिग्देशकालेषु प्राक्त्रयम् । यथा—पूर्वे प्राक् । उत्तरे उदक् । पश्चिमे प्रत्यक् । आदिना अपागवागादयः । प्राच्युदीचीप्रतीच्यवार्चीशब्देभ्यः 'पञ्चमीसप्तमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५. ३. २७) इति अस्ताति-प्रत्ययः । तस्य 'अञ्चेलुक्' (९. ३. ३०) इति लुक् । 'लुक् तद्धितलुकि' (१. २. ४९) इति ङीपो लुक् । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१. १. ३८) इत्यव्ययत्वम् ॥

इत्यव्ययवर्गः ।

अथ लिङ्गादिसंग्रहवर्गः ।

सलिङ्गशास्त्रैः सन्नादिकृत्तद्धितसमासजैः ।

अनुक्तैः संग्रहे लिङ्गं संकीर्णवदिहोन्नयेत् ॥ १ ॥

सलिङ्गशास्त्रैरित्यादि । सलिङ्गशास्त्रैः लिङ्गलक्षणसहितैरित्यर्थः । लिङ्गलक्षणं च 'स्त्रियामीदूद्विरामैकाजि'ति वक्ष्यति । जकारस्य प्रत्येकमभि-संबन्धः । सन्नादिजैश्चिकीर्षादिभिः । कृज्जसंगृहीतस्यापि गोवलीवर्दन्यायात् पृथगुपादानम् । यतः सन्नन्ताद् 'अ प्रत्ययात्' (२. ३. १०२) इति अकारादिभिरेव कृद्विशिकीर्षादयः शब्दा निष्पाद्यन्ते । अनुक्तैः बाहुल्येन पूर्ववर्गेष्वभिहितैः । अयं वक्ष्यमाणः सङ्ग्रहः । लिङ्गं संकीर्णवदिहोन्नयेत् । यथा संकीर्णवर्गे प्रकृतिप्रत्ययाद्यर्थैः लिङ्गोन्नयनं, तथात्रापि पूर्ववर्गानुक्तानां नाम्नां लिङ्गोन्नयनम् । तत्र 'अर्धर्चाः पुंसि च' (२. ४. ३१) इति वचनात् प्रकृत्यर्थेना-र्धर्चादीनां 'स्त्रियां क्तिन्' (३. ३. ९४) इत्यादेर्वचनात् प्रत्ययार्थेन क्तिन्नन्तादीनां मातृष्वसादीनामभिधेयद्वारेण क्रियाव्ययविशेषणानां न्यायतो वक्ष्यमाणादिति ॥

लिङ्गशेषविधिव्यापी विशेषैर्यद्यबाधितः ।

लिङ्गशेषविधिरित्यादि । पूर्वमनुक्तस्य लिङ्गस्यायं विधिरिति लिङ्गशेषविधिः । स च व्यत्मकस्तदा स्याद्, यदि प्रागुक्तैरिहोक्तैश्च विशेषैरबा-

धितो भवति । तथाहि — स्वर्गपर्याय इह पुंसि वक्ष्यते । तस्य 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियौ', 'क्लीवे त्रिविष्टपमि'त्यपवादः ॥

स्त्रियामीदृद्विरामैकाच् सयोनिप्राणिनाम च ॥ २ ॥

स्त्रियाम् । स्त्रियामित्ययमधिकारः पुंस्त्वविधेः प्राक् । ईद् ऊद् विरामौ अन्तौ यस्य तद् ईदृद्विरामं, तच्च तदेकाच् चेति ईदृद्विरामैकाच् नाम स्त्रियां स्यात् । यथा — श्रीः ह्रीः भीरित्यादयः । ऊकारान्तो यथा — (श्रूः ? सूः) भ्रूः । सयोनिप्राणिनाम च । योनिर्भगम् । तत्सहितानां प्राणिनां नामं स्त्रियां स्यात् । यथा — माता दुहिता याता ॥

नाम विद्युन्निशावीणावल्लीदिग्भूनदीहियाम् ।

नामेत्यादि । विद्युदादीनां यावद् नाम स्त्रियां स्यात् । विद्युत् तडित् । रात्रीनिशारजनीवीणाविपञ्च्यादीनां ङ्याबूङन्तमित्येव सिद्धे झटिति स्त्रीत्वाव-
गमार्थम् । अन्ये तु वाणीति पठन्ति वाग् गौः (धी ? गी) रित्याद्यर्थम् । द्विय एकाच्चात् त्रपादेश्चावन्तत्वात् सिद्धे स्त्रीत्वे स्पष्टार्थं वचनम् । शेषं तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगत इति वचनाद् व्रीडा द्वयोः । तथाच कालिदासः — 'व्रीडाद-
मुं देवमुदीक्ष्य मन्ये' (कुमा० स० ७. श्लो० ६७) इति । केषाञ्चिद् धिया-
मिति पाठः । तेन चित्संविदादीनां स्त्रीत्वमुक्तं स्यात् ॥

अदन्तैर्द्विगुरेकार्थः

अदन्तैर्द्विगुरेकार्थः अकारान्तैः पूलादिभिः सह यो द्विगुसमासः सः, एकार्थः, एकोऽर्थोऽस्येत्येकार्थः, समाहारद्विगुरित्यर्थः । स स्त्रियाम् । पञ्चपूली त्रिलोकी ॥

न स पात्रयुगादिभिः ॥ ३ ॥

स द्विगुरेकार्थः पात्रयुगादिभिरदन्तैः कृतो न स्त्रियाम् । द्विपात्रं चतुर्यु-
गमित्यादि, । तद्विधितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२. १. ५१) इति समासः ॥

तल् बृन्दे येनिकट्यत्रा वैरमैथुनिकादिवुन् ।

स्त्रीभावादावनिक्तिण्णवुणक्क्यपोऽयुजडिञ्जिशाः ॥

उणादिषु निरूरीश्च ड्यावृडन्तं चलं स्थिरम् ।

तल् । एतदन्तं स्त्रियाम् । 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५. १. ११९) । धार्मिकता पटुता । वृन्दे येनिकथ्यत्राः समूहे ये आदयः प्रत्ययास्तदन्ताः स्त्रियां स्युः । 'पाशादिभ्यो यः' (४. २. ४९) । पाश्या । 'इनित्रकथ्यचश्च' (४. २. ५१) । यथाक्रमं खलिनी गोत्रा रथकथ्या । वैरमैथुनिकादिवुन् । वैरं विरोधः मैथुनिको विवाहः । अनयोरर्थयोर्यो वुः, तदन्तः स्त्रियाम् । 'द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः' (४. ३. १२५) इति वुन् । अश्वमहिषिका । अत्रिभरद्वाजिका । आदिना 'पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च' (५. ४. १) इत्यादेर्ग्रहणम् । द्वौ द्वौ पादौ, द्विपदिकादयः । 'स्त्रीभावादावनिक्तिण्वुणक्च्यपोऽयुजडिञ्जिशाः । स्त्रीत्वविशिष्टे भावे कारकेऽपि ये अनिप्रभृतयः प्रत्ययाः तदन्ताः स्त्रियां स्युः । 'आक्रोशे नञ्यनिः' (३. ३. ११२) । अकरणिरित्यादयः । 'स्त्रियां क्तिन्' (३. ३. ९४) । कृतिः स्तुतिः । 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' (३. ३. १०८) । प्रच्छर्दिकाविपादिकादयः । 'पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुच्' (३. ३. १११) । भवतः शायिकादयः । ण्वु इति ण्वुल् ण्वुचोरुभयोर्ग्रहणम् । 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (३. ३. ४१) । व्यावहासीत्यादयः । 'संज्ञायां समज—' (३. ३. ९९) इत्यादिना क्यप् । समज्येत्यादयः । स्त्रीभावादेरन्यत्र 'वदः सुपि क्यप् च' (३. १. १०६) इत्यादिना क्यप् । मृषोद्यम् । ब्रह्मभूयम् । स्त्रीभावेऽविधानाच्छिष्टप्रयोगादेव ब्रह्महत्यादौ स्त्रीत्वम् । 'अप्रत्ययात्' (३. ३. १०२) इत्यः । चिकीर्षादयः । 'प्यासश्चन्थो युच्' (३. ३. १०७) । कारणाहारणा । 'षिद्धिदादिभ्योऽङ्' (३. ३. १०४) । पचा मिदा । 'विमाषाख्यानपरिप्रश्नयोरिञ् च' (३. ३. ११०) । कां कारिमकार्षीः । इमां कारिमकार्षम् । 'ग्लाम्लाज्याहाभ्यो निः' (वा० ३. ३. ९५) । ग्लान्यादयः । नकारस्य चुत्वेन अद्वयवान् पाठः । 'कृजः श च' (३. ३. १००) । क्रिया । उणादिषु निरूरीश्च । औणादिका न्यादयः स्त्रियाम् । 'कृबीज्यात्वरिभ्यो निः' (उ० ४. ४९) । कर्ण्यादयः । कचिद् 'उणादिष्वनिरूरीश्चे'ति पाठः । 'अतिसृष्टृधर्म्यश्चमितरिभ्योऽनिः' (उ० २. १०२) । धमन्यादयः । 'कृषिचमि—' (उ० १. ८४) इत्यादिना ऊः । कर्षूः चमूः । 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३. १५९) । अवीः तरीः स्तरीः तन्त्रीः । ड्यावृडन्तं चलं स्थिरम् । ड्याद्यन्तं जङ्गमवाचि स्थावरवाचि च स्त्रियाम् ।

जङ्गमं — कदली कन्दली च । अनयोर्मृगजातिमात्रवाचित्वात् 'सयोनिप्राणिनाम चे'त्यनेन न सिध्यति । शिवाशब्दः सृगालीं सृगालं चाह । खरकुटीव खर-कुटी । मनुष्यः चञ्चव चञ्चामनुष्यः खरकुटी नापितशाला । चञ्चा तृणमयः पुरुषो यः क्षेत्ररक्षणाय क्रियते । 'ऊडुतः' (४. १. ६६) । ब्रह्मबन्धूः धवबन्धूः । एतौ निन्दायां कस्याञ्चिद् ब्राह्मणजातौ वर्तेते । स्थावरं ङ्याबूङन्तं यथा — ताडी केतकी खट्टा माला अलाबूः । चलस्थिरग्रहणम् अ(टा?पा)र्थम् । (अ?य)तो ङ्याबूङन्तं चलं स्थिरं च न व्यभिचरति ॥

तत् क्रीडायां प्रहरणं चेन्मौष्टा पाल्वा णदिक् ॥ ५ ॥

तत् क्रीडायां प्रहरणं चेद् मौष्टा पाल्वा णदिक् । तन्मुष्टादिकं यदि क्रीडायां प्रहरणं, तदा तस्मिन्नर्थे विहितस्य णस्य इयं दिग् उदाहरणोद्देशः — मौष्टा पाल्वेति । 'तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः' (४. २. ५७) । मुष्टिः प्रहरणमस्याम् इति मौष्टा क्रीडा । एवं पाल्वा । दिग्ग्रहणं दाण्डाद्यर्थम् ॥

घञो जः सा क्रियास्यां चेद् दाण्डपाता हि फाल्गुनी ।

श्येनम्पाता च मृगया तैलम्पाता स्वधेति दिक् ॥ ६ ॥

घञो ज इत्यादिः श्लोकः । घञ इति घञन्तात् सा घञ्वाच्या क्रिया अस्यां फाल्गुनिकादिकायामित्यत्रार्थे यो जो विहितः स स्त्रियाम् । तस्य च अस्य दाण्डपाता फाल्गुनीत्यादि दिक् उदाहरणोद्देशः । दण्डपातोऽस्यां फाल्गुन्यामिति दाण्डपाता फाल्गुनी । 'घञः सास्यां क्रियेति जः' (४. २. ५८) । फाल्गुनपौर्णमास्यां हि कापि देशे राजदण्डः पतति । श्येनपातोऽस्यामिति श्येनम्पाता मृगया । तिलपातोऽस्यामिति तैलम्पाता स्वधा । 'श्येनतिलस्य पाते जे' (६. ३. ७१) इति मुम् । इतिशब्दः प्रकारार्थः । तेन मुसलपातोऽस्यामिति मौसलपाता भूरित्यादि च ॥

स्त्री स्यात् काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि ।

स्त्री स्यादित्यादि । अपचितस्वभावा स्त्री । निदर्शनान्तरेण यदा अप-चयविवक्षा (प्रो? प्रयो) कुतस्तदा काचिद् मृणाल्यादिः स्त्रीलिङ्गा स्यात् । काचिदेति किम् । अल्पो वृक्षो वृक्षकः ॥

१. 'चारि ॥' अ. पाठः. २. 'अ' ग. अ. पाठः. ३. 'नादिकाया' क. ठ., 'निकाया' छ. पाठः.

पाणिन्यादिभिरनुशिष्टलिङ्गमभिधाय तदवशिष्टानि कानिचिन्नामानि कान्तकमेणाह —

लङ्का शेफालिका टीका धातकी पञ्जिकाडकी ॥ ७ ॥

लङ्केत्यादि । तत्र लङ्कादीनां 'ङ्याभूङन्तमि'ति सिद्धे पुनः पाठो नामार्थः । नेगरीशाखयोर्लङ्का । शेफालिका सेफालीति ख्याता । अस्यास्तु लिङ्गप्रपञ्चार्थः पाठः । टीकधातोरच् । टीका सकलपदव्याख्यात्री । धातकी धातु-पुष्पिका । पञ्जिका विषमपदभञ्जिका आयव्ययार्था च । आडकी तुवरिका ॥

सिध्रका शारिका हिक्का प्राचिकोल्का पिपीलिका ।

तिन्दुकी कणिका भङ्गिः सुरङ्गासूचिमाढयः ॥ ८ ॥

सिद्धाख्यस्तरुः सिध्रका, दन्त्यादिः । पक्षिविशेषः शारिका, तालव्यादिः । हेङ्कीटीति ख्याता हिक्का । प्राचिका वनमक्षिका । उल्का शुका इत्येव ख्याता । पिपीलिका पिपिडीति ख्याता । तिन्दुकी काकेन्दुवृक्षः । कणिका परमाणुः ब्रीहिश्च । भङ्गिः गात्रभङ्गिः । भङ्गिः प्रकार इत्यन्यः । सुरङ्गा विवरभेदः । सूचिः दन्त्यसा स्वनामप्रसिद्धा । माढिः पञ्चशिरा । 'माढिः पञ्चशिरे'ति रत्नकोषः । अनुच्छेलितत्वं वस्त्रार्तं च माढिः(?) ॥

पिच्छावितण्डाकाकिण्यदचूर्णिः शाणी दृणी दरत् ।

सातिः कन्था तथासन्दी नाभी राजसभापिच ॥ ९ ॥

पिच्छा भक्तमण्डः शाल्मलनिर्योसश्च । अनङ्गीकृतसिद्धान्तो वादो वितण्डा ।

“काकिणी मानदण्डस्य तुरीयांशे *प(ल ? ण)स्य च”

इति टवर्गान्ते धरणिः ।

†“पणोनमानदण्डानां तुरीयांशे च काकिनी”

१. 'क' ड. छ. पाठः. २. 'च' ठ, 'च्छा' घ. ट. पाठः. ३. 'सू' घ. पाठः. ४. 'न्त' ठ. पाठः. ५. 'धि' ट., 'डि' ठ. पाठः. ६. 'फ' ग. ड. च. छ. पाठः. ७. 'कनिः' ग. ज. पाठः.

* 'काकिनी पद्मापादेऽपि भानपादे' इति मेदिनी । † 'पणोदमानगण्डागाम् इति सः' इति भातुजिदीक्षितः ।

इति तवर्गान्ते रभसः । अशेषप्रतिपक्षचूर्णनाच्चूर्णिः महाभाष्यम् । प्रचुरकपर्दिका च चूर्णा । डीषि चूर्णी च । 'शण श्रण दाने' । तालव्यादिः । पचादिः । 'तस्य विकारः' (४. ३. १३४) इत्यणि शाणीति वर्णदेशना । द्रुणी कच्छपी वृश्चिकी च । दस्त क्रुद्धराणिः प्रपातश्च । सातिः तीव्रवेदना दानावसा(नौ ? ने) च । 'ऊतियूतिजूति—' (३. ३. ९७) इत्यादिना निपातिता । कन्था कन्थेडिका । आसन्दी स्वल्पखट्वा वेत्रासनं च । 'आतपः क्षत्रिये नाभिरि'ति परतः पुंस्त्वेऽपि वक्ष्यति । किरांते तु नाभिशब्दः पुमानुक्तः—

“समुच्छ्वसत्पङ्कजकोषकोमलैरुपाहितश्रीण्युपनीवि नाभिभिः” (स०८. श्लो०२४)

इति । लिङ्गशास्त्रकृतां स्त्रियामेव नाभिरिति सम्मतम् । तथाच चन्द्रगोमी—

“ईदूदन्ता य एकाच इदन्ताङ्गानि देहिनः”

इति । राज्ञां सभा कुटी राजसभा । अपिचेति निपातसमुदायः समुच्चये । तेन भम्भादीनां ग्रहणम् ॥

झल्लरी चर्चरी पारी होरा लट्वा च सिध्मला ।

लाक्षा लिक्षा च गण्डूषा गृध्रसी चमसी मसी ॥ १० ॥

“झणरी झल्लरी च द्वौ हुडुके वालचकके”

इति रभसः । सदेवार्चनं गीतनृत्यं चर्चरी । पारी घटी । 'होरेति लग्नं भवनस्य चार्धमि'ति वराहमिहिरः । भवनं च तत्र राशिः परिभाषितः । लट्ठिघातोः विह्ववत् कन् । लट्वा ग्रामचटकः कैरञ्जबीजमध्यं च । सिध्मला सिध्म इति ख्यातः, यत्र (वज्रलवचाराणां ?) प्रीतिः । किलासीति च । लाक्षा जतु । लिक्षा केशकृमिः । गण्डूषा जलादिना मुखपूरणम् । एतदपि लिङ्गानुशासनकृत एवामनन्ति । 'गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषम्'

१. 'ने।प' ठ. पाठः. २. 'न्यधिका' ड. छ, 'न्यधिका' ज. पाठः. ३. 'कः । लि'. ४. 'ति । स्त्रियामेवेति लिङ्गशास्त्रकृतः । रा', ५. 'च राशिः । ल' ठ. पाठः. ६. 'कञ्जस्रज' च. पाठः. ७. 'द्य' क. ख. पाठः. ८. 'धम कि' झ. पाठः.

इत्यादिप्रयोगस्तु काव्यसमयतो ह्यनान्नातमपि लिङ्गं प्रयुज्यत इत्येतत्परः ।
बोपालितस्तु काव्यप्रयोगानुग्रहार्थं गण्डूवा कैपि सुखपूर्तिरित्युक्तवान् । गृ-
ध्रसी दन्त्यसा कटिरोगः । चमसी दन्त्यसा मुद्गादिपिष्टके । मसी लिपिप्रयोजना
प्रसिद्धैव । 'स्त्रीपुंसयोर्मेषी'ति व्याडिराह ॥

इति स्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

पुंस्त्वे सभेदानुचराः सपर्यायाः सुरासुराः ।

स्वर्गयागाद्रिमेघाब्धिदृकालासिशरारयः ॥ ११ ॥

पुंस्त्वे, अधिकारोऽयं प्राङ् नपुंसकाविधेः । सभेदानुचराः सपर्यायाः सुरा-
सुराः । स्वरूपप्राधान्येऽप्यर्थबहुत्वाद् बहुवचनम् । सुरशब्दोऽनुरशब्दश्च
पर्यायसहितो विशेषवाचिना अनुचरवाचिना च सहितः पुंस्त्वे स्यात् ।
तद् यथा — मरुतो द्युषदो लेखा इत्यादि । विशेषबाधितत्वाद् दैवतानि देव-
ताश्चेत्यादि । तद्भेदा आदित्यविश्वादयः । तदनुचराः हाहा हूहूरित्यादयः ।
एवमसुरा अपि । स्वर्गेत्यादि । स्वर्गादय ऊनविंशतिर्यथासंभवं सभेदाः सप-
र्यायाश्च पुंस्त्वे । स्वर्गो नाक इत्यादि । विशेषबाधितत्वाद् द्यौशब्दादीनां
स्त्रीत्वाद्युन्नेयम् । यागः क्रतुः तद्विशेषः कुण्डपाय्यादिः । अद्रिः शैलः ।
मेघो जलदः । अर्ब्धिः समुद्रः । लवणोदादयो भेदाः । द्रुवृक्षः । कालः समयः ।
मासादयो भेदाः । असिः खड्गः । चन्द्रहासादयो भेदाः । शरो बाणः ।
भल्लादयो भेदाः । अरिः शत्रुः ॥

करगण्डौष्ठदोर्दन्तकण्ठकेशनखस्तनाः ।

अह्वाहान्ताः क्ष्वेडभेदा रात्रान्ताः प्रागसंख्यकाः ॥ १२ ॥

करो राजग्राह्यार्थः रश्मिवाणी च । गण्डः कपोलः । ओष्ठोऽधरः ।
दोर्बाहुः । दन्तो द्विजः । कण्ठो गलः । केशः कचः । नखः करजः । स्तनः
कुचः । अह्वाहान्ताः एतदन्ताः पुंस्त्वे स्युः । पूर्वाहः सायाहः मध्याहः । उत्त-
राहः द्व्यहः त्र्यहः । क्ष्वेडभेदाः । क्ष्वेलो विषम् । तद्विशेषाः पुंस्त्वे । सौरा-
ष्ट्रिकः शौलिकेयः । रात्रान्ताः प्रागसंख्यकाः । रात्रशब्दोऽयम् 'अहः-

सर्व —' (५. ४. ८७) इत्यादिना समासान्ताच्छप्रत्ययान्तः । एतदन्ताः पुंस्त्वे, यदि संख्यापूर्वपदा न स्युः । पूर्वरात्रः अर्धरात्रः । प्रागसंख्यका इति किम् । पञ्चरात्रम् ॥

श्रीवेष्टाद्याश्च निर्यासा असन्नन्ता अवाधिताः ।

कशेरुजतुवस्तूनि हित्वा तुरुविरामकाः ॥ १३ ॥

श्रीवेष्टाद्याश्च निर्यासाः श्रीविष्टप्रभृतयस्तरुद्रवाः पुंस्त्वे स्युः । आदिना श्रीवासाः सर्जरसाः । असन्नन्ता अवाधिताः । असन्नन्ताश्च पुंसि स्युः । अङ्गिराः पुरोधः । अन्नन्तो यथा — प्रतिदिवा दिवसः । अवाधिता इति किम् । सुमनसोऽप्सरसः ललाम । विशेषैर्यद्यवाधित इत्युक्तत्वात् पुनरवाधिता इति पाठस्तत्स्मरणार्थः । कशेरुजतुवस्तूनि हित्वा तुरुविरामकाः । तुकारुकारान्ताः कशेरुत्रिकवर्जिताः पुंसि स्युः । केतुः सेतुः चरुतित्यादिः । कशेरु प्रसिद्धं तालव्यवत् । जतु लाक्षा । वस्तु पदार्थः । उपलक्षणत्वादेतेषां दारुप्रभृतान्यपि हित्वा ॥

कषणभर्मरोपान्ता यद्यदन्ता अमी अथ ।

पथनयसटोपान्ता गोत्राख्याश्चरणाह्वयाः ॥ १४ ॥

कषणभर्मरोपान्ताः यद्यदन्ता अमी । कादिवर्णषट्कोपान्ताः पुंसि स्युः । अदन्ताश्चेत् । कुहकः पुलकः । कल्माषः अम्बरीषः । पाषाणः पणः । कौस्तुभः गर्दभः । व्यार्मः ग्रामैः । प्राग्भारः मसारः । अयं च दन्त्यवान् स्फटिकवार्ची च । तथाच कप्फिणाभ्युदये—

“प्रभारसप्रक्रमसारसालां मसारसालां दधती धिनोति ।

आक्रीडभूरच्छिदुरा परागे दुरापरागेऽपि रतिं दधाना ॥”

इति । अथ पथनयनसटोपान्ताः । अथादित्वाददन्ता इति नाभिसंबध्यते । पादिवर्णषट्कोपान्ताः पुंसि स्युः । सूपः पूषः । आवसथः निशीथः । इनः फेनः । कुलायः हयः । वेतसः पनसः । कटः कुटः । गोत्राख्या वंशसंज्ञाः पुंस्त्वे स्युः । कुत्सः गौतमः । चरणाह्वयाः वेदशाखासंज्ञाः पुंस्त्वे स्युः । कठः कलापः ॥

नामन्यकर्तरि भावे च घञजन्तङ्गघाथुचः ।

ल्युः कर्तरीमनिज् भावे को घोः किः प्रादितोऽन्यतः ॥

संज्ञायां कर्तृवर्जिते कारके भावे च ये घञादयस्तदन्ताः पुंसि स्युः ।
नामन्यकर्तरि घञ् यथा — प्रास्यति तमिति प्रासः कुन्तः । ‘अकर्तरि च
कारके संज्ञायाम्’ (३. ३. १९) इति घञ् । चकारादसंज्ञायां च । लाभो
लब्धः । दायो दत्तः । भावे घञ् यथा — पाकः त्यागः रागः । ‘भावे च’
(४. ४. १४४) इति घञ् । ‘एरच्’ (३. ३. ५६) । नयः जयः । ‘ऋदोरप्’
(३. ३. ५७) । करः हरः । ‘यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्’ (३. ३. ९०) ।
यज्ञः यत्नः । ‘नौ ण च’ (३. ३. ६०) । न्यादः । ‘पुंसि संज्ञायां घः —’
(३. ३. ११८) । प्रच्छदः । ‘द्वितोऽथुच्’ (३. ३. ८९) । श्वयथुः । ल्युः
कर्तरि । नन्धादिल्युप्रत्ययान्ताः पुंस्त्वे स्युः । ‘नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्य-
चः’ (३. १. १३४) । सङ्कर्षणो मधुसूदनः । इमनिज् भावे कः । एतौ भावे
पुंस्त्वे भवतः । ‘पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा’ (५. १. १२२) । प्रथिमा महिमा ।
‘घञर्थे कविधानं कर्तव्यम्’ (वा० ३. ३. ५८) इति कः । प्रस्थः विघ्नः ।
‘सुपि स्थः’ (३. २. ४) इत्यत्र योगविभागाद् भावे कः । आखूथः शलभो-
त्थः । एतयोश्च मतान्तरेण क्लीबत्वमपि शिष्टप्रयोगतः । तथाच शब्दा-
र्णवः —

“आखूथशलभोत्थादितत्तदुत्थानमद्वयोः”

इति । अतोऽनपुंसकपाठो वृत्तौ प्रमादज इति रक्षितोक्तं युक्तमेव । घोः किः
प्रादितोऽन्यतः । घुशब्देन दाबुद्वैवर्जितदाघाग्रहणम् । ततः प्रादिपरात् तद-
न्यपराच्च यः किप्रत्ययः तदन्तः पुंसि । ‘उपसर्गे घोः किः’ (३. ३. ९२) ।
आदिः आधिः । ‘कर्मण्यधिकरणे च’ (३. ३. ९३) इति किः । बालधिः
शेवधिः ॥

द्वन्द्वेऽश्वबडवाश्वबडवा न समाहृते ।

कान्तः सूर्येन्दुपर्यायपूर्वोऽयः पूर्वकोऽपि च ॥ १६ ॥

द्वन्द्वे समासे अश्वबडवशब्दस्य पुंस्त्वम् । तद् यथा — अश्वबडवौ ।
[नरश्वबडवा इति बहुवचननिर्देशः ‘पूर्ववदश्वबडवौ’ (२. ४. २७) इत्यस्मिन्

सूत्रे द्विवचनस्यातन्त्रत्वाद् बहुवचनान्तत्वेऽपि पुंस्त्वदर्शनार्थः । न समाहृते न समाहारे इत्यर्थः । तत्र तु अश्ववडवामिति नपुंसकत्वमेव । 'विभाषा वृक्षमृ-
ग —' (२. ४. १२) इत्यादिना इतरेतरयोगे समाहारे च समासः ।
'कान्तः सूर्येन्दुपर्यायपूर्वोऽयःपूर्वकोऽपि च' । कान्तशब्दः सूर्येन्दुपर्यायपूर्व-
अयःशब्दपूर्वश्च पुंस्त्वे स्यात् । सूर्यकान्तः अर्ककान्तः चन्द्रकान्तः इन्दुकान्तः
अयस्कान्तः ॥

वटकश्चानुवाकश्च रल्लकश्च कुडङ्गकः ।

पुङ्खो न्यूङ्खः समुद्रश्च विटपट्टधटाः खटः ॥ १७ ॥

लक्षणेऽनुक्तांश्च स्पष्टार्थं कान्तक्रमेणाह । वटकः पिष्टकभेदः । अनुवाक-
वेदभेदः । रल्लकः कम्बलविशेषो मृगभेदश्च । कुडङ्गकः छदिः, चल इ-
त्यातः । 'कुडङ्को ना छदिः पिटमि'ति वोपालितः । पुङ्खः काण्डस्य मूलम्
उत्खणखेत्यादौ इगुपधलक्षणः कः । पृषोदरादित्वाद् धातोः पुडागमो नुगा-
मश्च । पुङ्खः । पृषोदरादित्वादेवोपधादीर्घनुमागमौ । एवं न्यूङ्खो दीर्घोपधः
सामवेदनिरन्तराः षडोङ्कारा न्यूङ्खः । समुद्रः संपुटकः परुकादिः । विटो न-
गरः । पट्टः पेषणशिला, आधानादि च । धटः तुला । खटः करस्य प्रह-
विशेषः । श्लेष्मान्धकूपयोश्च खटः ॥

कोट्टारघट्टहट्टाश्च पिण्डगोण्डपिचण्डवत् ।

गडुः करण्डो लगुडो वरण्डश्च किणो घुणः ॥ १८ ॥

कोट्टो दुर्गपुरम् । अरघट्टः कूपभेदः । कोट्टारः समस्त इति कस्यचिन्म-
तम् ।

'कोट्टारो नागरे कूपे पुष्करिण्याश्च पाटके'

इति रमसः । घट्टः शुल्कः । हट्टः क्रयविक्रयस्थानम् ।

"सिल्ले गन्धरसे सान्दे देहा(का?गा)रैकदेशयोः ।

(वे?बो)ले गोले च पिण्डः स्यात्" ॥

“गोण्डः पामरजातौ च वृद्धनाभौ च सम्मतः” ।

‘पिचण्डौ पक्षपञ्चङ्ग’

इति रुद्रः । पिचण्डवत् कोट्टादयोऽपि पुंसीति वक्तव्यः । ‘कुञ्जे पृष्ठगडे गडु-
रि’ति रुद्रः । करण्डो वंशादिरचितो भाण्डभेदः । लगुडो लोहमयः प्रहरण-
विशेषः । ‘वरण्डो यौवने गण्डे स्यादिति विश्वप्रकाशः । पत्रादिमूलके व-
रण्डः । किणो व्रणाह्वयः । घुणः काष्ठकीटः ॥

दृतिसीमन्तहरितो रोमन्थोद्गीथबुद्धदाः ।

कासमर्दोऽर्दतिः कुन्दः फेनस्तूपौ सपूपकौ ॥ १९ ॥

दृतिः चर्मपुटकः । सीमन्तः केशविन्यासः । हरिद् वर्णविशेषः । त-
द्वृति ते त्रिषु । रोमन्थः पागुल इति ख्यातः । उद्गीथः प्रणवः सामवेदध्वनि-
श्चेत्यरुणदत्तः । बुद्धदो जलादिविकारः । कासमर्दो वृक्षभेदो गुल्मभेदश्च ।
अर्दतिः अग्निः । याचनेत्यन्यः । कुन्दः कुन्दकारशिल्पिनः शिल्पोपकरणम् ।
माध्यं कुन्दम् । बाधितत्वान्मतान्तरेण तत्रापि पुंस्त्वम् । फेनो जलपरिणामः ।
स्तूपो मृदादिकृतोन्नतप्रदेशः । पूपः पिष्टकः ॥

आतपुः क्षत्रिये नाभिः कणयक्षुरकेदराः ।

पूरखुरप्रचुक्राश्च गोलहिङ्गुलपुद्गलाः ॥ २० ॥

आतपः सूर्यलोकः । क्षत्रिये वर्तमानो नाभिः पुमान् । प्राण्यङ्गवाची
स्त्रीप्रकरणेऽभिहितः । कणयैः शरभेदेन इत्यन्यः । क्षुरो लोमशातनः ।

“स्थितं सवाप्यं त्वयि चक्षुरस्य समं पृष्ठका मयि च क्षुरस्य”

इति कीचकवधयमकम् । केदरः संव्यवहारपदार्थ इत्यन्यः । तरुभेद इत्यपरः ।
पूरो नदीकूलद्वयपूरणम् । खुरप्रो बाणभेदः । ‘दशाननक्षिप्तखुरप्रत्तण्डित’
इति राजशेखरः ।

“भजेथाः पश्चान्मां वरतनु ! पुरस्तान्मृगखुर-

क्षुरप्रव्यालेख्यस्थपुटितविभागा वनभुवः”

१. ‘कु’ क. ख. ट. पाठः. २. ‘प.’ घ. ङ. च. छ. ज. पाठः. ३. ‘द इ’
क. ख. ग. ङ. च. छ. ज. ट. पाठः. ४. ‘मा’ ग. घ. ङ. छ. ज. ट. ङ.
‘वद’ ख. पाठः.

इत्यन्यः । चुक्रः सन्धानकृतोऽत्यम्लश्चुक इति ख्यातः ।

“जारजे विधवापुत्रे गोलको मणिके गुले”

इति रभसः । हिङ्गुलो रागद्रव्यम् । ‘देहेऽध्यात्मनि पुद्गलः’ इति रुद्रः ॥

वेतालभल्लमल्लाश्च पुरोडाशोऽपि पट्टिसः ।

कुल्मासो रभसश्चैव सकटाहः पतद्ग्रहः ॥ २१ ॥

वेतालः सत्त्वविशेषः । भल्लः काण्डभेदः । मल्लो बाहुयोधः । पुरो-
डाशस्तालव्यश इति वर्णदेशनाकृतोक्तम् । स च यागोपयुक्तः पिष्टभेदः ।

“परशुः पट्टिसो रामः स एव च परश्वधः”

इति निगमाख्यमभिधानम् । अयं च दन्त्यसः । ‘असितोमरकुन्दमहापट्टिसम्’
(स० १३. श्लो० ४७) इत्यादिभट्टिभाषासमावेशोऽपि ।

“कुल्माशो यवके पुंसि काञ्जिके स्यान्नपुंसकम्”

इति मूर्धन्यान्ते रभसः । वोरबधान्यम् । माषमिश्रभक्तमित्यन्यः । प्रागस्य स-
कारो निरूपितः । रभसो वेगहर्षयोः ।

“उत्कण्ठसटवराटकरभसाः स्त्रीत्वे तु डाबन्ता”

इति त्रिकाण्डशेषः ।

“स्तूपे च पाकपात्रे च कटाहो महिषीशिशौ”

इति त्रिकाण्डशेषः । पतद्ग्रहः पतिगहेति ख्यातः ॥

इति पुल्लिङ्गप्रकरणम् ।

द्विहीनेऽन्यच्च खारण्यपर्णश्वभ्रहिमोदकम् ।

शीतोष्णमांसरुधिरमुखाक्षिद्रविणं बलम् ॥ २२ ॥

१. ‘श्वकविशेषः । पट्टसः परशुः स’, २. ‘द्वि’, ३. ‘योः । रभसा डाबन्ता-
पीति’ ठ. पाठः. ४. ‘कु’ क. घ. ह. च. छ. ज. ट. ठ. पाठः.

हलहेमशुल्बलोहं सुखदुःखशुभाशुभम् ।

जलपुष्पाणि लवणं व्यञ्जनाद्यनुलेपनम् ॥ २३ ॥

द्विहीन इत्यादिश्लोकद्वयम् । खादिषड्विंशतिवाचकं बाधरहितं नपुंसके । अन्यच्चेति बाधितादन्यत् । चकाराद् द्वारान्तिकाङ्गणरणादयः । स्वशब्देनेन्द्रिया-
काशयोर्ग्रहणम् । हृषीकं करणम् । अरण्यं वनम् । पर्णं पत्रम् । श्वश्रं छिद्रम् ।
हिमं तुहिनम् । उदकं जलम् । शीतं हिमम् । उष्णं तिग्मम् । मांसं पिशित-
म् । रुधिरं रक्तम् । मुखं आस्यम् । अक्षि चक्षुः । द्रविणं द्रव्यम् । बलं
शक्तिः सेना च । हलं लाङ्गलम् । हेम स्वर्णम् । शुल्बं ताम्रम् । लोहम् अयः ।
सुखं शर्म । दुःखं प्रसिद्धम् । शुभं शिवम् । अशुभं अकल्याणम् । जलपुष्पाणि
कमलोत्पलादीनि । लवणं सामुद्रम् । व्यञ्जनं तेमनम् । आदिना दधितक्रा-
दिविशेषग्रहणम् । अनुलेपनं समालम्बनम् ॥

कोट्याः शतादिसंख्यान्या वा लक्षा नियुतं च तत् ।

द्व्यचकमसिसुसन्नन्तं यदनान्तमकर्तरि ॥ २४ ॥

कोट्याः शतादिसंख्यान्या । कोट्या अन्या शतादिसंख्या क्लीबे ।
असन्तं यशः पयः । इसन्तं सर्पिः हविः । उसन्तं वपुः आयुः । अन्नन्तं
कर्म । यदनान्तमकर्तरि । कर्तुरन्यद् यद् अनप्रत्ययान्तं तत् क्लीबे । गमनं
दानम् । अकर्तरीति किम् । पवमानो दहनः ॥

त्रान्तं सलोपधं शिष्टं रात्रं प्राक्संख्ययान्वितम् ।

पात्राद्यदन्तैरेकार्थो द्विगुलक्ष्यानुसारतः ॥ २५ ॥

त्रान्तं सलोपधं शिष्टम् । लोपधसहितं त्रान्तं क्लीबे । त्रान्तं यथा —
कलत्रं गात्रम् । लोपधं यथा — तुमुलं लाङ्गूलम् । सोपधं चेति केषाञ्चिद्
बोधः । तदा यवसं विसमित्यादि । शिष्टम्, अबाधितमित्यर्थः । एतेन गलबलच-

१. 'लशब्देन शक्तिसेनयोर्ग्रहणम् । बलं स्थाम तेमनं बल सैन्यम् ।' क. ख. ग. घ.
ङ. च. छ. ज. ट. पाठः. ३. 'खदुःखं प्र' ठ. पाठः.

लादीनां न भवति । रात्रं प्राक्संख्ययान्वितम् । संख्यापूर्वपदं रात्रशब्दान्तं क्लीबे ।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रम् । पात्राद्यदन्तैरेकार्थो द्विगुलक्ष्यानुसारतः । पात्रादिभिरद-
न्तैर्यो द्विगुसमास एकार्थः स पात्रादेराकृतिगणत्वलक्ष्यानुसारतः शिष्टप्रयोगा-
नुसारतो द्विहीने । द्विरात्रं चतुर्युगम् । अन्यस्त्वाह — शिष्टमिदं त्वं वर्तमाना-
देव लक्ष्यानुसारतः इति पृथक् सूत्रम् । द्विगुरेकार्थ इत्यप्यनुवर्तते । एकार्थो
द्विगुः शिष्टः लक्ष्यानुसारेण द्विहीने स्यात् । सप्तकुमारि त्रिजगत् । लक्ष्यनुसारव-
चनात् कचिदप्रवृत्तिः । 'त्रिवली तरङ्गतरला' 'त्रिजगतीजीवा(न्तः)तुरेण-
क्षणा' ॥

द्वन्द्वैकत्वाव्ययीभावौ पथः संख्याव्ययात् परः ।

षष्ठ्याश्छाया बहूनां चेद् विच्छायं संहतौ सभा ॥

द्वन्द्वैकत्वाव्ययीभावौ । द्वन्द्वस्यैकत्वं द्वन्द्वैकत्वम् अव्ययीभावश्च नपुंसके
स्यात् । अश्वबलीवर्द धवखदिरपलाशम् । अव्ययीभावो यथा — अधिस्त्रि अ-
धिकुमारि । पथः संख्याव्ययात् परः । संख्याव्ययभ्यां परो यः कृतसमासान्त
पथशब्दः, क्लीबे । द्विपथं चतुष्पथम् । अव्ययपरो यथा — विपथम् उत्पथम्
षष्ठ्याश्छाया बहूनां चेद् । विच्छायम् । षष्ठ्यन्ताद् या छाया, क्लीबे सा यति
बहूनां सम्बन्धिनी । उदाहरणदिशमाह — वीनां पक्षिणां बहूनां छाया विच्छा-
यम् । अनया दिशा शलभच्छायम् । बहूनामिति किम् । एकस्य तरोः छाया
तरुच्छाया । संहतौ सभा । समूहार्था सभा षष्ठ्यन्तात् परा क्लीबे
दाससभम् ॥

शालार्थापि परा राजामनुष्यार्थादराजकात् ।

दासीसभं नृपसभं रक्षःसभमिमा दिशः ॥ २७ ॥

शालार्थापि परा राजामनुष्यार्थादराजकात् । राजवर्जिताद् राजपर्याया
अमनुष्यार्थाच्च षष्ठ्यन्तात् परा शालार्था गृहवाचिनी या सभा अपिशब्दात्
सहत्यर्था च, क्लीबे स्यात् । उभयोरुक्तयोरुदाहरणदिशमाह — दासीस-
नृपसभं रक्षःसभमिमा दिशः । दिग्ग्रहणाद् गोपालसभं मनुष्यसभम् ईश्वरस-
पिशाचसभम् ॥

उपज्ञोपक्रमान्तश्च तदादित्वप्रकाशने ।

कोपज्ञकोपक्रमादि कन्थोशीनरनामसु ॥ २८ ॥

उपज्ञोपक्रमान्तश्च तदादित्वप्रकाशने । कोपज्ञकोपक्रमादि । उपज्ञान्त उपक्रमान्तश्च षष्ठीसमासः तयोरेवोपज्ञोपक्रमयोः प्राथम्यप्रतिपादने गम्यमाने क्लीवे स्यात् । उदाहरणमाह — उपज्ञायते परिज्ञायत इत्युपज्ञ । 'आतश्चोप-सर्गे' (३. ३. १०६) इत्यङ् । कस्य ब्रह्मण उपज्ञा प्रथमज्ञेया कोपज्ञं प्रजा, तेनादौ सृष्टत्वात् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कस्य प्रजापतेरुपक्रमः कोपक्रमं प्रजा, प्रथमतस्तेन कृतेत्यर्थः । आदिना विप्रोपज्ञं प्रतिग्रहः । आद्योप-क्रमं दानम् । कन्थोशीनरनामसु । उशीनराख्यजनपदप्रतिबद्धग्रामाणां नामसु विषयभूतेषु षष्ठ्यन्तात् परा कन्था क्लीवे । सौपमीणां कन्था सौपमिक न्थम् आह्व(र)कन्थम् । उशीनरादन्यत्र दाक्षिकन्था वाहीकग्रामस्याख्या । नाम्नोऽन्यत्र वीरणानां कन्था वीरणकन्था । उशीनरेष्वपि नायं कन्थान्तः संज्ञा ॥

भावे नणकचिद्भ्योऽन्ये समूहे भावकर्मणोः ।

अदन्तप्रत्ययाः पुण्यसुदिनाभ्यां त्वहः परः ॥ २९ ॥

'भावे नणकचिद्भ्योऽन्ये समूहे भावकर्मणोः । अदन्तप्रत्ययाः' । नश्च णश्च कश्च चिच्च तेभ्योऽन्ये भावे ये अदन्ता धातुविहिताः प्रत्ययाः, समूहभावक-र्मसु अदन्तास्तद्धिताः, ते क्लीवे । तत्र धातुविहिता यथा — वस्तुयं चयं ब्रह्म-भूयं सारविणम् । नणकचिद्भ्योऽन्ये इति किम् । 'यजयाच—' (३. ३. ९०) इत्यादिना नङ् । प्रश्नः । 'नौ ण च' (३. ३. ६०) । न्यादः । 'सुपि स्थः' (३. २. ४) इति योगविभागात् कः । आखूथः । चकार इत्संज्ञको यस्य स चित् । यथा — 'एरच्' (३. ३. ९१) । चयः । 'द्वितोऽथुच्' (३. ३. ८९) । वेपथुः । समूहे अदन्तप्रत्यया यथा — चाषाणां समूहः चापम् । एवं मै-क्षम् । 'तस्य समूहः' (४. २. ३७) इत्यण् । भावेऽदन्तप्रत्यया यथा — 'तस्य भावस्त्वतलौ' (५. १. ११९) । गोत्वं शुक्लन्वम् । कर्मणि यथा — 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः—' (५. १. १२४) इति प्यङ् । ब्राह्मण्यं

राज्यम् । पुण्यसुदिनाभ्यां त्वहः परः । एताभ्यां परः कृतसमासान्तो योऽहश्शब्दः, क्लीबे । पुण्याहम् । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५. ४. ९०१) । सुदिनशब्दः प्रशस्तवाची ॥

क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेऽप्युक्त्यतोदके ।

चोचं पिञ्छं गृहस्थूणं तिरीटं मर्मयोजने ॥ ३० ॥

क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेऽपि । क्रियाणामव्ययानां च भेदकानि विशेषकानि क्लीबे भवन्ति । एकत्वेऽपि, एकवचनान्तानि च भवन्तीत्यर्थः । मन्दं पचति मृदु पचति । अव्ययविशेषणं यथा — रम्यं स्वः । इदानीं नामान्युक्तादन्यानि कानिचिदाह — उक्तं (मासःसाम)विशेषः । तोटकं रूपभेदो वृत्तभेदश्च । 'अथ तोटकमब्धिसकारकृतमि'तिच्छन्दःसूत्रम् । चोचं तालफलं कदलीफलादीनां त्वक् च । पिञ्छं मयूरशिखण्डम् । गृहस्य स्थूणा स्तम्भो गृहस्थूणम् । तिरीटं वेष्टनम् । शिरोभूषणमित्यन्यः । मर्म प्राणस्थानम् । योजनं चतुःक्रोशात्मकम् ॥

राजसूयं वाजपेयं गद्यपद्ये कृते कवेः ।

माणिक्यभाष्यसिन्दूरचीरचीवरपञ्जरम् ॥ ३१ ॥

राजसूयवाजपे(यौःये) यागविशेषौ । कवेः कृते ये गद्यपद्ये, क्लीबे ।

“अपादः पदसन्तानो गद्यं पद्यं चतुष्पदी” ।

कविकृतादन्यत्र गद्या वाग् गद्योऽयमर्थो गद्यं वचः । पद्यः पङ्क्तः पद्या धूलिः पद्यं रजः । माणिक्यं रत्नविशेषः । भाष्यलक्षणं तु

“सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥”

सिन्दूरं दन्त्यस सीमन्तप्रसाधकम् । चीरं जीर्णवस्त्रखण्डम् । कुचीरमित्यपि दृश्यते । चीवरं भिक्षूणां प्रावरणविशेषः । पञ्जरं कायास्थि पक्षिस्थापनकं च ॥

लोकायतं हरीतालं विदलं स्थालबाह्वम् ।

लोकायतं चार्वाकशास्त्रम् । हरीतालं धातुविशेषः । विदलं द्विधा कृतं
कलायादिकं वंशादिफालिश्च । स्थालं भोजनपात्रविशेषः । बाह्वं कुङ्कुमम् ॥

इति नपुंसकप्रकरणम् ।

पुन्नपुंसकयोः शेषोऽर्धचर्चपिण्याककण्टकाः ॥ ३२ ॥

पुन्नपुंसकयोः, अयमधिकारः । शेषः प्रकृत्येभ्यः स्त्रीपुन्नपुंसकेभ्यो यः
शेषः स पुन्नपुंसकयोः । स च विहारमण्डपादिः । अथवा शेषशब्द एव पुन्न-
पुंसकयोर्बोद्धव्यः । अर्धचर्चादिरेव वा शेषः । नामानि कानिचिदाह—ऋचोऽर्ध-
मर्धचर्चः । ‘ऋक्पूरुषधूःपथामानक्षे’ (१. ४. ७४) इत्यः ।

“पिण्याकोऽस्त्री तिलकल्के हिङ्गुबाह्विक(सिंह)के ।

रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च हुमाङ्के कण्टकोऽस्त्रियाम् ॥”

मोदकस्तण्डकस्तङ्कः शाटकः खर्वटोऽर्वुदः ।

पातकोद्योगचरकतमाला मालको नडः ॥ ३३ ॥

मोदको भक्षभेदः । तण्डकः श्लोकच्छन्दोभेदः । खल्लन इत्यन्यः । तङ्कः
प्रियविरहजस्तापः । शाटको वस्त्रभेदः । ग्रामशतमध्यस्थो ग्रामशतवास्तव्यज-
नोपजीव्यो ग्रामः खर्वटः ।

“अर्वुदो मांसपरु(षिः)दशकोटिषु न स्त्रियाम्” ।

पातको ब्रह्महत्यादिः । उद्योगोऽभियोग उद्यमश्च । चरकं चिकित्साशास्त्रम् ।
वरकं वा पाठः, स्यूतवस्त्रयुगाख्यम् । तथाच वृजो रूपम् । तमालो
वृक्षभेदो वंशत्वक् च । मालकः पर्वतभूमिक्षेत्रम् । नडः नड इति ख्यातः ॥

कुष्ठं मुण्डं शीथु बुस्तं क्ष्वेलितं क्षेमकुट्टिमम् ।

सङ्गमं शतमानार्मशम्बलाव्ययताण्डवम् ॥ ३४ ॥

कुष्ठं चन्द्रव्यं व्याधिभेदश्च । मुण्डो मस्तकः । मुण्डितवचनश्च
वाच्यलिङ्गः । शीथु मध्यम् । बुस्तं स्थालीभ्रष्टं मांसम् । पनसादिफलस्य सार-

भागस्य वोप्र इति ख्यातस्य । ध्वेलितं सिंहनादः । क्षेमं लब्धवार्थरक्षणम् ।
कुट्टिमं रथण्डिलम् । सङ्गमं सङ्गतिः । प्रस्थैश्चतुर्भिराढकः, स एव शतमानम् ।
अर्म अक्षिरोगः अन्धा इति ख्यातः । शम्बलं पाथेयम् । तालव्यादि दन्त्या-
दि च । अव्ययं चवाहहादिकम् । ताण्डवं नृतम् ॥

कवियं कर्म कर्पासि पारं वारो युगन्धर।

यूपं प्रग्रीवपात्रीवे यूपं चमसचिक्कसौ ॥ ३५ ॥

‘कवियं वा ना तुरङ्गमुखभाण्डमि’ति बोधालितः । कर्म व्याप्ये क्रि-
यायां च । कर्पासे कर्पासीफलम् । पारं नद्यादिपरतीरम् । वारः समूहो-
ऽवसरो राजादिद्वारं परिपाटिश्च । युगन्धरः कूबरः । पर्वतविशेष इत्यन्यः ।
यूपं यागे पशुवन्धनदारु । प्रग्रीवं मुखशालेति चाणक्यटीकाकृत् । मत्तवा-
रणाख्यं दार्वित्यरुणदत्तः । गृहादौ वीथ्याद्याकर्षणं प्रग्रीवमित्यन्यः । यज्ञो-
पकरणपात्रविशेषः पात्रीवम् । मुद्रादिविकारो यूपम् । चवर्गीयादिरव्ययमिति
वर्णदेशनाकृत् । चमसं सोमपानपात्रं दन्त्यसम् । चिक्कसो यवचूर्णम् ॥

अर्धर्चादिगणे घृतादीनां पृथक्तीरादयः पठ्यन्ते, चान्द्रलिङ्गानुशासने च तृणर-
णचरणादयः । ते च कथमिह नोक्ता इत्यत आह —

अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम् ।

तन्नोक्तमिह लोकेऽपि तच्चेदस्यस्तु शेषवत् ॥ ३६ ॥

अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं पुनपुंसकत्वमुक्तम् । तद् वैदिकं छान्दसं
ध्रुवं निश्चितम् । तत् तस्माद् इह लौकिके नामलिङ्गानुशासने अनुपयुक्तत्वा-
न्नोक्तम् । ननु चाल्यन्तविदुषोऽपि पुरुषस्याशेषलौकिक(प्र)योगपारगत्वासंभवात्
मन्दिग्रमेतत् । किमस्ति लोकानां प्रयोगो न वेत्याह — लोकेऽपि तच्चेदस्ति
घृतादीनां पुंस्त्वादि, (वि ?) शेषवद् । अनुक्तलिङ्गसङ्ग्रहार्थमिह वक्ष्यते — ‘शेषं
तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगतः’ इति । यथा ग्रन्थविस्तरभयादनुक्तमपीह शेषं शिष्टप्रयो-
गतो ज्ञेयं, तथा तदपि शिष्टप्रयोगतो ज्ञेयम् ॥

पुनपुंसकविशेषणम् ।

भागस्य वोप इति ख्यातस्य । क्ष्वेलितं सिंहनादः । क्षेमं लब्धवार्थरक्षणम् ।
कुट्टिमं स्थण्डिलम् । सङ्गमं सङ्गतिः । प्रस्थैश्चतुर्भिराढकः, स एव शतमानम् ।
अर्म अक्षिरोगः अन्धा इति ख्यातः । शम्बलं पाथेयम् । तालव्यादि दन्त्या-
दि च । अव्ययं चवाहहादिकम् । ताण्डवं नृतम् ॥

कवियं कर्म कर्पासि पारं वारो युगन्धरम् ।

यूपं प्रग्रीवपात्रीवे यूपं चमसचिकसौ ॥ ३५ ॥

‘कवियं वा ना तुरङ्गमुखभाण्डमि’ति वोपालितः । कर्म व्याप्ये क्रि-
यायां च । कर्पासे कर्पासीफलम् । पारं नद्यादिपरतीरम् । वारः समूहो-
ऽवसरो राजादिद्वारं परिपाटिश्च । युगन्धरः कूवरः । पर्वतविशेष इत्यन्यः ।
यूपं यागे पशुवन्धनदारु । प्रग्रीवं मुखशालेति चाणक्यटीकाकृत् । मत्तवा-
रणाख्यं दार्वित्यरुणदत्तः । गृहादौ वीथ्याद्याकर्षणं प्रग्रीवमित्यन्यः । यज्ञो-
पकरणपात्रविशेषः पात्रीवम् । मुद्गादिविकारो यूपम् । चवर्गीयादिरव्ययमिति
वर्णदेशनाकृत् । चमसं सोमपानपात्रं दन्त्यसम् । चिकसौ यवचूर्णम् ॥

अर्धर्चादिगणे घृतादीनां पृथक्चान्ते, चान्द्रलिङ्गानुशासने च तृणर-
णचरणादयः । ते च कथमिह नोक्ता इत्यत आह —

अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम् ।

तन्नोक्तमिह लोकेऽपि तच्चेदस्त्यस्तु शेषवत् ॥ ३६ ॥

अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं पुन्नपुंसकत्वमुक्तम् । तद् वैदिकं छान्दसं
ध्रुवं निश्चितम् । तत् तस्माद् इह लौकिके नामलिङ्गानुशासने अनुपयुक्तत्वा-
न्नोक्तम् । ननु चात्यन्तविदुषोऽपि पुरुषस्याशेषलौकिक(प्र)योगपारगत्वासंभवात्
सन्दिग्धमेतत् । किमस्ति लोकानां प्रयोगो न वेत्याह — लोकेऽपि तच्चेदस्ति
घृतादीनां पुंस्त्वादि, (वि?) शेषवद् । अनुक्तलिङ्गसङ्ग्रहार्थमिह वक्ष्यते — ‘शेषं
तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगतः’ इति । यथा ग्रन्थविस्तरभयादनुक्तमपीह शेषं शिष्टप्रयो-
गतो ज्ञेयः, तथा तदपि शिष्टप्रयोगतो ज्ञेयम् ॥

पुन्नपुंसकविशेषणम् ।

स्त्रीपुंसयोरपत्यान्ता द्विचतुःषट्पदोरगाः । जातिभेदाः

स्त्रीपुंसयोः, अधिकारोऽयम् । अपत्यान्ताः अपत्यप्रत्ययान्ताः सर्वे स्त्री-
पुंसयोः स्युः । 'तस्यापत्यम्' (४. १. २९) इत्यण् । औपगवः । 'टिड्ढा-
णञ् —' (४. १. १५) इत्यादिना ङीप् । औपगवी । गार्ग्यः गार्गी ।
द्विचतुःषट्पदोरगाः द्विपदचतुष्पदषट्पदवाचिनः उरगवाचिनश्च स्त्रीपुंसयोः ।
मानुषः मानुषी । सिंहः सिंही । द्विरेकः द्विरेकी । उरगः उरगीत्यादि ।
जातिभेदविशिष्टा एव जातिवाचिनः स्त्रीपुंसयोः । दृणी दृणः । मत्ती
मत्त्यः । पूर्वयोगोऽस्यैव प्रसङ्गः । केचिदेकयोगनामन्ति । तेषामन्यमर्थः —
द्विपदादयो जातिभेदविशिष्टा एव जातिवाचिनः स्त्रीपुंसयोः, न सर्वे । तथाहि —
पुरुषादयः पुंस्येव, स्त्रीप्रभृतयः स्त्रियामेवेप्यन्ते । द्विपदादिग्रहणं च जातिभेदो-
पलक्षणार्थम् । ते न द्विपदादिजातियोगेऽपि दृणमत्स्यादयः स्त्रीपुंसयोरिति ॥

पुमाख्याश्च स्त्रीयोगैः सह मल्लकः ॥ ३७ ॥

मुनिर्वराटकः स्वातिर्वर्णको जाटलिर्मनुः ।

मूषा सुपाटी कर्कन्धूर्याष्टेः शाटी कटिः कुटिः ॥ ३८ ॥

पुमाख्याश्च स्त्रीयोगैः सह मल्लकः ।

“मुनिर्वराटकः स्वातिर्वर्णको जाटलिर्मनुः ।

मूषा सुपाटी कर्कन्धूर्याष्टेः शाटी कटिः कुटिः ॥ ”

इति पाठः । तत्र पुमाख्याः स्त्रीयोगैः सहेति सूत्रभेदः । तस्यार्थः — पुमाख्याः
स्त्रीयोगैः सह स्त्रीपुंसयोः स्युः । यथा — प्रष्टोऽप्रगामी पुरुषविशेषः । स
यदा तात्स्थ्यात् स्त्रियां वर्तते तदा प्रष्टा स्त्री । 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४. १. ४८)
इति ङीप् । नामान्यनुक्तान्यह — मल्लको मल्लिका भाजनभेदः । मुनिरयं
मुनिरियं वा, तपस्वी । वराटको वराटिका कपर्दिः । स्वातिरयं स्वातिरियं, नक्ष-
त्रभेदः । वर्णको वर्णिका, नीलिकादिः । जाटलिरयं जाटलिरियं वृक्षभेदः ।
अयं मनुः प्रजापतिः इयं मनुस्तद्वार्येति चन्द्रलिङ्गवृत्तिः । मूषा मूषः स्वर्गादि-
विलयनमाण्डम् । सुपाटः सुपाटी परिमाणविशेषः । रुधिरधारेति तु गोवर्धनः ।

इयमयं वा कर्कन्धूः, बदरी । इयमयं वा यष्टिः, दण्डः । शाटी, शाटो वज्र-
भेदः । कट आसनविशेषः ओषधिविशेषश्च । कटिः श्रोणिः । अयं कुटिरियं
कुटिः, स्वल्पावासः । कुटी इति पाठः प्रथमाद्विवचनान्तः । 'जातिभेदा यष्टिमु-
ष्टिस्वातयः कीटवृश्चिकाः' इति पाठान्तरम् । ह्रस्वेकारोऽपि कीटशब्दोऽस्ति ॥

स्त्रीपुंसविवरणम् ।

स्त्रीनपुंसकयोर्भावक्रिययोः ष्यञ् कचिच्च वुञ् ।

औचित्यमौचिती मैत्र्यं मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतः ॥ ३९ ॥

स्त्रीनपुंसकयोः, अधिकारोऽयम् । भावक्रिययोः ष्यञ् कचिच्च । कचि-
दिति भावक्रिययोर्विशेषणमसाकल्यार्थम् । चकार एवार्थे । भावकर्मणो-
र्विहितः ष्यञ् स्त्रीनपुंसकयोः स्यात् । उदाहरणमग्रसूत्रे । वुञ् । कचिच्चेत्य-
नुवर्तते । कचिदेव भावकर्मणोर्विहितो वुञ् स्त्रीनपुंसकयोः स्यात् । पूर्वसूत्र-
स्योदाहरणमाह — उचितस्य भावः कर्म वा औचित्यम् औचिती । एवं मैत्र्यं
मैत्री । उदाहरणस्य दिङ्मान्नत्वाद् वैदग्ध्यं वैदग्धीत्यादि । वुञ् प्रागुदाहृत
इति । मनुष्यवर्गादुदाहृतम् । वार्धकं चौरिका । मनोज्ञादित्वौ वुञ् ॥

षष्ठ्यन्तप्राक्पदाः सेनाच्छायाशालासुरानिशाः ।

स्याद् वा नृसेनं श्वनिशं गोशालमितरं च दिक् ॥ ४० ॥

षष्ठ्यन्तेत्यादि । षष्ठ्यन्तपूर्वपदाः सेनादयोऽपुंसि स्त्रीक्लीबयोः स्युः ।
उदाहरणान्याह — वा नृसेनमित्यादिना । वावचनाद् नृसेना श्वनिशा गोशाला
यवसुरं यवसुरा । तरुच्छायं तरुच्छाया । दिगिति उदाहरणदिगियमित्यर्थः ।
अपराणि च पाण्डवसेनं पाण्डवसेनेत्यादीनि द्रष्टव्यानि ॥

आबन्ततोत्तरपदो द्विगुश्चापुंसि नश्च लुप् ।

त्रिखट्वं च त्रिखट्नी च त्रितक्षं च त्रितक्ष्यपि ॥ ४१ ॥

आबन्ततोत्तरपदो द्विगुश्चापुंसि नश्च लुप् । आबन्ततोत्तरपदोऽबन्तो-
त्तरपदश्च द्विगुरपुंसि स्यात् । नकारस्य चोत्तरपदसंबन्धिनो लुप् । दिगित्युदा-

लिङ्गादिसंग्रहवर्गः ५] टीकासर्वस्वाख्यव्याख्यासमेतम् ।

हरणदिक् । तामाह — त्रिखट्वमित्यादिना । तक्षन्शब्दस्यान्तत्वाद् नकार-
रलोपः ॥

स्त्रीनपुंसकविवरणम् ।

त्रिषु पात्री पुटी वाटी पेटी कुचलदाडिमौ ।

त्रिष्वित्यधिकारोऽयम् । नामान्याह । पात्रीषट्कं त्रिषु । पात्री पात्रं
पात्रः, भाजनविशेषः । पत्रादिरचिता पुटी । वेष्टितः स्थलभागो वाटी ।
पेटी वेत्रादिरचिता । कुचलो बदरीतरुः । स्त्रियां कुचली । दाडिमः प्रसिद्धः ।
स्त्रियां दाडिमी ॥

त्रिलिङ्गविवरणम् ।

परलिङ्गं स्वप्रधाने द्वन्द्वे तत्पुरुषेऽपि तत् ॥ ४२ ॥

इदानीमुच्चावचेन लिङ्गमाह — परलिङ्गं स्वप्रधाने द्वन्द्वे । द्वन्द्वसमासे
स्वप्रधाने उभयपदार्थप्रधाने, इतरेतरद्वन्द्व इत्यर्थः, परं परस्थस्य शब्दस्य
यलिङ्गं तत् स्यादित्यर्थः । उदाहरणं तु कुक्कुटमयूरौ मयूरीकुक्कुटौ ।
स्वप्रधान इति किम् । वाक्त्वचम् । श्रीस्रजम् । तत्पुरुषेऽपि तत् । तत् पर-
स्थलिङ्गं तत्पुरुषेऽपि समासे स्यात् । करकिसलयं भुजलता ॥

अर्थान्ताः प्राद्यलंप्राप्तापन्नपूर्वाः परोपगाः ।

तद्धितार्थे द्विगुः संख्यासर्वनामतदन्तकाः ॥ ४३ ॥

अर्थान्ताः प्राद्यलंप्राप्तापन्नपूर्वाः परोपगाः । अर्थान्ताः, प्राद्यलमादि-
शब्दाः पूर्वाः पूर्वपदभूताश्च यत्र तेऽपि समासाः परोपगाः परकीयलिङ्गोपगाः,
वाच्यलिङ्गा इत्यर्थः । अर्थान्ता यथा — विप्रार्थः सूपः । विप्रार्था यवागूः ।
विप्रार्थं पयः । प्रादिना प्रपरादयो गृह्यन्ते । अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः पुरुषः,
अतिखट्वा स्त्री, अतिखट्वं ब्राह्मणकुलमित्यादि । एवम् अलङ्गीविकः प्राप्तजी-
विकः आपन्नजीविकः । तद्धितार्थे द्विगुः । तद्धितार्थे यो द्विगुः सोऽपि पर-
कीयलिङ्गोपगः । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः । पञ्चकपाला
यवागूः । पञ्चकपालं हविः । संख्यासर्वनामतदन्तकाः । संख्याशब्दाः
सर्वनामानि तदन्तकाश्च अन्यलिङ्गाः स्युः । बहवो नराः बह्वयः स्त्रियः
बह्विनि ब्राह्मणकुलानि । विशत्यादौ बाध(मुन्नेयम् ? उन्नेयः) । सर्वनामानि

यथा — सर्वः सर्वा सर्वम् । विश्वः विश्वा विश्वम् । तदन्तका यथा — पर-
मसर्वः परमसर्वा परमसर्वम् ॥

बहुव्रीहिरदिङ्नाम्नाम्नेयं तदुदाहृतम् ।

गुणद्रव्यक्रियायोगोपाधिभिः परगामिनः ॥ ४४ ॥

बहुव्रीहिरदिङ्नाम्नाम् । दिग्वाचिव्यतिरिक्तानां बहुव्रीहिरन्यलिङ्गः ।
तस्योदाहरणं किमित्याह — उन्नेयं तदुदाहृतम् । तस्योदाहृतमुदाहरणमुन्ने-
यम् ऊहनीयम् । उपहृतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । प्राप्तोदकं नगरम् ।
अदिङ्नाम्नामिति किम् । उत्तरपूर्वा दिक् । गुणद्रव्यक्रियायोगोपाधिभिः परगा-
मिनः । गुणयोगेन द्रव्ययोगेन क्रियायोगेन उपोपाधिना विशेषणेन परगामिनः
धर्मिणि ये प्रवृत्ताः ते परोपगाः अन्यलिङ्गाः । गुणशब्दो यथा — शुक्लः
शुक्ला शुक्लम् । द्रव्यशब्दो यथा — दण्डी दण्डिनी दण्डि । क्रियाशब्दो
यथा — कृतः कृता कृतम् ॥

कृतः कर्तर्यसंज्ञायां कृत्याः कर्तरि कर्मणि ।

अणाद्यन्तास्तेन रक्ताद्यर्थे नानार्थभेदकाः ॥ ४५ ॥

कृतः कर्तर्यसंज्ञायाम् । कर्तरि वर्तमानाः कृतसंज्ञकप्रत्यया अन्यलिङ्गा
स्युः । पाचकः पाचिका पाचकम् । असंज्ञायामिति किम् । दूनोतीति दावः
वनाम्नेरियं संज्ञा । कृत्याः कर्तरि कर्मणि । कर्तरि कर्मणि च ये कृत्यप्रत्यया
तदन्ता अन्यलिङ्गाः स्युः । हव्यस्तरुः हव्या लता हव्यं फलम् । कर्मणि —
वाच्यः वाच्या वाच्यम् । अणाद्यन्तास्तेन रक्ताद्यर्थे नानार्थभेदकाः । ते
रक्ताद्यर्थे ये अणादयः प्रत्यया विहिताः तदन्ता नानार्थभेदकाः नानार्थविदं
षकाः सन्तः अन्यलिङ्गा भवन्ति । कुसुम्हेन रक्तः कौसुम्भः पटः । कौसुम्भा
शाटी । कौसुम्भं वस्त्रम् ॥

षट्संज्ञकास्त्रिषु समा युक्त्यन्तस्तिङ्प्रत्ययम् ।

परं विरोधे शेषं तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगतः ॥ ४६ ॥

षट्संज्ञकास्त्रिषु समाः । षकारनकारान्ताः संख्याः षट्संज्ञका इति
त्ययान्ताश्च । ते त्रिषु लिङ्गेषु समाः तुल्याः । षट् स्त्रियः षड् जनाः ॥

कुलानि । एवं पञ्च स्त्रियः पञ्च जनाः पञ्च कुलानि । कति स्त्रियः कति जनाः कति कुलानि । षट्संज्ञकस्यापि संख्यान्तर्गतत्वादेव त्रिलिङ्गत्वे लब्धे संख्या-
सर्वनामतदन्तका इत्यस्मैवायं प्रपञ्चः । युष्मदस्मत्तिङ्ययम् । युष्मदस्मदी
तिङन्तमव्ययं च त्रिषु लिङ्गेषु तुल्यरूपम् । यथा — त्वं प्रिया त्वं नाथः
त्वं मित्रम् । एवम् अहं प्रिया अहं नाथः अहं मित्रं च । तिङन्तं यथा —
अयं पचति इयं पचति इदं पचति । अव्ययं यथा — उच्चैर्गिरिः उच्चैः
शाला उच्चैर्गृहम् । पर विरोधे । लिङ्गलक्षणयोर्विरोधे सति परं लक्षणं
प्रवर्तते । यथा — मानुषो मानुषी भ्रमरो भ्रमरी इत्यत्र 'कषणभमरोपान्ता
यद्यदन्ता अमी' इति पुंस्त्वे प्राप्ते 'द्विचतुःषट्पदोरगा' इति स्त्रीपुलिङ्गाः ।
शेषं तु ज्ञेयं शिष्टप्रयोगतः । यदत्र ग्रन्थविस्तरभयाद् लिङ्गं नाम च नोक्तं
तत् शिष्टानां पूर्वाचार्याणां महाकवीनां च प्रयोगादवसेयम् । यथा —

“अ(न?)न्तेत्कृत्यन्तं गायत्र्याद्यं तथा छन्दः”

इति स्त्रीत्वानुशासनमरुगस्येत्यन्यद् बोद्धव्यम् । नामानुशासनं यथा —
'निलिम्पा द्युषदो देवा' इत्यादि गङ्गाधरादीनाम् ।

श्रीणि व्याकरणान्यधीत्य सकलं साहित्यमालोक्य च
प्राज्ञाध्यापकभाषितानि हृदये न्यस्याकृतेदं स हि ।
प्राज्ञेनानु सनातनेन बहुशः प्रत्यक्षरं शोधितं
जिज्ञासा यदि शब्दवर्त्मनि तदा चैतत् समालोक्यताम् ॥

इति वन्द्यघटीयश्रीसर्वानन्दकृतौ टीकासर्वस्वे लिङ्गादिसंग्रहवर्गः ।

समाप्तं च टीकासर्वस्वम् ।

शुभं भूयात् ।